श्रीमद्-[illegible]सूरि-ग्रन्थमाला-पुष्पक (७)

अध्यात्म अनुभव योग प्रकाश।

कर्ता—
परम योगीश्वर—
श्रीचिदानन्दजी महाराज।

मूल्य १॥) रुपया।

१। सुरसुन्दरी-चरिअं। कर्ता श्रीधनेश्वर मुनीश्वर। यह चार हजार गाथाओं में प्राकृत-भाषा का बड़ाही सुन्दर और मनोरञ्जक महाकाव्य है। शुरू में विस्तृत प्रस्तावना, जिसमें ग्रन्थकार तथा और और आचार्यों का ज्ञातव्य इतिहास दिया गया है। मूल्य साधारण संस्करण रू० २-८-० राज संस्करण ३-०-०।

२। सप्तसंधान-महाकाव्य। कर्ता महोपाध्याय श्रीमेघविजयजी गणि। संस्कृत-साहित्य भर में ऐसा महाकाव्य नहीं है। इसका प्रत्येक श्लोक सात महापुरुषों के जीवन वृत्तान्त से संबन्ध रखता है। बड़ाही आश्चर्योत्पादक ग्रन्थ है। बहुतही कम प्रतियाँ शिलिक में हैं। मूल्य १)।

३। शान्तिनाथचरित्रम्। कर्ता महोपाध्याय श्रीमेघविजयजी गणि यह ग्रन्थ सुविख्यात नैषध-महाकाव्य की पाद-पूर्त्तिरूप से लिखा गया है। और श्रीशान्तिनाथ भगवान् का चरित्र वर्णित किया गया है। वह भी संस्कृत साहित्य का एक अनमोल रत्न है। मूल्य १-०-०।

4 First Principles of Jaina Philosophy (Second Edition) A succint summary of Jaina Metaphysics and Lojic. Price 0-10-0

उपरोक्त पुस्तकों के मिलने का पता—

श्रीमद्-अभयदेव-सूरी ग्रन्थमाला,

बड़ा उपाश्रय, बीकानेर (पूराजताना)

ीमद्-अभयदेव-सूरि-ग्रन्थमाला-पुष्प (७)

अध्यात्म अनुभव योग प्रकाश।

कर्त्ता—

प्रातःस्मरणीय परमयोगीश्वर जैनधर्माचार्य

श्री१००८

श्रीचिदानन्दजी महाराज।

प्रथम संस्करण

वीर संवत २४४९ } मूल्य २॥) रुपये { विक्रम संवत १९७९

प्रकाशक—
कोठारी जमनालाल,
२०१, हरिसन रोड, कलकत्ता।

मुद्रक—
बाबू अमीचन्दजी गोलछा,
नरसिंह प्रेस,
२०१, हरिसन रोड, कलकत्ता।

उपोद्घात।

प्रायः सब कोई आस्तिक मनुष्य मोक्ष-प्राप्ति की अभिलाषा रखते हैं और यह निर्विवाद है कि मोक्ष-प्राप्ति का मुख्य साधन योगाभ्यास है। यही कारण है कि कई प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानोंने, इस विषय में, अपनी अपनी शक्ति और बुद्धि के अनुसार, कई ग्रन्थों का निर्माण किया है, जिनमें पातञ्जल-योग-दर्शन, हठ-प्रदीपिका, गोरक्ष-पद्धति, गोरक्ष-सिद्धान्त आदि प्रसिद्ध हैं। योग के विषय में जैनाचार्यों के बनाए हुए भी अनेक ग्रन्थ विद्यमान हैं, जैसे कि योग-वीसी, योग-दृष्टि-समुच्चय, योगशास्त्र, ज्ञानार्णव, वगैरः। परन्तु योग का असली रहस्य और कुञ्जी, बिना अध्यात्म-शैली के अनुभवी महात्मा के, प्राप्त होना प्रायः असंभव है। वर्तमान समय में योग के नाम से मनुष्यों को ठगनेवाले नाम-योगी ही प्रायः देखने में आते हैं और जो पूरे महात्मा हैं वे प्रायः जङ्गलों में ही रहते हैं, जिनका दर्शन असभंव नहीं तो कठिन अवश्य है। इससे आत्मार्थी जीवों की योग-संबन्धी जिज्ञासा पूर्ण नहीं होने पाती, इतना ही नहीं, वे उन नाम-योगी धूर्त्तों से ठगाय कर इस विषय के विश्वास तक को भी खो बैठते हैं।

जैन-समाज में तो योगाभ्यासी गुरुओं का प्रायः अभाव ही है। इस अभाव को दूर करने के लिए अध्यात्मानुभवी योगीश्वर श्रीचिदानन्दजी महाराजने हिन्दी भाषामें 'अध्यात्म-अनुभव-योग-प्रकाश' की रचना की है, जो आज हम पाठकों के सन्मुख उपस्थित करने को भाग्यशाली हुए हैं। इस ग्रन्थमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठों अङ्गों का वर्णन ऐसी हृदयङ्गम पद्धति से किया है कि साधारण बुद्धिवाला मनुष्य भी इससे लाभ उठा सकता है।

योग के कई एक खास रहस्यों को, जिसका स्पष्टीकरण पात्र की योग्यता और अयोग्यता पर निर्भर करता है, छोड़कर बाकी सब बातें, जिनमें कई मार्के की हकीकत भी शामिल हैं और जिनका संबन्ध योग से है, इस ग्रन्थ में खोल कर रख दी गई हैं, जो अन्य ग्रन्थो में देखने में नहीं आतीं।

सं १९५५ में श्रीमहाराज (ग्रन्थकार) का आगमन कसबा जावद (जिला नीमच, रियासत गवालियर) में हुआ था। उस समय मेरा भी रहना वहीं पर था। श्रीमहाराज के सत्सङ्ग से उनकी योग में विशेष प्रवृत्ति देख कर मुझे श्रद्धा हुई और उन्हीं से योग की प्रक्रियाओं को सीखने का आरम्भ किया। उन्होंने कृपा करके मुझे योग के विषय में कई ऐसे ऐसे रहस्य बतलाए, जो लेखनी-द्वारा प्रकट करने में मैं असमर्थ हूं। एक दिन मैंने श्रीमहाराज को सर्व साधारण के लाभार्थ योग-विषयक ग्रन्थ को बनाने के लिए प्रर्थना की, जिसका उन्होंने स्वीकार किया। आपको लिखने का अभ्यास कम था, इससे वे अपने श्रीमुख से जो फर्माते थे, वही ठीक मैं लिपि-बद्ध करता जाता था, और इसी तरह यह ग्रन्थ उसी स्थान में निर्विघ्न संपूर्ण हुआ। उनकी भाषा प्राचीन शैली की होने पर भी मधुर और सुगम है।

इस ग्रन्थ में पहले सविकल्प ध्येय का प्रतिपादन करने के लिए मूर्त्तिकी आवश्यकता बतलाई गई है और इस विषय में सभी प्राचीन दर्शन और अर्वाचीन पन्थाइयों की एक-वाक्यता प्रमाण और युक्तिओं से सिद्ध की गई है। ग्रन्थ का पूर्वार्ध प्रायः इसी विषय के विस्तृत वर्णन में ही पूर्ण हुआ है। उत्तरार्ध में हठ-योग तथा राज-योग का साङ्गोपाङ्ग वर्णन, मन को स्थिर करने का उपाय, वज्रोली मुद्रा आदि के विषय में अन्य ग्रन्थकारों के मन्तव्य और उनका खंडन सुचारु रूपसे किया गया है। यह ग्रन्थ एक जैनाचार्य का बनाया हुआ होने पर भी योग के सभी जिज्ञासुओं को अत्युपयुक्त है, क्योंकि इस ग्रन्थ में योग का विषय निष्पक्षपात दृष्टि से प्रतिपादित किया गया है। विषयानुक्रमणिका के देखने से ही यह बात स्पष्ट प्रतीत होगी।

यह ग्रन्थ करीब २५ वर्ष तक ऐसा ही लिखा हुआ मेरे पास रक्खा आ था। छपवाने की सुविधा न मिलना ही इस का एक मात्र कारण था। गत वर्ष वृहत्खरतर-गच्छाचार्य, जङ्गम-युगप्रधान, व्याख्यान-वाचस्पति श्री १०८ श्रीजिनचारित्र सूरिजी महाराज का यहां विराजना हुआ था, उन्होने कृपया श्रीमान् शेठ बहादूरमलजी रामपुरिया को प्रेरणा करने पर उक्त शेठजीने उनके स्वर्गीय पुत्र जसकरणजी रामपुरिया के स्मरणार्थ एक हजार प्रतियां छपवाने के लिए द्रव्य की मदद की। इस लिए पूज्यपाद आचार्य महाराज का मैं अत्यन्त अनुगृहीत हूं, साथ ही उक्त शेठ साहब को इस ग्रन्थ के छपनमें सहायता दे कर ज्ञान-वृद्धि करने के लिए धन्यवाद देता हूं।

ग्रन्थ अत्युपयुक्त होने से एक हजार प्रतियां विक्रयार्थ छपवाने के लिए विनीत भाई भैरवदान कोठारी ने प्रथम द्रव्य की सहायता दी, जिससे इस पुण्य-कार्य की पूर्त्ति के लिए पूर्ण साधन मिलने से मुझे विशेष हर्ष हुआ।

इस ग्रन्थ के प्रुफ-सशोधनादि कार्य में श्रीमान् पण्डित हरगोविन्द दास न्याय-व्याकरणतीर्थ, प्रोफेसर, कलकत्ता युनिवर्सिटी ने पूर्ण सहायता की है, इस लिए उनका मैं कृतज्ञ हूं।

ग्रन्थकार का जीवन-चरित्र उनके बनाए हुए और मेरी तर्फ से थोड़े ही समय पर प्रसिद्ध किए गए 'द्रव्यानुभव-रत्नाकर' में दिया गया है, इससे उसकी यहां पुनरावृत्ति न कर पाठकोंको वहां से ही पढ़ने के लिए मैं अनुरोध करता हूं।

इस ग्रन्थ में पहले से ही ग्राहक बन कर सहायता पहूंचानेवाले महाशयों को अनेक धन्यवाद देता हूं। उनकी नामावली-ग्रन्थ में अन्यत्र प्रकाशित है।

विनीत

कोठारी जमनालाल

विषयानुक्रमणिका ।

प्रथम खण्ड ।

द्वितीय खण्ड ।

विषय पृष्ठ

॥ परम योगीश्वर जैनधर्माचार्य ॥

॥ श्री१००८श्रीचिदानंदजी महाराज ॥

॥ दीक्षा सम्वत् १९३५
आषाढ शुक्ल २ ॥

देवलोक सम्वत् १९५
पोष कृष्ण ९ चंद्रवार

Mohila Press, Cal

श्रीवीतरागाय नमः।

अध्यात्म अनुभव योग प्रकाश

आदिनाथ नमुं आदि में, वर्धमान नमुं अन्त।
वावीसों श्री मध्य जिन, शान्ति करो भगवन्त ॥ १ ॥
पुण्डरीक श्री आदि गण, गौतम अन्त प्रधान।
सुधर्म स्वामी पाटधर, नित २ करुं प्रणाम ॥ २ ॥
श्रीगुरु चरण मनाय कर, श्रुतदेवी मन आनु।
करो कृपा मुझ दीन पर, ज्ञान उदय होय भानु ॥ ३ ॥
सब योगिन को स्मरणकर, करूं योग प्रकाश।
मन्द मति मम दीन की, पूरण करियो आश ॥ ४ ॥
पञ्च परमेष्ठि स्मरण कर, करो आत्म अभ्यास।
चिदानन्द वर्णन करे, जैन धर्म का दास ॥ ५ ॥

समस्त आत्मार्थि सरल-स्वभाव भव्य व्यक्तियों से मेरा कहना है के इस क्लेशों से पूर्ण, कपाय वृत्तियों से चूर्ण, घनघोर दुःखागार अपार संसार में भले हिन्दु हो या मुसलमान हो, अन्तरीय भेद से आर्य हो या अनार्य हो, जैन हो अथवा वैष्णव हो, कौनसे ऐसे प्राणी हैं, जो नाना प्रकार के रोग-शोकादि क्लेशों से ग्रसित नहीं हैं? यह भी देखने में आता है कि उनकी आत्म-घातिनी व्याधियों के प्रतिकार के लिये आयुर्वेदिक कला-कुशल वैद्य, हिकमत में निपुण हकीम, डाकृर, तान्त्रिक, मान्त्रिक, प्रवृत्त हो रहे हैं। परन्तु जरा विचार से देखा जाय तो पहले व्याधि क्या है?

व्याधि-ज्ञान के अनन्तर व्याधि के प्रतिकार के उपाय कौन से हैं, ऐसा निर्णय करना चाहिये, क्योंकि जैन महर्षि वाग्भट अपने अष्टाङ्गहृदय नामक चिकित्सा ग्रन्थ में कहते हैं कि :—

"रोगमादो परीक्षेत तदनन्तरमौषधम्।
ततः कर्म भिषक् पश्चात् ज्ञानपूर्वं समाचरेत् ॥१॥"

अर्थात् वैद्य पहले रोग की परीक्षा करे, अनन्तर औषध का निर्णय करे, पीछे चिकित्सा-कर्म ज्ञान-पूर्वक वर्त्ताव में लावे। जिस तरह बाह्य-व्याधि के निदान खोजने पर प्रतिकार सम्भवित है, ऐसे ही यहां पर अध्यात्म पक्ष में बाह्य और आन्तर व्याधियों का निदान (कारण) सोचा जाय तो मुख्य इन रोगों का निदान, जन्म-मरणादि का कारण कर्म-बन्ध के अतिरिक्त कोई दृष्टिगोचर नहीं होता। इसी कर्म-बन्ध रूप निदान से ही समस्त संसार में समस्त प्राणी मानसिक, कायिक, (शारीरिक) आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक दुःखों कों, चाहना न करते हुए भी, विवश हो सहन कर रहे हैं। इस लिये इस कर्म-बन्ध रूपी राजरोगों के कारण को नाश करने के लिये, अथवा अपूर्व शान्ति के लिये भिन्न भिन्न आम्नायों के धर्मगुरु आचार्य अथवा सर्व मतावलम्वी अपनी अपनी वुद्धि पूर्वक उपचार कर रहे हैं। परन्तु इस कलियुग में कलिकाल के माहात्म्य ने उन पर भी अपना प्रभाव डाले बिना नहीं छोड़ा। कलियुग के प्रवृत्त होते ही प्रायः सर्वमतावलम्वी उपदेशक जनों ने, ईर्ष्या रूपी डाकिनी के आवेश से मान रूपी कदाग्रही वीर के प्रवेश को, यथार्थ-ज्ञान शक्ति के अभाव से न रोकने के कारण स्वकपोल-कल्पित उपदेशों को दे, अथवा ग्रन्थ-रचना कर भोलेभाले संसार-जिहीर्षु (संसार को छोड़ने की इच्छा रखने वाले) प्राणियों को भी फंसाया, और उन पर अपना रौब जमाया, राग-द्वेष के छुड़ाने के बदले उलटा राग-द्वेष में फंसाया, और मुफत में उन विचारों का माल उड़ाया, अपने आप को पूजाया, और शान्ति आदि का यथार्थ कोई भी उपाय न दिखाया। ऐसा इस कलिकाल में हो रहा है। यह वर्त्तमान दशा वुद्धिमानों से कोई

छिपी हुई नहीं। इस पर मुझे एक मसल याद आ गयी है कि "काजीजी दुबले क्यों? तो कि समस्त संसार की चिन्ता से"। अस्तु। इस अवसर पर अन्य दार्शनिकों की चिन्ता से क्या? मैंने जिस पवित्र दर्शन को स्वीकार किया है, अथवा जिस पवित्र दर्शन पर अटल पवित्र श्रद्धान है, उस पर यदि हार्दिक भाव प्रगट करूं तो अति उत्तम होगा, क्योंकि दूसरो के घरों को पवित्र करने से अर्थात् कूडा कचरा निकाल देने से अपना घर पवित्र नहीं हो सकता, अतएव मैं अपने कुछ विचार जैन-दर्शन पर दर्शाना चाहता हूँ। पाठक गण जरा बुद्धि पूर्वक ध्यान दें। प्रथम जैनों को कहता हूँ कि हमारा धर्म जैन-धर्म कहलाता है, क्योंकि जिनेश्वर देव का कथन किया हुआ है। जिनेश्वर पद से "जिनः (राग द्वेषादिशत्रून् जयतीति जिनः) सामान्यकेवली, तेषु तेषां वा ईश्वरः— जिनेश्वरः" अर्थात् जो राग-द्वेषादि आभ्यन्तर शत्रुओं को जीतता है उसे जैन शास्त्र के अन्दर जिन कहा है। जिनपद से सामान्य केवली तथा देवाधिदेव तीर्थङ्करों का ग्रहण करना चाहिये, उनका प्ररूपण किया हुआ (कहा हुआ) धर्म जैन-धर्म कहलाता है। उन्हीं देवाधि-देवों को हम वीतराग देव कहते हैं। अन्तिम तीर्थकर शासनपति श्रीमहावीर स्वामी के पीछे अनुमान ६०० वर्ष तक तो लगातार पूर्व की तरह जैन धर्म का प्रचार बना रहा। परन्तु इस हुण्डा अवसर्पिणी अथवा पञ्चम काल (कलियुग) में जैसे कि मैंने पहले कहा है, कलिमाहात्म्य ने अपना प्रभाव उन मुनियों पर भी डाले बिना नहीं छोड़ा। तात्पर्य यह है कि भगवान् महावीर अन्तिम तीर्थंकरके अनन्तर छह सौ ६०० वर्ष तक तो प्रायः सावधानता पूर्वक अर्थात् निष्परिग्रही, निःस्पृही, लालसाओं को जीतने वाले, कषायों का मर्दन करने वाले, उपशम भाव में समाहित रहने वाले, ठीक ठीक जैन धर्म के अभिज्ञों ने स्वकीय तथा परकीय आचार की निष्णातता में अन्तर न आने दिया। अनन्तर कलि-काल के द्वारा वृत्तियों के कुछ कलुषित होने के कारण, तथा शास्त्राधार छोड़ने के कारण प्रायः दोनों वर्गों (मुनियों तथा श्रावकों) में से यथार्थ गुरु-

शिष्यभाव, पूज्य-पूजक भाव अथवा सात्विक भाव का दूर होना आरम्भ हुआ। संयमी मुनियों के स्थान में असंयमि-वर्ग की प्रायः पूजा भी शुरू हुई। इस कारण से तथा कई एक अन्य कारणों से बढ़ते बढ़ते शाखा प्रशाखायें फटने लगी, अर्थात् जैन शासन का जो अपूर्वाधिपत्य अखण्डित प्रवाह से लगातार आ रहा था, विभक्त होने लगा। प्रथम दो शाखायें (दो भेद) श्वेताम्बर तथा दिगम्बर नाम से हुई। अनन्तर दोनों आम्नायों में से दिगम्बर आम्नाय के भी कई एक भेद होने लगे ; जैसे वीसपन्थी, गुमानपन्थी आदि। ऐसे अनेक भेद बढ़ने के कारण मान, महत्व, ईर्ष्या, राग-द्वेषादि परस्पर विशेष बढ़ गया। जो पवित्र जैन-धर्म सार्वजनीन (सर्व प्राणियों को हितकर) धर्म था, कोई भी मनुष्य (जिस का जी चाहे) जैन धर्म के आराधन करने से सच्चा जैन होने का अभिमान रख सकता था, उसी जैन धर्म की सुव्यवस्था के उलट पलट होने के कारण यथार्थ (वास्तविक)सम्यक्त्व का मुख मोड़ जाति सम्यक्त्व का, अयथार्थ जैनाभिमान (जैन होने का झूठा दावा) चिरन्तनायात (लम्बे काल से चले आये हुवे) जैनों के-हृदय में भी ठस गया। इसी कारण से जो जैन घर में जन्मे, वे ही प्रायः जैन कहलाने लगे। श्वेताम्बराम्नाय में जाति-जैनधर्म अथवा कुल-जैन धर्म के आवेश के ही कारण, ओसिया नगरी के क्षत्रिय तथा पोरवाड जो कि सदुपदेश से जैन होने पर भी जाति-जैन या कुल-जैन की तरह अपने आप को ओसवाल तथा पोरवाड जाति-जैन कहलाने लगे। अर्थात् इनमें क्षत्रिय होने पर भी कई एक भेदभाव घुस ही गये। जब श्रावक-वर्ग अर्थात् गृहस्थों में भेदभाव ने अपना साम्राज्य जमा लिया तो इनके धर्म-गुरुओं में महाराज मोह अपने चेलों चाँटों—राग, द्वेष, इर्ष्या, माया, मात्सर्य, मानादि को साथ ले आ घुसे ; और हृदयों को कलुषित बनाते ही भेद-बुद्धि को पैदा कर दिया। इसी कारण वे गच्छादि भेद तथा समाचारी भिन्न भिन्न करके अपने श्रावकों को जुदा जुदा बाँट झगड़ा मचाने लगे ; गृहस्थों का माल मुफ्त में खाने लगे, गृहस्थों को रागद्वेष में फँसाने लगे, खूब वाद्यादि बजवाने लगे, स्वयं

वे और गृहस्थों को डूबाने लगे, आचार-क्रियादि को छोड़ आडम्बर खाने लगे, जैन धर्म को छोड़ जैन नाम मात्र धराने लगे, ज्ञानगर्भित राग्यवान् को छोड़ दुःखगर्भित, मोहगर्भित वैराग्यवाले ऐश, मौज ड़ाने लगे। इतने पर भी जब सन्तोष न हुआ तो लोंका नामक लेखक लहिया) ने यति लोगों से द्वेषादि कर श्रीजिन-प्रतिमा-पूजन उठवा दिया, दया धर्म को बताया, स्वयं दयाकों न समझ भोले जीवों को बहकाया, औरों को उपदेश दे आप सिर भी न मुण्डवाया, भाना नामक वैश्य (वनिये) के गले में जाल को पहनाया। इतने पर भी जब जिन-प्रतिमा के द्वेषियों को सन्तोष न हुआ तो लवजी ने ढूँढ़क-पन्थ चलाया, आठों प्रहर मुख पर मुहपत्ति (मुख-वस्त्रिका) को वन्धाया, जिन-आगम से विरुद्ध चिह्न बनाया, ढाल चौपाई गीतादि गाकर वालजीवों को रिझाया, गृहस्थियों को भी धावन का जल (चावल, आटा, शाक आदि के धोने से तथा वर्त्तनों के साफ करने के बाद जो जल फेंकने के योग्य होता है उसको) भिक्षा मे माँगकर) पीना वतलाया, जिन-शास्त्र में गृहस्थों को अयाची सुनाया; इन ढूँढ़को (ढूँढ़ियों) में भी तेरापन्थी भीखम ने अपना नया पन्थ चलाया, विल्ली चूहे को पकड़े तो छुड़ाना नहीं ऐसा अनर्थ उपदेश दे अपना पृथक् मतरूप जाल फैलाया। ऐसी ऐसी दुरवस्था होने पर ही श्रीजिनप्रतिमा का पूजन कई व्यक्तिओं के हृदय मेंसे उठ गया। और कई व्यक्तियों ने उस समय में ही कत्था चूना मिलाकर उसमें अपने पीले वस्त्र करके सवेगी मत चलाया, दुःखगर्भित-मोहगर्भित वैराग्य वालों ने कई प्रकार के नये नये आडम्बर रच आनन्द उड़ाया। तथा वास्तविक पवित्र जैन-दर्शन के आचार-विचार-उपदेश को छोड़कर प्रायः प्रमादी हो, मन माने उपदेश दे अपनी अपनी पूजा में मस्त होने लग गये। सम्यक् चारित्र के पालन को कष्ट स्वरूप समझकर धर्म से कोसों दूर भागे। रागद्वेषादि पर स्वयं आक्रमण न कर उलटा रागद्वेष से आक्रान्त हो गये। श्रीवीतराग देवाधिदेव का धर्म तो वही हो सकता है कि जिससे रागद्वेषादि मिटे तथा अपनी आतमा में शान्ति होय। जिन उपायों से

शान्ति, आत्म-ज्ञान, पूर्णानन्द, तथा समाधि आदि की सम्भावना है, वे योगाभ्यास के अङ्गभूत, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि हैं, क्योंकि ऐसा ही महर्षि पतञ्जलि अपने योग-दर्शन के अन्दर लिखते हैं—"यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-समाधय इत्यष्टौ यौगस्याङ्गानि" इति। किन्तु इनका तो श्मशान-वैरागियों ने 'कष्ट-क्रिया' 'अन्यमत का हठयोग' ऐसे ऐसे उपालम्भात्मक शब्दों से व्यवहार दिखलाकर जैन दर्शन मे से प्रायः उठा ही दिया। क्योंकि भोले भाले नव-दीक्षितों को बहकाना सहज ही है। ऐसी दशा में ऐसी व्यक्तियों को पवित्र योगमार्ग क्योंकर प्राप्त हो सकता है, जो कि अनेक जन्मों के पुण्य-सञ्चय से प्राप्त किया जा सकता है? किन्तु इस पवित्र योगमार्ग को तो प्रायः जैन आम्नाय में इस समय में जैन भूल ही गये से प्रतीत हो रहे हैं, जो कि जैन आम्नाय में सहस्र वर्षों से आ रहा था। आर्यसमाज दानापुर के छपे हुए "पातञ्जल योग दर्शन" की भूमिका के चोथे पृष्ठ में लिखा है कि जैन सम्प्रदाय का तो योग जीवन ही मूल है। यहां जरा जैनों को ध्यान देना उचित है। स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ने नव्यपद्धति से अपना मत-आर्यसमाज औरों का मत खण्डन करते हुए चलाया भी, और जैनों का भी खण्डन किया, किन्तु जैनों की वास्तविक वस्तुस्थिति छिपी नही रही। उन्होंने स्वयं नहीं कहा तो उनके अनुयायिओं को कहना ही पड़ा कि जैनों का योग-जीवन मूल है। क्योंकि यह नहीं हो सकता कि किसी का गुण छुपाया जा सके। जो जिस का यथार्थ गुण होगा उस व्यक्ति का कैसा भी कोई द्वेषी हो, उसे वह गुण किसी न किसी प्रकार से कहना ही पड़ेगा। विशेष कर आगे जैन-दर्शन का निदर्शन किया ही जाने वाला है। जैन दर्शन की व्यवस्था उलट पलट होने से जो योग-मार्ग लुप्तप्राय हो गया है उसे देख मैं बहुत खिन्न हूँ। चिन्तामणि-समान स्याद्वादात्मक जैन धर्म की व्यवस्था विगड़ गई, झूठी झूठी कल्पनायें चल गई, इसी से दुःख-गर्भित मोह-गर्भित वैरागिओं की बन गई, आत्मार्थियों की आत्मार्थ सिद्ध करने की मर्यादा

टल गई, जाति-कुल के जैनों की पकड़ी हुई बात धुल गई, इस लिये सत्य उपदेशकों की कर्मबन्ध रूप व्याधि को नाश करने वाली उपदेश रूपी दवा ढुल गई, दुःखगर्भित मोहगर्भित वैरागियों की पोल भी खुल गई।

जैनियों की आज कल की इस दुरवस्था के कहने से मैं अब बाज आता हूँ, क्योंकि जिन जिज्ञासुओं के अत्याग्रह से मैंने हठयोग लिखाने की इच्छा की है, उन लोगों को यह भ्रम होगा कि जिस चीज की हमको चाहना थी उसको छोड़कर अन्य विषय को लिखाकर हमें समझाया, केवल गाल को बजाया, लोगों की पर्वों को दिखाया, आत्मार्थ को न बताया। इस हेतु से इस झगड़े बखेड़े को ज्यादह न लम्बायकर मैं प्रस्तुत विषय में प्रवृत्त होता हूँ। यद्यपि मैं अधम, अभागी, निर्लज्ज, भाण्ड-चेष्टा से पेट भरने वाला हूँ, योगाभ्यास का दिवालिया हूँ, मैंने जिस योगाभ्यास रूप अमूल्य चिन्तामणि रत्न को गुरुगम से पाया, प्रमादवश होकर उसको गमाया, लोगों का माल मुफ्त में खाया, जिससे दुर्गति में अपना पाँव फैलाया, पवित्र भेष को लेकर भाण्ड चेष्टा दिखाया, गया वक्त फिर मेरे हाथ को न आया, अपने मूर्ख मन को बहुत ही समझाया, जैसा मेरा नाम वैसा गुण मेरे में न आया, इसी लिये इस विषय को लिखाने में भी लज्जा पाया, तथापि शक्ति-भव जोर से किञ्चित् चित्त हुलसाया, गुरु को शीश नमाया, और भव्य जीवों का उपकार जानकर इस ग्रन्थ को बनाया। अस्तु। जब तक कोई ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ की आदि में सम्बन्धादि चार वस्तु न दिखावे, तब तक कोई भी जिज्ञासु उस शास्त्र में प्रवृत्ति नहीं करता, क्योंकि यह किसी का साधारण वचन है कि :—"प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते" अर्थात् बिना किसी प्रयोजन के, मन्द बुद्धि वाला पुरुष भी कोई कार्य में प्रवृत्त नहीं होता, तो फिर विचारशीलों की तो बात ही क्या? सम्बन्ध, विषय, प्रयोजन, और अधिकारी ये चार सम्बन्धादि-चतुष्टय कहलाते हैं। कोई ग्रन्थकार मङ्गल को भी इसी मे दाखिल करते है। ये पाँचो ग्रन्थ की आदि में अवश्य होने चाहियें। मङ्गल तीन प्रकार का होता है—आदि,

मध्य, और ग्रन्थ के अन्त में। इस मङ्गल के विषय में विशेष शङ्का समाधान जिज्ञासुओं को मेरे "जिनाज्ञाविधि प्रकाश" नामक ग्रन्थ में देख लेना चाहिये। ग्रन्थ विस्तार के भय से यहाँ मैंने वह नहीं दिखाया। इस ग्रन्थ में जिस विषय का वर्णन किया गया है उसके साथ इस ग्रन्थ का क्या सम्बन्ध है? यहां प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव सम्बन्ध जानना चाहिये, क्योंकि विषय है सो प्रतिपाद्य है तथा यह ग्रन्थ उसका प्रतिपादक। जिसका प्रतिपादन किया जाता है वह प्रतिपाद्य कहलाता है और जो उसका प्रतिपादन करता है वह प्रतिपादक कहा जाता है। इस ग्रन्थ में जो हठ-योगादि का निरूपण किया है वह है प्रतिपाद्य; तथा ग्रन्थ उसका प्रतिपादन करता है इस लिये ग्रन्थ है प्रतिपादक। वैसे ही अधिकारी वा फल का भी यहाँ संक्षेप में प्राप्य-प्रापकभाव सम्बन्ध समझ लेना चाहिये; क्योंकि फल प्राप्य है, और अधिकारी प्रापक है। ऐसे ही अधिकारी और विचार का कर्तृ-कर्त्तव्य भाव सम्बन्ध भी है। अधिकारी कर्त्ता है और विचार कर्त्तव्य है। जो करने वाला है सो कर्त्ता और जो करने के योग्य है सो कर्त्तव्य है। इसी तरह यहाँ जन्यजनक भावादि अनेक सम्बन्धों की भी कल्पना स्वयमेव कर लेनी चाहिये। इस ग्रन्थ में विषय क्या है सो दिखाते हैं। अध्यात्मशैली से हुआ जो अनुभव, उससे जो योग का अभ्यास—अर्थात् चित्त-वृत्ति-निरोध के निमित्तभूत आसनादि, स्वरोदय, षट्कर्म, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, मुद्रा और कुम्भकादि नाना प्रकार के कर्त्तव्य जिनसे योग सिद्ध होता है, इन बातों का जो प्रकाश—वर्णन-करना है, वह इस ग्रन्थ का विषय है। प्रयोजन—कर्म-बन्ध के प्रबल कारण जो रागद्वेषादि, इनका सर्वथा नाश करके चित्त की अतुल शान्ति प्राप्त कर तथा परम्परा से आत्म-दर्शन कर सदा के लिये दुःखागार जन्म-मरण-लक्षण ससार में न आना, अनन्त चतुष्टय का पाना ही परम प्रयोजन है। अधिकारी यहाँ तिर्यञ्च और नारकी जीव नहीं हो सकते, तथा देवता भी नहीं हो सकते हैं। किन्तु मनुष्य ही हैं। वे भी दो भेदों में विभक्त है;

एक तो भव्य और दूसरे अभव्य। भव्य के भी दो भेद हैं—एक जाति-भव्य, दूसरा गुण-भव्य। अब यहाँ जिज्ञासुओं के भ्रम दूर करने के लिये श्री अरिहन्त देव वीतराग सर्वज्ञ ने अपने निर्मल सर्व-प्रकाशि ज्ञान से देखकर जो व्यवस्था कही है उसी को दिखाते है, स्वकपोल कल्पना को छोड़कर शास्त्र-परम्परा-प्राप्त बतलाते हैं। शास्त्रों में जीव चार प्रकार के कहे हैं, सो दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक भाव से दिखाते हैं। जैसे वन्ध्या स्त्री है, उसका पाणि-ग्रहण (विवाह) होने के बाद में उसे पुरुष का संयोग भी नित्य मिलता है; किन्तु जहाँ तक वह जीती है वहाँ तक सन्तान (पुत्रादि) से शून्य रहती है; इसी लिये उसे वन्ध्या कहते हैं। इसमें दार्ष्टान्तिकांश यह है कि अभव्य प्राणि को मनुष्य जन्म मिला; वैराग्य के कारण, किसी महात्मा के सम्बन्ध से दीक्षा (साधुपन) भी ले लेता है, तो भी अभव्यत्व के कारण उसकी अभ्यन्तरात्मा साधुतया (साधुपन से) परिणत नहीं होती, और आर्जवादि भाव उसमें पैदा नहीं होते हैं। और इसी वजह से उसे मोक्ष भी नहीं मिलता। यह सम्पूर्ण देवाधिदेव ने अपने ज्ञान में देखकर ऐसे जीव को अभव्य रूप से कथन किया है। (२) अब जाति-भव्य का दूसरा दृष्टान्त देते हैं; जैसे किसी स्त्री का पाणिग्रहण हो गया; किन्तु पति-परिक्रमा (फेरे) लेने के बाद पति (स्त्री का भर्त्ता) मर गया; पति-संयोग के अभाव से (स्त्री पुरुष-सम्बन्ध न होने के कारण) उस स्त्री के भी सन्तान-पुत्रादि नहीं होता। इसी तरह यहाँ पर भी दार्ष्टान्तिक अंश यह ग्रहण करना चाहिये कि, जो जीव अव्यवहारराशि-निगोद से निकले नहीं, और निकलते भी नहीं, अतएव उनको मोक्ष की प्राप्ति भी कारण के न होने से न होगी; इसी लिये श्रीवीतराग देव ने उसे ऐसा ही अपने ज्ञानद्वारा देख उसे जाति-भव्य कहा। अब तीसरा सुनिये—जैसे किसी स्त्री की शादी (ब्याह) हुई; तथा पति का संयोग भी नित्य मिलता रहा, किन्तु कितने ही समय के बाद सन्तान उत्पन्न हुई; इसी रीति से जो जीव व्यवहार में आकर बहुत समय के बाद, मनुष्य-जन्म के भी बहुत भव प्राप्त कर यहीं

दीर्घकाल से मोक्ष की प्राप्ति करे, इसे श्रीवीतराग परमात्मा ने दूरभव्य कहा है। चतुर्थ—जैसे किसी स्त्री का व्याह (शादी) हुआ, और पन्द्रह दिन के अनन्तर अथवा एक मास में ही गर्भाधान हो गया, तथा वर्ष के अन्दर अन्दर ही सन्तान उत्पन्न हुई। इसी रीति से जिस जीव का व्यवहारराशि में आना, एवं मनुष्य जन्म को पाना, और मोक्ष का शीघ्र प्राप्त करना होय वही जीव निकट-भव्य (आसन्न-भव्य) है। इस स्थान में यदि कोई शङ्का करे कि भव्य किसे कहते है? तो शास्त्रानुसार उसका समाधान इस प्रकार है कि "ज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयं भवितुं योग्यो भव्यः" अर्थात् योग्य कालादि साधन मिलने पर आत्मा के स्वाभाविक निज गुण जो ज्ञान दर्शन चारित्र वीर्यादि, उनको प्रकट करने के जो जीव योग्य हो उस जीव को भव्य कहते हैं। भव्य के भी दो भेद है एक तो ग्रन्थिभेदी, क्रोध, मान माया, लोभ इन अनन्तानुवन्धि कषायों की चौकड़ी तथा सम्यक्त्वमोहनीय मिश्रमोहनीय मिथ्यात्वमोहनीय इन सात प्रकृतियों की अनादिकाल से बन्धी हुई ग्रन्थि का जो जीव भेदन करे (क्षय करे), उपशम (शान्त) करे, एवं क्षयोपशम करे, उसे ग्रन्थि भेदी कहते हैं। तथा अग्रन्थिभेदी उसे कहते हैं कि जो पूर्व से विपरीत (उलटा) हो अर्थात् क्षयादि का न करने वाला हो। ग्रन्थि के भेद होने के पहिले जीव जिन तीन करणों को करता है उसके विषय में विशेष जानने की जिन की रुचि हो, वे मेरे बनाये हुए 'स्याद्वादानुभवरत्नाकर' के चतुर्थ प्रश्न में देखे। इस जगह ग्रन्थ बढ़ जाने की सम्भावना से, विशेष शङ्का समाधान के दिखाने का प्रयत्न नहीं किया है। अब इस ग्रन्थ के विषय में निकटभव्य होने पर भी अधिकारी के जो लक्षण-विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति, मुमुक्षुता आदि हैं, उनसे संयुक्त हो अर्थात् जिस निकट-भव्य में यह विवेकादि पायें जाय वह अधिकारी है। वस्तु-अवस्तु, सद्-असद् वा हेय-उपादेय आदि का जो परामर्श (विचार) करना उसे विवेक कहते हैं। जैसी मेरी आत्मा सत्य है, अविनाशी (विनाश रहित) है, तथा उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है एवं परवस्तु पुद्गल, विनाशी

(नाशवन्त) और असत्य है, इस लिये हेय है, छोड़ने योग्य है ऐसे सद्विचार को विवेक कहते हैं। जिसे विवेक नहीं है, उसका वैराग्य-धारणादि सर्व प्रयत्न निष्फल है ; क्योंकि विवेक के न होने से ठीक ठीक वैराग्यादि की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। विवेक ही सब का कारण है। वैराग्य विरति को कहते हैं, क्योंकि वेदान्तसार नामक ग्रन्थ में कहा है कि १ "ऐहिकानां स्रक्चन्दनवनितादिविषयभोगाणां कर्मजन्यतयाऽनित्यत्वात्, आमुष्मिकाणामपि, अमृतत्वादिविषयभोगाणामनित्यतया तेभ्यो नितरां विरतिः, इहामुत्रफलभोगविरागः ॥१७॥ तथा इसी को संक्षिप्त रीति से महर्षि पतञ्जलि अपने योगसूत्र में लिखते है कि—"२ दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकार-संज्ञा वैराग्यम् (समाधिपादे १५ वाँ सूत्र) अर्थात् ऐहिकामुष्मिक विषयों का जो त्याग है, उसी को वैराग्य कहते हैं। ऐहिक विषय—स्रक् चन्दन वनिता (स्त्री) आदि, तथा आमुष्मिक विषय—संयम-क्रियादि अनुष्ठान से होने वाले स्वर्गादि मोक्ष-पर्यन्त फलों की इच्छा से उदासीन हो, विरस जानकर उनका जो त्याग विशेष है उसे वैराग्य कहते हैं। शम, दम, तप, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधि को षट्सम्पत्ति कहते हैं। समस्त जीवों के साथ समता-भावना को शम कहते हैं,—अर्थात् अपनी आत्मा की तरह सभी जीवों को समझना। समस्त इन्द्रियों को बाह्य विषयों से रोकने को दम कहते हैं। जब तक दमन (इन्द्रियों का निग्रह) न किया जाय, तब तक विवेक-वैराग्यादि भावों का स्थायि रहना कठिन

---

१ इस लोक के पुष्पमाला—चन्दनादिका शीतल स्पर्श, सुन्दर स्त्री-जनित भोगों कर्म जन्य होने से अनित्य है, उत्तर लोक के स्वर्गादि मे अमृतपानादि भी सभी अनित्य है, कर्म-जन्य होने से, इन सब ऐहिक और आमुष्मिक विषय भोगों की निरन्तर जो विरति उसे भी वैराग्य कहते हैं।

२ इस लोक के दृष्टिगोचर विषय भोग, तथा यज्ञ (याग) जनित स्वर्ग लोक में होने वाले अमृतपानादि, उनसे विलक्षण पुरुष का जो इन्द्रियों का वशीकार स्वरूप ज्ञान है, उसको वैराग्य कहते हैं।

है। इन्द्रियों का जय न करना ही समस्त क्लेशों को निमन्त्रण देना है। थोड़ा सा ध्यान देने से पता चल जायगा कि एक एक इन्द्रिय कितने क्लेशगर्त्त में कैसे कैसे वली पुरुषों को किस किस तरह पटकती है; तथा दीन प्राणी प्राणों को भी खो वैठते हैं। श्रोत्रेन्द्रिय के वशीभूत विचारे हरिण, सर्पादि, जिस समय कालबेलिया-व्याध मदारी आदि के पुङ्गी, वीण्ड, आदि वाद्य वजाये हुए सुनते हैं उसी समय श्रोत्रेन्द्रिय के विषयको अधीन हो फँसकर उन दुष्ट व्याधादि के द्वारा असीम पारतन्त्र्यादि कष्ट सहते हैं। समस्त दुःख श्रोत्रेन्द्रिय-विषय लोलुपता के कारण ही सहने पड़ते हैं। घ्राण (नासिका) इन्द्रिय के अधीन होने वाला भ्रमर (भौंरा) सूर्यविकासी कमल की सुगन्ध लेने की इच्छा से दिन भर गन्धोपभोग करता हुआ सायंकाल कमलपुष्प के मिञ्चने पर प्राण तक खो वैठते हैं। तो उसका कष्टों को तो कहाँ तक लिखूँ जो मिचे मिचे सूर्यविकासी पुष्प के अन्दर सहता है। घृत, तैल, मधुर-रसों की गन्ध से लिपटी हुई चीटियां रास्तों में पैरों से दलित होकर प्राणों को खो वैठती हैं। चक्षु (आंख) इन्द्रिय के विषय को अधीन होकर पतङ्ग नाम का जीव रात्रि में दीपक की जलती शिखाओं में वा गरम रोशनी में अपनी आत्मा की आहुति कर वैठता है-अर्थात् जल मरता है। मत्स्य (मछली) रसना (जिह्वा-जीभ) इन्द्रिय के विषय के अधीन होकर विना विचारे रस-लोलुपता के कारण आटे या मांस से लिपटी हुई कुण्डी को निगलकर तड़फ २ कर प्राणों को खो वैठता है। इसी तरह स्पर्शन (उपस्थ रूप) इन्द्रिय के विषय को अधीन होकर हस्ती अपनी आत्मा को जङ्गल में खोदे हुए गहरे गढ़े और खाइयां में गिरकर बुरी हालत में रखता है, कि जिन गढ़े और खाइयां को घास फूस से वन्दकर उसके पर कागज की कृत्रिम हस्तिनी वनाई जाती है, और जिन को देखकर मदोन्मत्त (मद के नसे से उन्मत्त हुआ) हस्ती विषय से व्याकुल हो आक्रमण करने की इच्छा से जाते ही उस हस्तिनी (हथिनी) के साथ गढ़े या खाई आदि में गिर पड़ता है। पकड़ने वाले मनुष्य उसे कई दिन भूख

प्यास से तङ्ग करके पीछे कई दिनों के बाद निर्बल दीन दशा में देख उसे जञ्जीरों से बाहिर खैंच लेते हैं। उसका स्वतन्त्र जीवन को परतन्त्र कर अनेक कष्ट देते हैं। और उसको क्षणभर स्पर्शन-इन्द्रिय की विषय-लालसा से, वस्तुतः उससे भी वञ्चित हो, तमाम उमर कष्ट सहन करना पड़ता है। यहां पर थोड़ासा विचार किया जाय तो समस्त क्लेश-राशिका कारण इन्द्रियों के विषयों को भोगने की उत्कट अभिलाषा ही है। हरिण-सर्पादि को यदि श्रोत्रेन्द्रिय विषय की, चींटी आदि को नासिका-इन्द्रिय-विषय की, पतङ्गादि को चक्षु इन्द्रिय के विषय की, मछली को जिह्वा इन्द्रिय के विषय की, हाथी को पुरुषेन्द्रिय के विषय की, उत्कट अभि-लाषा न होती तो वे बिचारे दीन मुख बनकर इतना कष्ट क्यों सहतें? जब इन जीवों को एक २ इन्द्रिय विषय के पाश में फँसकर इतना क्लेश उठाना पड़ता है, तो जो व्यक्ति पांचो ही इन्द्रियों के विषय को अधीन रहती हैं उसकी क्या दशा होगी? एक कवि ने सच कहा है कि—

> कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्गमीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च।
> एकः प्रमादी स कथं न हन्यात् यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च॥१॥

अर्थात् हरिण, हाथी, पतङ्ग, भँवरा, मछली आदि पांचों एक एक इन्द्रिय के विषय के वशवर्त्ती हो नष्ट हो जाते हैं; तो प्रमादी एक मनुष्य, जिस को पांचो इन्द्रियां हों और पांचो ही विषयों का सेवन करता हो वह कैसे नष्ट न हो? इस लिये जो अध्यात्म-रस का पान करना चाहता है उसे अवश्य ही इन्द्रियों के विषयों से पराङ्मुख होना चाहिये। ये विषय रसास्वाद देने वाले नहीं है; प्रत्युत काले सांप की तरह मृत्युमुख है। भाव यह है कि जैसे मनुष्य को साँपादि भय देने वाले हैं, और उन्हें देखकर मनुष्य भागते हैं; इसी तरह इन विषयों को भी घोर दुःख देने वाले जानकर इनसे दूर भागना चाहिये। जो इन विषय भोगों से दूर भागने वाले हैं, वे ही सच्चे इन्द्रियों को भी दमन करने वाले हैं, न कि माल खाने वाले, मजा उड़ाने वाले, साधु नाम

धराने वाले, राग-द्वेष को बढ़ाने वाले, गृहस्थियों को लड़ाने वाले, दुर्गति को जाने वाले। वेदान्त शास्त्र में कहा है कि—

"कुशला ब्रह्मवार्त्तायां, व्रतहीनाः सुरागिनः।
ते पुरुषा वै ह्यन्ततमाः, पुनरायान्ति यान्ति च ॥१॥"

और जैनमत के अध्यात्म-कल्पद्रुम नामक ग्रन्थ में भी कहा है कि ;—

गुणैर्विहीनोऽपि जनानतिस्तुतिप्रतिग्रहान् यन्मुदितः प्रतीच्छसि।
लुलायगोऽश्वोष्ट्रखरादिजन्मभिर्विना ततस्तु भविता न निष्क्रयः ॥१॥

अर्थात् जो प्राणी (मुनि) संयमादि गुणों से रहित है, और प्रसन्नता-पूर्वक गृहस्थ जनों से नमस्कार, स्तुति, वस्त्र, पात्र, अन्नादि लेता है; इसी कारण से वह दुर्गति में जाकर भैंसा, वैल, गाय, घोड़ा, ऊँट, गदहा आदि की योनियां लेकर भार-वहनादि कार्य बजाये विना कभी ऋणमुक्त नहीं हो सकता; गृहस्थियों को उनका बदला देना ही होगा। ज्ञान के साधन-भूत शास्त्र-श्रवणादि को छोड़कर अन्य शब्दादि-विषयों से अपनी इन्द्रियों के रोकने को दम कहते हैं। तप अर्थात् पुत्र-कलत्रादि वस्तुओ से ग्लान होकर जो त्याग करना है उसे तप कहते हैं। जो विना ग्लानि के तप-पच्चक्खाण (प्रत्याख्यान) करते हैं, वे ठीक २ नहीं पाल सकते। ग्लानि-पूर्वक उपराम से जो किसी द्रव्य का प्रत्याख्यान (त्याग-नियम) करना है वही तप है। इसी तप के वारह भेद हैं—छ वाह्य और छ आभ्यन्तर। यह जैन दर्शन के ग्रन्थों में भली भांति वर्णित किये हैं। तितिक्षा—अनुकूल व प्रतिकूल बावीस परीषहों (उपसर्गों) को शान्ति-पूर्वक सहन करने का नाम है। अनुकूल परिषह—जो भक्ति करने से, स्तुति करने से, एवं स्पर्शादि विषयों को उपस्थित करके व्रतस्थ मुनि महात्माओं को अपने व्रतसे चलायमान करने का प्रयत्न, उसे अनुकूल परिषह कहते हैं। ऐसे ही व्रती पुरुष को, गाली, निन्दा, मारकाट, क्लेशादि-प्रतिकूलता से चलायमान करने के प्रयत्न को प्रतिकूल परिषह कहते हैं। ये दोनों को समभाव से सहन करना उसका नाम तितिक्षा है। श्रद्धा, गुरु तथा आगम के वचनों में

अनन्य विश्वास का जो होना उसे श्रद्धा कहते है। समाधि—चित्त की एकाग्रता को समाधि कहते हैं। मुमुक्षुता—जिन कर्मरूपी वन्धनों से बँधा हुआ प्राणी जन्म-मरण आदि अनेक क्लेशों को पा रहा है; उन वन्धनों से छुटने की इच्छा का नाम मुमुक्षुता है। ये जो ऊपर कहे गये विवेकादि, उनसे जो युक्त है वे ही इस शास्त्र में अधिकारी है। अव इसके बाद जो वस्तु-निरूपण प्रकार है, उसे जैन शास्त्र की रीति से कहते हैं। वस्तु अनेक-गुणात्मक, अनेक धर्मात्मक, या अनैकान्तिक है। वस्तु-निरूपण के अवसर में निक्षेपों का अवश्य आश्रय लेना चाहिये। यदि निक्षेपों का आश्रय न लिया जाय तो वस्तु का स्वरूप का यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता; जिज्ञासु समझ भी नही सकता। इस लिये निक्षेपों को अनेक प्रकार से वस्तु-स्वरूप समझाते समय दर्शाना चाहिये। यदि शिष्य साधारण वुद्धि वाला हो तो निक्षेपों के अनेक भेद न दिखलाकर चार प्रसिद्ध निक्षेपों को तो दिखाना ही चाहिये। क्योंकि श्रीअनुयोगद्वार सूत्र में भी कहा है कि—

"जत्थ य जं जाणिज्जा, निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं।
जत्थवि य न जाणिज्जा, चउक्कयं निक्खिवे तत्थ ॥१॥

भावार्थ—जहां जिन पदार्थों के जितने निक्षेपे जाने, उनके उतने निक्षेपे निरवशेषता से करने चाहिये, जहां पूर्ण निक्षेप जाने न जा सके वहां चार निक्षेप तो करने ही चाहिये। अव इन चार निक्षेपों का सोदाहरण थोड़ासा स्वरूप दिखाते हैं। नाम निक्षेप—बालक खेल के समय में एक लकड़ी को ले, उसे अपनी टांगों के बीच रखकर घोड़े की नाईं दौड़ते हैं और उसे घोड़ा समझ, रास्ते में आते जाते मनुष्यों को "हटो हमारा घोड़ा आता है" कहकर हटाते हैं; वैसे ही मनुष्यों को भी उस बालक की लकड़ी को बालक के घोड़ा कहने पर नाम मात्र का घोड़ा मान हटना पड़ता है; यह नाम से घोड़ा होने से इसे नाम-निक्षेप कहते हैं। ऐसे ही काली डोरी (रस्सी) का सांप नाम रखकर बच्चे को प्रायः भय दिखाया करते हैं, अथवा रास्ते में पड़ी हुई काली मोटी रस्सी को

देखकर कोई मनुष्य सर्प बुद्धि से उसका लकडी के द्वारा हनन करे तो उसे सर्प की हिंसा लगेगी, क्योंकि उसने सर्प नाम करके मारा या पीटा है; एवं सर्वत्र नाम निक्षेप के उदाहरण समझ लेना चाहिये। इसके विशेष स्पष्टीकरण के लिये कालकसूरिया कसाई की कथा को श्रेणिक महाराज के चरित्र में तथा ठाणाङ्ग सूत्र के चौथे ठाने में देख लेवें।

स्थापना निक्षेप—जैसे कोई कही हुई चीज के आकार को देख कर उसे उसी नाम से जाने और वैसा ही कहे, इसे स्थापना निक्षेप कहते हैं, जैसे काष्ठ, पाषाण, चित्रादि में नाना प्रकार के आकार को देखकर गाय; भैंस, घोडा, हाथी, देवता, विष्णु, ब्रह्मा, शङ्कर, हनुमान इत्यादि रूपसे जो व्यवहार में लाया जाय उसे स्थापना-निक्षेप कहते हैं। बाजार में बच्चों के खिलौने लेते समय, मिट्टी पत्थर या लकड़ी का खिलौनों का जो आकार होता है उसी नाम से लेने पड़ते हैं। स्थापना के भी दो भेद हैं। असद्भूत स्थापना और सद्भूत स्थापना। असद्भूत स्थापना व्याह शादी के समय पर गणेशजी की मूर्त्ति या प्रतिमा न होने पर पूजादि-व्यवहार के लिये गणेशजी के आकार-शून्य, गोबर अथवा और किसी वस्तु को ले मौलि का लच्छा लपेट उसमें गणेशजी का जो व्यवहार करना है, उसे असद्भूत स्थापना कहते हैं। अथवा किसी जगह या कागज पर नाम-मात्र लिखा हो—आकार-शून्य कागजादि पर नाम मात्र लिखा रहने से—जो नाम वाले के जैसा व्यवहार करना है, उसे भी असद्भूत स्थापना के अन्तर्गत समझना चाहिये। सद्भूत स्थापना—किसी कागज पर या पाषाण में आकार होने से आकार वाले को समझना, किन्तु जैसा जिसका आकार है वैसा ही आकार यथावत् पाषाण, कागज, काष्ठादि में होने को सद्भूत-स्थापना कहते हैं;—जैसे जिन मन्दिरों में जिन-प्रतिमा तथा वैष्णव मन्दिरों में विष्णु आदि की प्रतिमायें। इन सब को स्थापना समझना चाहिये। किन्तु साथ २ यह भी जान लेना चाहिये कि इनकी प्रतिमायें

तोड़ने फोड़ने से, तोड़ने फोड़ने वाले को जिन की प्रतिमा तोड़े या फोड़े उनकी हिंसा लगे। अब इस स्थान में एक बात कहने की है कि कई एक ऐसे भी विवेक-शून्य हैं, और शास्त्राभ्यास से विकल तथा योगाभ्यास से रहित है, वे नाम को मानते हैं, किन्तु मूर्त्ति-पूजादि का जितना बन पड़े, निषेध करते हैं और पूजन नहीं मानते। वे युक्ति भी इस तरह देते हैं जो हम दिखाते हैं, भव्य जीवों को बोध कराते हैं, उनके जाल से निकलवाते हैं, यथावत् युक्ति बतलाते हैं, अज्ञान को दूर कर दिखाते हैं, सनातनधर्म को समझाते हैं। मूर्त्ति के न मानने वाले, और केवल नाम के मानने वाले ऐसा दृष्टान्त देते हैं कि यदि पत्थर अथवा मिट्टी की गाय बनाकर, उसके नीचे पात्र (लौटा विगेरे) लेकर बैठनेसे उसके स्तन मसलने पर या टटोलने पर यदि पात्र (कोई वर्त्तन) दूध से भर जाय, तब तो हम जाने कि गाय है, और पूजने पर संसार से तार भी देगी। यदि उस गाय ने दूध का पात्र न भर दिया तो पूजने पर भी क्योंकर तार सकेगी? इत्यादि कुयुक्तिओं द्वारा भोले भाले जीवों को भगवद्देव की पूजा से वञ्चित रखकर अपनी आत्मा को भी वञ्चित कर बैठते हैं, बाल जीवों को बहकाते हैं, लोगों से माल ठगकर खाते हैं, अपने को पूजाते हैं, लोगों में अपना बुद्धि-प्रकर्ष बताते हैं, ज्ञान के बोझ से मरे जाते हैं, असल (यथार्थ) बात को उठाते हैं; केवल शिर को मुण्डवाते हैं, योगाभ्यास की युक्ति जाने बिना दुर्गतिको जाते हैं। मूर्त्ति-पूजा-खण्डनके ऊपर जो गाय का दृष्टान्त दिया है उसका उत्तर भी सुनिये। हे देवानुप्रिय! यदि उस गाय ने दूध का पात्र नहीं भर दिया तो पत्थर की गाय को गौ करके मानने को उठाने से तुम्हें क्या लाभ? क्योंकि नाम के रटने को तो आप भी स्वीकारते हैं। यदि पूजेरोंने लोटा दूध का नहीं भर लिया तो, हे भोले भाई! कुश का आसन (डाब नाम के तृणों का आसन) बिछाकर हाथ में माला ले, उस (आसन) पर बैठकर नाम को रटकर, यदि गाय से दूध का पात्र (लौटा) भरा ले, जिससे तेरे नाम मात्र रटने का माहात्म्य प्रसिद्ध हो

जाय, और हम भी मान ले कि, नाम मात्र का रटना ही इष्टसाधक है। अन्यथा जैसे पत्थर की गाय से स्तन मसलने पर या पपोलने पर दूध से पात्र नहीं भरा, वैसे ही तुम्हारे गाय २ ऐसा नाम मात्र रटन करने पर भी जो दूध का पात्र खाली रहा, तो तुम्हारा नाम मात्र रटना भी तो व्यर्थ ही हुआ। अतएव यदि नाम लेना (जप करना या माला फेरना) ठीक है तो प्रतिमाजी का पूजन भी अवश्य करना चाहिये। केवल नाम मात्र का लेना व्यर्थ जानो, इस लिये नाम रटो तो प्रतिमा को भी मानो, समझो गुरु ज्ञानों, छोडो अज्ञानों, झूठ पक्ष को क्यों तानों? आत्मार्थ सिद्ध करना हो तो हमारा वचन मानों। इस समाधान को सुनकर मूर्त्ति-खण्डक फिर दूसरी कुयुक्ति उठाता है, दिल में नहीं शरमाता है, बोलता है कि—जैसे एक देवदत्त नाम का ब्राह्मण था। उसने बड़ी अवस्था में सादी की। और उसने अपना एक चित्र (तस्वीर) बनवाकर अपनी स्त्री को दिया, और बोला कि देखो, इस चित्र (फोटो) में और मुझमें कोई अन्तर (फरक) नहीं, इसको पास रखो और मेरे सदृश समझो। कुछ समय व्यतीत होने बाद वह देवदत्त मर गया। लोगों ने उसके अन्त्येष्टि (मरने के बाद जो क्रिया करने में आवे सो) संस्कारादि भी कर दिये। उसके थोड़ा काल बाद उस देवदत्त ब्राह्मण की स्त्री के पास अपने पति का चित्र (तस्वीर या फोटो) बना हुआ रखा ही था, और वह कह ही गया था कि इस चित्र को मेरे समान समझना। इस पर भी उस स्त्री ने सौभाग्य चूड़े को तोड़ा अथवा न तोडा? उस स्त्री को लोगों ने विधवा (पति बगर की) अर्थात् राण्ड कहकर पुकारा या न पुकारा? उस स्त्री को पुत्रादि की चाहना तो अवश्य ही थी; किन्तु पुत्रादि हुआ अथवा न हुआ? तुम मूर्त्ति-पूजकों को भी कहना ही पड़ेगा कि उस स्त्री ने चूडा फोड़ा था और लोग विधवा (राण्ड) ही कहते थे और उस स्त्री को सन्तानोत्पत्ति भी न हुई। मूर्त्तिपूजको! जरा तो विचारो, देवदत्तकी मूर्त्ति देवदत्त के समान होते हुए भी चूडा फोडना न छूटा, विधवा कहना भी न मिटा, पुत्रादि की उत्पत्ति भी न हुई। तो

"जिन-प्रतिमा जिन-सारखी कही सूत्र मंझार" इस वाक्य की बनावट से क्या लाभ हुआ? और तुमने मूर्त्ति को सदृश बनाकर क्योंकर पूजन धारा, व्यर्थ द्रव्य खर्च कर डारा, मनुष्य जन्म हारा, बुद्धि से न किया विचारा। इस लिये नाम को ही धारो, हमारे ज्ञान को विचारो, क्यों लोगों को झगड़े में डारो, हमारे कहने को सम्हारो।

इस कुयुक्ति या कुतर्क को बुद्धिमान् सुनकर विचार करते हैं कि, मूर्त्ति को नहीं मानने वाले कैसी कुतर्क-युक्ति उठाते हैं, गुरुज्ञान बिना झगड़ा मचाते हैं, उत्तर देने वालों के सामने अटक जाते हैं, फिर पीछे पछताते हैं। अस्तु, मैं उस कुयुक्ति का समाधान कर दिखाता हूँ, पाठक-गण आत्मार्थि भव्य जीव उसे बुद्धि से विचार करेंगे, तो उन जालियों के जाल में न फँसेंगे, योगाभ्यासियों का सङ्ग भी करेंगे, मुक्तिपद को जाय वरेंगे, फिर संसार में न रुलेंगे (न भटकेंगे)। सो पीछे कहे हुए कुतर्कात्मक उदाहरण का समाधान इस तरह है कि, मूर्त्ति न मानने वालो! देवदत्त ब्राह्मण ने अपनी स्त्री को यह भी कहा था कि—मेरा नाम देवदत्त है इसे खूब रट ले, और आसन बिछा हाथ में माला ले बैठकर मेरा नाम का जप करने से तेरे सभी मनोरथ पूरे होंगे। फिर उस स्त्री ने वैसा सुन समझकर किया और करती रही। किन्तु करने पर भी कितने दिन के बाद देवदत्त मर गया। लोगों ने अन्त्येष्टि-संस्कारादि कर दिया और उसकी स्त्री आसन बिछा माला ले बैठी, और देवदत्त २ रटना करने लगी। तो हम तुम्हें पूछते हैं कि, सौभाग्य चूड़ा उसने तोड़ा या नहीं? तो तुम्हें कहना ही पड़ेगा कि चूड़ा अवश्यमेव फोड़ा। और उसे विधवा कहते हैं वा नहीं? सन्तान उत्पन्न करने की चाहना रहने पर भी हुई वा नहीं? तो सर्वत्र तुम्हे नहीं के अतिरिक्त और कोई उत्तर स्फुरित न होगा अर्थात् स्फुरेगा नहीं। भोलेभाले मूर्त्ति-पूजा-खण्डको! यदि तुम्हारे प्रथम और द्वितीय कुतर्कात्मक उदाहरण से मूर्त्तिपूजा हमारी सिद्ध नहीं हुई; तो तुम्हारी नाममात्र-रटना हमारे समाधान से कैसे सिद्ध होगी? यदि नाममात्र जपने में तरेगा, तो साधु

यह भी निश्चय ही ठान लो कि—मूर्त्तिपूजन से भी तरेगा। प्रत्युत जो आकार देखने से आकारवाली वस्तु का यथावत् बोध होता है, वह नाममात्र रटने से नाम वाली वस्तु का बोध नहीं होता। जैसे कि गुड़ २ कहने से किसी का मुँह मीठा नहीं देखा गया। जो मनुष्य आकार को जानता है, वह मनुष्य नाम लेने से वस्तु को ला सकता है। यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि जैसे दो मनुष्य बैठे थे, उस समय किसी ने कहा कि घट ले आओ। उनमें से जो मनुष्य जानता था कि कम्बुग्रीवादि वाला घट कहा जाता है, वह तो शब्द सुनते ही क्षण में घट उठा लाया। और जो मनुष्य कम्बुग्रीवादि आकार वाले घट से अपरिचित था, शब्द को सुन कर इधर उधर ताकते ही रह गया, और ला न सका। अथवा दूसरा दृष्टान्त और भी देते हैं कि—किसी साहूकार के यहां दो भृत्य (नौकर) थे। एक तो पुराना था, और दूसरा नवीन—उसी दिन किसी गांव के रहने वाला नया नौकर हुआ था। उसी समय सेठजी दिसा जङ्गल होकर हाथ धोने को बैठे, और नये नौकर से कहा कि—रे झारी ले आओ। तब ग्रामीण (पेण्डू) नौकर, झारी शब्द सुनकर इधर उधर देखने लगा और झारी न ला सका। तब पुराने नौकर ने जो कि दूर पर काम कर रहा था और शब्द सुना था, झारी लाकर सेठजी के हाथ धुलाये। पुराने नौकर ने उस नवीन नौकर को टोंटी के आकार वाले पात्र को दिखाकर समझाया कि इसे झारी शब्द से पुकारा जाता है, यह झारी है। इस प्रकार झारी शब्द का बोध कराया। इस लिये तुम्हारे नाम का स्मरण बुद्धिमानों की बुद्धि में न आया, सर्वदा वीतरागदेव ने मूर्त्ति-पूजन फरमाया, आत्मार्थि भव्य जीव के हृदय में हमारा उपदेश समाया, अज्ञानियों के लिये हमने ज्ञानरूपी खड्ग उठाया, मूर्त्ति नहीं मानने वाले अज्ञानियों के अज्ञान को भगाया, मूर्त्तिपूजन सनातन से चला आया, योगाभ्यास बिना मूर्त्ति का मर्म किसीने न पाया, बिना देखे आकार क्योंकर बोधिबीज लाया, इस लिये भगवान् ने आत्मा को घट में खोजना बताया। इस रीति से विचार करना चाहिये कि जैसा

बोध, फोटो या मूर्त्ति से अथवा चित्र देखने से होगा, वसा नाम से बोध कदापि न होगा ; क्योंकि नाम कल्पित है। वह कल्पना किसकी है? माता पिता की इच्छानुसार की हुई है। अथवा ज्योतिषशास्त्र के पण्डित घड़ी, पल, मुहूर्त्त के ऊपर लग्न का विचार कर नाम की कल्पना कर रख देते हैं। किन्तु वह नाम, कर्मानुसार परभव से माता के गर्भ में जो जीव आता है, उसके साथ उस जीव का नाम नहीं आता। इस लिये नाम से यथार्थ बोध कदापि नहीं हो सकता। दूसरा और भी सुनिये कि, नाम के जो अक्षर हैं उनमें रागी व द्वेषी, क्रोधी, मानी, मायावी, अथवा लोभी व निरागी, अद्वेषी, अक्रोधी, मानरहित, कपट से रहित, निर्लोभादि गुणगण वा अवगुण समूह नहीं प्रतीत हो सकते हैं। और मूर्ति जो बनती है वह जैसा जिसका आकार व शरीर की चेष्टा होगी उसके अनुसार ही फोटो-मूर्त्ति-चित्रादि बनते हैं। वह आकार शरीर का ही होता है, न माता का न पिता का और न तो ज्योतिषियों का कल्पित वनता है। किन्तु जीव जो प्रथम दिनों में अपने शुभ वा अशुभ कर्मो के करने से शुभ वा अशुभ पुद्गलो को सञ्चय किया रहता है, उन्हीं पुद्गलों को कर्मानुसार माता के गर्भ में ले आता है, और तदनुसार अपने शरीर की रचना करता है। उसी कर्म-वर्गणा के अनुसार शरीर की शोभित वा अशोभित खोटी वा खरी आकृति वनाकर माता की योनि से वाहिर आता है। जिस जीव की पूर्व भव में प्रकृति अच्छी वँधी है, अथवा धर्म का भली भांति संग्रह किया है, वह जीव उस धर्म के प्रभाव से शरीराकृति, इन्द्रियां, वल, पराक्रम, ज्ञान, सुखादि सर्व अच्छी तरह से प्राप्त किये रहता है ; तथा औरों को देना दिलानादि गर्भ में आते ही प्रकट करता है। तथा जन्म लेने के वाद भी उसके आचरण ऐसे होते हैं कि, उस वालक को सभी चाहते हैं, एवं प्यार करते हैं, और पूज्य—सब के मानने योग्य हो जाता है। जो जीव प्रथम भवों में ही अधर्म करता है, वह उस अधर्म के प्रभाव से ऊपर लिखे गुणों से विपरीत अनुभव करता तथा करवाता है। और जन्म लेने के वाद भी

सभी उसे तिरस्कृत (घृणित) भाव से देखते हैं। इसी तरह सवत्र नाम में भी सङ्गत कर लेना चाहिये। इस स्थान में मुझे एक मिसाल याद आई, पाठकगणों को कह सुनाई, इसको ध्यान में सुनकर आजमाइश कर लेना रे भाई। सो मिसाल इस तरह है कि, किसी स्त्री ने अपने बालक का आचरण देखकर कहा कि, "पूत के पांव पालने में दीखते हैं" उस समय उस लड़के का पिता भी वहीं खड़ा था, सुनकर स्त्री को उत्तर देने लगा कि, पालने में नही किन्तु 'गर्भ' में मालूम हो जाते हैं। क्योंकि देख, गर्भ में जब जीव आता है, और वह यदि भाग्यवान् होता है तब उस औरत का मन दान देने को, दूसरे के उपकार करने को अथवा देवपूजन को या गुरुभक्ति को चाहता है। तथा उस भावी बालक की माता खाने पीने के लिये अच्छे २ पदार्थों को चाहती है। भले २ मनोरथों के पूर्ण होने की चाहना करती है। कभी भूलकर भी अशुभ अध्यवसाय में नहीं जाती। यदि कोई पापी दरिद्री अधर्मात्मा गर्भ में आया, तो उस स्त्री का दिल मट्टी-राखादि अशुभ वस्तुओं के खाने को चाहता है तथा अध्यवसाय अशुभ होता है, कुकृत्यों में लगे रहना सूझता है। दूसरा और भी किसी ने ठीक कहा है—

"जब लाला ने जन्म लिया, तब बाजे तम्बक तूरा।
जब लाला ने होश सम्हारा, तब खाक रही न धूरा॥"

इस रीति से जो फोटो मूर्त्ति एवं चित्रादि देखने से लाभ होगा, सो नाममात्र से कभी भी नही हो सकता। इसलिये इन हमारी युक्तियों को जानो, समझ लो गुरुज्ञानो, भगवद् की आज्ञा को भी मानो, आकार सहित नाम का कर ध्यानो, आकार विना नाम से कुछ न पहचानो, योगाभ्यास बिना मूर्खपन को मत तानो, सनातनधर्म पहिचानो, जिसमें होय तुम्हारा कल्यानो। इन युक्तियों को सुनकर फिर मूर्त्ति न मानने वाले कहते हैं कि, आप युक्ति देते हो, परन्तु कबीर साहब, नानक गुरु, निरञ्जनी, हरिदासजी, दादू साहब, रामस्नेही, रामचरणजी, खेडा पाखा, रामदासजी, दरियादासजी इत्यादि अनेक महात्मा हो गये हैं, जिन्होंने

नाम की महिमा ही कही, और मूर्त्ति का निषेध किया है। क्या वे सब महात्मा बेसमझ थे? यह तो किसी से भी कहा नहीं जा सकता, क्योंकि वे तो प्रसिद्ध चमत्कारी महात्मा थे। उनके पीछे हजारों, लाखों, मनुष्य उनके आराधक हैं, और उनके मत (पन्थ) चल रहे हैं। इस लिये नाम को ही मानो, मूर्त्तिपूजन मत तानो। उत्तर—हे देवानुप्रिय! यदि तुम्हें उनका अभिप्राय ज्ञात होता तो तुम ऐसा कभी भी न कहते कि उन्होंने मूर्त्ति का निषेध किया, और नाम को ही रटा। देखो कबीर साहिब, रामानुज स्वामी के शिष्य थे, और रामानुज स्वामी तो मूर्त्ति के मुख्य पूजक थे और निम्बार्क, वल्लभाचार्य, शङ्कर स्वामी, नैयायिक, बौद्ध, सांख्य, जैन अथवा श्रीरामचन्द्रादि अवतार पुरुषोत्तम सभी मूर्त्तिपूजन करते चले आये, तो क्या उनके समझ न थी? यह तो सर्वथा असम्भवित है कि उन्होंने मूर्ति को न माना हो, प्रत्युत ऊपर लिखे महात्माओं, अवतारों, सब मत वालों ने आकार-सहित मूर्ति की पूजा तथा नाम का अङ्गीकार किया है तथा जगह २ मूर्ति की स्थापना कर भव्य जीवों को धर्म में लगाया, भगवद्भक्ति से मोक्षमार्ग बताया। कबीर साहिब आदि से पहले जो अवतारादि हुए हैं, उन्होंने जब मूर्तिपूजा का विधि-विधान-उपदेश दिया और स्वयं आचरण में लाये तो उनके अनुयायिवर्ग कैसे उनके वचनों को उल्टा पल्टा कर निषेध करेंगे? क्या परभव से वे न डरेंगे? इस लिये अब हम तुम्हें कबीर आदि सब का अभिप्राय दिखाते हैं,—उन लोगों का क्या अभिप्राय था, मूर्तिपूजा के निषेध में उनका तात्पर्य नहीं था। यदि उनका विचार मूर्तिपूजा के विरुद्ध होता तो आरति-चौका करके शिष्य कदापि न बनाते। क्योंकि प्रथम तो कबीर-पन्थियों में कई प्रकार के भेद, और जुदी २ गद्दियां हैं। सो किसी गद्दी में तो महीने के महीने चौका आरती होती है, किसी में छट्ठे महीने होती है, और किसी में होली दिवाली पर होती है। किसी में जब कोई चेला करते हैं तब आरती चौका करते हैं। अब चौके और आरती का भेद सुनिये। पहले वे शुद्धियुत जल से भूमि को पवित्र

कर चौका लगाकर एक तरफ कुशा बिछाकर ऊपर सफेद चद्दर बिछा देते हैं, और उस पर उपधान रखकर तकिया लगाकर फूलों की माला रखते हैं। कई केवल खड़ाऊँ रखते हैं। कई केवल दीपक जलाकर रखते हैं। इसी रीति से धूपादि करके बताशे आदि सब को बांटते हैं। और पान बताशे उनको देते हैं जो उनके घर का शिष्य होता है। और उस दिये हुए पान बताशे को परवाना बताते हैं। तथा मन्त्र भी सुनाते हैं। उस मन्त्र को ही वे शब्द बताते हैं। इस शब्द के भेद तथा क्रियायें समस्त घट में देखने की हैं, वह समस्त आगे हम कहेंगे। यहां तो प्रसङ्ग से उनके चौके-आरती की ही बात कहनी थी। यह इस लिये कि जो लोग यह कहते हैं, कबीर साहिब, मूर्त्ति का निषेध करते हैं। तो कबीर-साहिब मूर्त्ति का निषेध करते तो, ऊपर लिखी चौका आरती असद्भूत क्रिया (एक प्रकार की असद्भूत स्थापना) कुशादि के ऊपर चद्दरादि बिछाना, वा उसके ऊपर पुष्पों का छिटकाना, और उसमें कबीरजी की स्थापना कदापि न मानते ; केवल शिष्यों को कण्ठी बांध कर शब्द रटा देते। उनका सम्प्रदाय में आरति आदि की जो परम्परा, इस सब का नाम भी न लेते। गुरु नानकजी के यहां भी श्रीगुरुग्रन्थ साहिब की स्थापना सदैव रहती है। और उसी का पूजनपाठादि उनके मत वाले करते रहते हैं। और अमृतसर में गुरु नानक की सङ्गत में चरणादि की स्थापना भी है। ऐसे ही निरञ्जनियों में भी प्रतिवर्ष समस्त साधु डिडवाने में एकत्र होकर हरिदासजी की चरणपादुका का मेला भरते हैं। ऐसे ही नरायाने में दादूजी के सबके सब चिह्न गवाक्षों आलों में रखे हुए हैं। प्रायः सभी साधु दादूपन्थ के वहां इकट्ठे होकर मेला भरकर दिन विशेष मनाते हैं।

इसी तरह सायपुरा में रामचरणजी की पादुका (चरणपादुका) तथा छत्री (छतरी) बनी हुई है, उस स्थान में भी प्रायः रामस्नेही साधु और गृहस्थ वर्ष के वर्ष इकट्ठे होते हैं।

वैसे ही दरियादासियों में रामपुरा (रापुरा) नाम का एक गांव

मारवाड़ में है ; उसमें एक मकान बना हुआ है। तथा उसके अन्दर दरियावजी का आकार बनाकर रखा है। उस जगह भी प्रति छ मास दरियादासी साधु एवं गृहस्थ इकट्ठे होते हैं।

ऐसे ही खेड़ा पाखा रामदासजी का मारवाड़ में सीता खेड़ा गाँव है उस जगह उनके मकान का भी मेला लगता है। और इनकी दो गद्दियां जोधपुर में भी है, उस जगह इनके गुरु आदि की चरणपादुका की वेदी बनी हुई है। और दरियादासिओं की भी एक गद्दी नागोर में है। वहां पर भी दरियाव की चरणपादुका, तथा वहां के महन्तों की तस्वीरें-चित्रादि भी लगे हुए हैं, खींचे हुए भी हैं। इन सम्प्रदायिओं की तस्वीरों के अतिरिक्त जैनियों की चौवीसी के चित्राम-फोटो आदि उनकी वेदि में रहते हैं। यहां यह शङ्का अवश्यमेव होती है कि उनके फोटो आदि उनकी वेदिमें रहो, किन्तु जैन चौवीसी अर्थात् जैन २४ तिर्थङ्करों के फोटो रखने का क्या कारण है? उसके विषय में यों समझिये कि दरियावजी ने अपने मत को नागौर में रहनेवाले एक श्रावक से सीखकर चलाया, इसी लिये वेदिका में चौवीस तीर्थकरों का चित्राम बनाया, अपने जाति-कुल को वा बाप दादे के देव को माथा नमाया, उनकी आकृति को देख कर अपने चित्त को शान्ति में लाया। इस तरह का जो हाल हमने ऊपर दिखाया है, उसमें यदि किसी को सन्देह हो तो जो २ स्थान हमने दिखाये हैं, वहां जाकर प्रत्यक्ष देखकर अपने सन्देह को दूर करें, मूर्त्ति का पूजन अवश्यमेव करें, जिस से मुक्तिपद को जाय वरें, योगाभ्यास को भी चित्त में धरे, जिससे कर्म-बन्ध के हेतु भी दूर करे, उस शान्ताकार को देखकर चित्तमें शान्ति धरे। इस लिये स्थापना को मानना चाहिये। जिनका प्रमाण मूर्त्ति निषेधके लिये दिया, उल्टा वे तो मूर्त्ति मानने मनाने में प्रमाणभूत निकले। इस समय में दुःखार्त्त एवं मोहार्त्त होकर विशेष तृष्णाओं के नाश के बदले अपनी आजीविका बनाना, खूब माल उड़ाना, जगह २ मन्दिर बनवाकर अपनेको पूजाना, मन्दिरजीमें ठाकुरजी का नाम ले खूब स्त्री पुरुषों को बुलाना, दर्शन का नाम ले भोले जीवों को मेल में

लगाना, खूब गाजे, बाजे, झांझ, मञ्जीर, सारङ्गी, मृदङ्ग, ढोलक, खड़काना; सितार, ताल, तम्बूरा, तबला, वीणा, बांसुरी, अनेक बाजों का बजाना; नाच, कूद, रङ्ग-राग, खेल, रास कर स्त्री पुरुषों को बहलाना; भक्त जनों का तो थोड़े (स्वल्प) में आना, व्यभिचारियों का ठसकर भर जाना, हिन्दु, मुसल्मान ऊँच नीच किसी का न वहां ठिकाना, जैनी और वैष्णव सबोंने इसी में धर्म जाना। ऐसा गोलमाल जब वर्त्तमान समय में होने लगा, तब इन ऊपर कहे हुए महात्माओं ने व्यभिचार मिटाने के लिये, नाच कूद रङ्ग राग व्यसनादि इन्द्रियों के विषयों को मिटाने के लिये, अपने एक निराले ढङ्ग से उपदेश देना आरम्भ किया, न कि भगवद्भक्ति के द्वार-स्वरूप मूर्त्ति-पूजन के मिटाने के लिये। इस लिये हे भोले भाई स्थापना को अवश्य मेव मान, जिस से होय तेरा कल्याण।

इतने पर भी मूर्त्ति के न माननेवाले को ख्याल आया कि मैंने तो निषेध किया, परन्तु इन्होंने तो युक्ति से पूजन बतलाया, फिर भी अपना विकल्प- उठाया, नवीन आर्य समाज के प्रवर्त्तक दयानन्दजी को बतलाया। उन्होंने वेद की रीति से मूर्त्ति का निषेध किया है। अब वे दिखाते हैं कि—देखो सत्यार्थ-प्रकाश का ग्यारहवाँ समुल्लास :— मन्त्रः "अन्धं तमः प्रविशन्ति, येऽसम्भूतिमुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳ रताः। यजुः अ०४ ।मं।९।। न तस्य प्रतिमाऽस्ति। यजुः। अ०३२ ।मं०३।। यद्वाचा नाभ्युदितं येन वाचाभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ यन्मनसा न मनुते, येनाहुर्मनसो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते॥ यच्चक्षुषा न पश्यति, येन चक्षूंषि पश्यन्ति। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन शृणोमिदꣳ श्रुतं। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ (केनोपनिषद्) अर्थ-जो असम्भूति अर्थात् अनादि कारण प्रकृति की, ब्रह्म के स्थान में उपासना करते हैं वे अन्धकार अर्थात् अज्ञान और दुःख सागर में डूबते हैं। और जो सम्भूति कारण से उत्पन्न हुए कार्य-

रूप पृथिवी आदि भूत, पाषाण और वृक्षादि अवयव, और मनुष्यादि के शरीर की उपासना ब्रह्म के स्थान में करते हैं, वे उस अन्धकार से भी अधिक अन्धकार अर्थात् महामूर्ख, चिरकाल घोर दुःख रूप नरक में गिर के महा क्लेश भोगते हैं॥ जो सर्वत्र व्यापक है उस निराकार परमात्मा की प्रतिमा की प्रतिमा, परिमाण, सादृश्य वा मूर्त्ति नही है॥ जो वाणी की इयत्ता अर्थात् यह जल है लीजिये वैसा विषय नहीं; और जिस के धारण और सत्तासे वाणी की प्रवृत्ति होती है, उसी को ब्रह्म जान और उसकी उपासना कर और जो उससे भिन्न है वह उपासनीय नहीं॥ जो मनसे इयत्ता करके मन में नहीं आता जो मन को जानता है; उसी को ब्रह्म जान, उसी की उपासना कर, जो उससे भिन्न जीव तथा अन्तःकरण है; उसकी उपासना ब्रह्म के स्थान मे मत कर॥ जो आंखों से नहीं दीख पडता, और जिससे आंखे देखती है; उसी को तू ब्रह्म जान और उसकी उपासना कर, और जो उससे भिन्न सूर्य, विद्युत् और अग्नि आदि जड़ पदार्थ हैं, उनकी उपासना मत कर॥ जो श्रोत्र से नहीं सुना जाता, और जिस से श्रोत्र (कान) सुनते हैं; उसी को तू ब्रह्म जान और उसी की उपासना कर, और जिससे जो भिन्न शब्दादि है, उनकी उपासना उस ब्रह्म के स्थान में मत कर॥ जो प्राणों से चलायमान नहीं होता; और जिस से प्राण गमन को प्राप्त होते हैं, उसी को तू ब्रह्म जान, और उसकी उपासना कर, और जो उससे भिन्न वायु है, उसकी उपासना मत कर इत्यादि बहुत से निषेध है॥ इसी रीति से दयानन्दजी ने फरमाया, पण्डितों की पण्डिताई को गमाया, वेद का ही प्रमाण दिखाया, मूर्त्ति का निषेध कराया, सर्व के वास्ते मोक्षमार्ग बताया, आर्य समाज का बीज बो दरख़्त लगाया, वर्त्तमान काल में खूब उन्नत भाव कर दिखाया॥ इस लिये मूर्त्ति मत मानों, केवल नाम स्मरण को पहिचानों, जिस से तुम्हारा हो कल्यानों।

हे देवानुप्रिय! तुमने दयानन्द सरस्वती के बनाये हुए सत्यार्थ-प्रकाश के ग्यारहवे समुल्लास में मूर्त्ति निषेध बताया, उसमें वेद के मन्त्रों

का प्रमाण भी दिखलाया, परन्तु इन मन्त्रों का अर्थ दयानन्द सरस्वतीजी की समझमें न आया, ऊटपटांग अर्थ कर सनातनधर्म से लोगोंको उठाया, भक्ति मार्ग से लोगों को छोड़ाया। हां, एक बात में तो हम दयानन्दजी को धन्यवाद देते हैं कि यदि दयानन्द सरस्वतीजी इस नवीन आर्य-समाज रूपी वृक्ष की जड़ न लगाते तो सोये हुए सर्वमतावलम्बी जागृति को न पकड़ते, और विद्याहीन होते हुए अपने जाति, कुल, देशाभिमान के लिये सर्वदा सोये के सोये रह जाते। उन्होंने दुष्ट, व्यसनी, ठग, धूर्त्तों को भगाया, मुफत मजा उड़ाने वालों को चाबुक लगाया, और विद्वानों को सोने से उठाया, फिर से इस आर्यावर्त्त में विद्या का अङ्कुर जमाया, इस लिये हमने भी दयानन्दजी को धन्यवाद सुनाया। जो लेख उन्होंने लिखा है वह उनकी समझ में न आया, इस लिये समीक्षा करने के लिये हमने भी अवसर पाया, और पाठकगणों को साफकर दिखाया। पाठकगण जो अर्थ स्वामीजी ने लिखा है, उसे और जो अर्थ हम लिखते हैं, उसकी विचारणा करें। मन्त्र में दो शब्द निकलते हैं एक तो असम्भूति, और दूसरा सम्भूति, इन दोनों शब्दों की जो कोई उपासना करेगा, उसको दुष्ट घोर नरक का क्लेश होगा। क्योंकि देखो उस मन्त्र में प्रकृति-कारण अथवा पाषाणादि-कार्य वा ब्रह्म आदि कोई शब्द न ही हैं, यह शब्द दयानन्दजी ने अपनी मनःकल्पना से कल्पित करके अर्थ में लिख दिये, परन्तु मन्त्र में किसी का नाम नहीं, इस लिये नवीन आर्य-समाजिओं से पूछना चाहिये, कि तुम मन्त्र में सम्भूति वा असम्भूति से मूर्त्तिका निषेध कैसे करते हो? इस असम्भूति और सम्भूति से ईश्वरका भी निषेध होता है सो दिखाते हैं—जिस ईश्वरको तुम लोग मानते हो वह ईश्वर सम्भूति-शब्दार्थ है वा असम्भूति शब्दार्थ है? जो असम्भूति-शब्दार्थ कहो तो असम्भूति-शब्दार्थ होने से उसकी उपासना करने पर अन्धकार अज्ञान और दुःख सागरमें प्रवेश करना होगा। कदाचित् कहो कि सम्भूति-शब्दार्थ है तो उस ईश्वर में दो दूषण आते हैं—पहिले सम्भूति अर्थ वाला होने से ईश्वर उत्पत्तिवाला ठहरा, जब उत्पत्तिवाला ठहरा तो नाश

वाला भी ठहरेगा, तो तुम्हारा माना हुआ नाश रहित अनादि—अनन्त ईश्वर कैसे सिद्ध होगा? दूसरा दूषण यह है कि जो उस उत्पत्ति वाले ईश्वर की उपासना करेगा, वह उस अन्धकार से भी अधिक अन्धकार अर्थात् महादुःखरूप घोर नरक में चिरकाल तक रहकर महाक्लेश भोगेगा। इस लिये दयानन्दजी की समझ में इस मन्त्र का अर्थ नहीं आया, उनके अर्थानुसार ईश्वर का स्मरण भी उठाया, पाठकगण ने मुक्ति का रास्ता न पाया, इस जगह हमें एक मसल का स्मरण आया, दयानन्दजी के ऊपर उतारकर घटाया। वह मसल यह है कि "मियांजी रोजे छोड़ने गये परन्तु उलटी निमाज़ गले में आई" इसका भावार्थ यह है कि स्वामीजी ने मूर्त्ति का निषेध किया, सो तो हुआ नहीं, परन्तु उल्टा उनके अर्थानुसार ईश्वर का निषेध हो गया। अस्तु। पाठकगण को और युक्ति दिखाते हैं— स्वामीजी कहते हैं कि अनादि कारणरूप प्रकृति की ब्रह्म के स्थान में जो उपासना करते हैं, वे अन्धकार, अज्ञान और दुःखसागर में डूबते हैं। अब इस जगह विचार करना चाहिये कि, प्रकृति, कारण, ब्रह्म, इन तीनों में से एक भी शब्द मन्त्र में नहीं है। तब बिना ही किसी भी शब्द के उनको किस बुद्धिरूप खाड़े में से ले आये? ऐसी इनकी कल्पना होने से इनको उलटा भ्रम उत्पन्न हो गया, इनका पढ़ा हुआ व्याकरण भी खो गया। इन नव्य आर्यसमाजियों से पूछो कि तुम्हारा ब्रह्म साकार है या निराकार? तो इन्हें कहना ही पड़ेगा कि ब्रह्म साकार नहीं किन्तु निराकार है। और प्रकृति भी निराकार है या साकार? इसमें भी कहना पड़ेगा कि प्रकृति साकार है निराकार नहीं। तो इनसे पूछना चाहिये कि निराकार ब्रह्म में साकार की उपासना व कल्पना क्योंकर बनेगी? जिससे निराकार में साकार की उपासना तो दयानन्द सरस्वतीजी या नवीन आर्यसमाजी बुद्धिविचक्षण के सिवाय मूर्त्ति पूजने वाला कदापि न करेगा क्योंकि मूर्ति पूजने वाले दृश्य पदार्थ में अदृश्य पदार्थ की उपासना करते हैं। सो ही पाठकगणों को दिखाते हैं कि,— मूर्ति पूजने वाले सज्जनगण! तुम जो मूर्तिपूजन करते हो, वह मूर्ति में

ईश्वर मानकर पूजते हो ? या ईश्वर में मूर्ति मानकर पूजते हो ? तो मूर्ति पूजने वाले यही उत्तर देंगे कि हम तो ईश्वर में मूर्ति मानकर नहीं पूजते, किन्तु मूर्ति में ईश्वर मानकर पूजते हैं, क्योंकि ईश्वर अदृश्य है, और हम मूर्ति को तो अपनी आंखों से देखते हैं। इस लिये हम उस मूर्ति में ईश्वर को मानकर पूजते हैं, नमस्कार स्तुति आदि करते हैं। उस मूर्ति के सामने बैठकर जैसा हमारे ईश्वर का आकार था उसी आकार में मूर्ति को देखकर ईश्वर का ध्यान करते हैं, पापों को हरते हैं। पाठक इस तरह दयानन्द सरस्वतीजी का अर्थ भ्रम उठाने वाला, ईश्वर को न बताने वाला होने के कारण निराकार ब्रह्म की उपासना कैसे जतला सकेगा ? क्योंकि जो ब्रह्म हमारे अगोचर है, निराकार है, देखने में नहीं आता, उसकी उपासना कैसे बन पड़ेगी? दूसरा जो संभूति कारण से पैदा हुए कार्यरूप-पृथिव्यादि भूत, पाषाण वृक्षादि अवयव और मनुष्यादि शरीर की उपासना ब्रह्म के स्थान में करते हैं वे उस अन्धकार से भी अधिक दुःखरूप घोर नरक में पड़ते हैं। इस जगह भी ब्रह्म जो निराकार अर्थात् किसी को देखने में न आवे, उसमें पृथिवी, पाषाण, वृक्षादि अवयव, मनुष्यादि के शरीर जो दृश्य हैं, उन दृश्य वस्तुओं की निराकार ब्रह्म में क्योंकर उपासना बनेगी ? यह ब्रह्म निराकार अर्थात् आंखों से न देखा जा सके उसमें देखने योग्य वस्तु की कल्पना वा उपासना करना, ऐसा अपूर्व ज्ञान उलटा भ्रम में गेरने वाला दयानन्दजी वा उन नवीन आर्यसमाज वालों के सिवाय मूर्त्तिपूजक जैन वा वैष्णवादि किसी भी तरह समञ्जस न समझ सकेंगे। इस रीति से पाठकगण अपनी बुद्धि से विचार करो, मूर्त्तिपूजन को हृदय में धारो, सनातन रीति को सम्हारो, जिससे उतरे भव पारो। इसलिये हे भद्र पुरुषो ! हमने ग्रन्थ बढ़ जाने के भय से एक मन्त्र का ही अर्थ करके दिखलाया, तुम्हारे सत्यार्थप्रकाश के लिखाये हुए सभी अर्थ समीक्षा में न लाया, क्योंकि हमारे किये हुए "नवीन आर्यसमाज भ्रमोच्छेदन-कुठार" अर्थात् दयानन्द मत निर्णय में इन सब का अर्थ बहुतसी युक्तियें देखकर समझाया, इससे

हमने यहां पाठकों को नहीं दिखाया, केवल एक मन्त्र का नमूना दिखलाया, तुम्हारे मूर्त्तिनिषेध को जड़मूल से भगाया। इस पर भी मूर्त्तिपूजा के निषेध करने वाले कहते हैं कि आपने अन्य २ मत की रीति से मूर्त्ति का निषेध न माना। परन्तु आपके जैनमतानुसार अब मूर्त्तिपूजन का निषेध करते हैं, दयाधर्म को आगे धरते हैं, बाईसटोला, तेरहपन्थी झगड़ते हैं। जैनधर्म में विशेषतः दयाधर्म की प्ररूपणा की गई है। जब मूर्त्तिपूजन होगा तो दयाधर्म कैसे बन पड़ेगा? और जो दयाधर्म का ही निरूपण करेगा, तो मूर्त्तिपूजन कैसे सिद्ध करेगा? क्या परभव से न डरेगा? इस लिये मूर्त्तिपूजन ठीक नहीं।

उत्तर—हे देवानुप्रिय! मूर्त्तिपूजन जैनमत में अनादि काल से चला आया है। इसका खण्डन क्या तेरहपन्थी और बाईसटोला से हो सकता है? कभी भी सम्भावित नहीं, क्योंकि शास्त्रानुसार सिद्ध कर दिखावेंगे, तुम्हारे सन्देह को भगावेंगे, नवीन युक्ति भी दिखावेंगे, आत्मार्थि जीवों को अच्छी तरह समझावेंगे, शास्त्र का प्रमाण भी दिखावेंगे।

प्रश्न—आप कहते हैं सो तो ठीक है, परन्तु हम एक दृष्टान्त देते हैं उसको सुनो और ध्यान में लाओ, क्यों नाहक झगडा मचाओ। स्थानकपन्थी बाईसटोला के साधु आम्नाय में एक सद्गृहस्थ की पुत्री (कन्या) ने बालकपन से ही साधुमार्गि धर्म के सम्बन्ध से स्थानकवास में नित्य जाने आने से, तथा बोल (पैंतीस बोल—आदि) सीखने से साधुमार्गियों के विचारों से परिपक्व श्रद्धा वाली हो गई थी। वैसे ही स्थानकवास के आम्नायानुसार व्रत उपवासादि का परिशीलन करती थी। किन्तु दैवानुसार कर्मवश से उसकी सगाई (विवाह से पूर्व का सम्बन्ध) उसके पिता ने किसी मूर्त्तिपूजक से कर विवाह होने बाद जब मन्दिराम्नाय वाले अपने श्वसुरगृह (ससुराल) में आई, तो देखती है कि सभी सम्बन्धी मन्दिराम्नायी (मन्दिर के मानने वाले) हैं। कोई भी स्थानकवासी नहीं। बेचैन होकर विचारने लगी कि अब क्या किया जाय? हो सके तो पहले अपनी सास को अपने साधुमार्ग में अर्थात्

स्थानकवास-धर्म में प्रतिबुद्ध करूं, अर्थात् अपने धर्मानुसार इसे उपदेश दूँ और किसी साधु से सम्यक्त्व (श्रद्धान) दिलाऊँ। इसी विचार ही विचार में थी कि, एक दिन उसकी सास ने कहा कि बेटी ! मैं नित्य प्रति मन्दिरजी जाया करती हूँ, आज तू भी हमारे साथ चल, मैं भी नित्य दर्शन किया करती हूँ वैसे ही तू भी किया कर। तब स्थानकवासिनी स्नुषा (पुत्रवधू—बहू) सास के वचन को ऊपर २ से मानकर और भीतर से रुचि-शून्य हो सास के साथ चली और विचारा कि आज सासजी के साथ जाऊँ, इसे प्रतिबोध लगाऊँ, मन्दिर की आम्नाय छुड़ाऊँ, साधुमार्ग का सम्यक्त्व (श्रद्धान) दिलाऊँ। ऐसा विचारती हुई सास के साथ चली। जब मन्दिरजी की सीढ़ियों में पहुँची, तो देखा कि दरवाजों के दोनों ओर सिंह के चित्राम बने हुए थे। उसको देखकर वधू (बहू) सास का सङ्ग छोड़कर दूर भागी और चिल्लाई, चीख़ मारी और हल्ला (रौला) मचायकर कहने लगी कि हाय सासजी ! सिंह बैठा है, यह खा जायगा। तब सास बोली हे लाडी ! यह तो चित्राम का सिंह है, न कि सचमुच, यह खाने वाला नहीं है, केवल देखने मात्र का है, इससे मत डरो। तब बहू कहने लगी,—हे सासजी इस चित्राम के सिंह से भय न खाया तो भीतर जो पाषाण की मूर्त्ति है वह आपको क्या उपदेश देगी ? इस लिये अपने घर को चलो, क्यों इस पाखण्ड में पिलो ? सीधे साधुओं की आम्नाय स्थानकपन्थ में मिलो। इससे उस साधुमार्गपन्थ की बहू ने सास तथा सभी सम्बन्धियों को प्रतिबोध दिया और अपने स्थानकवास आम्नाय में ले आई। इस लिये मूर्त्ति को मत मानो, केवल नामस्मरण को पहिचानो।

हे भद्र भाई ! तुमने उन ढुंढकों की कुयुक्ति बताई, इससे मूर्त्तिपूजन निषेध न हो जाई, दृष्टान्त में तुमने अधूरी बात सुनाई, अब हम उसीसे युक्ति देते हैं दिखाई, जिससे जिनप्रतिमा पूजो मेरे भाई। जिस समय सास के साथ बहू सीढ़ियों पर चढ़ी उस समय सिंह के चित्राम को देखकर भागी और चिल्लाई, तुम्हारे कथनानुसार सास को समझाई।

किन्तु सच तो यह है कि उस समय उसकी सास श्रीवीतरागदेव के जैनधर्म को अच्छी तरह जाननेवाली और नित्य प्रति श्राविका धर्मपालने वाली होने से बहू का हाथ पकड़कर कहने लगी कि—हे वधू! (वींदनी) तुझे इस शेर (सिंह) से भय क्यों लगा? यह तो सिंह का चित्र है यहां पर भय का कारण क्या हुआ? उस समय बहू बोली कि हे सासजी! इसका भयङ्कर रूप, फटा हुआ मुँह, निकली हुई जीभ, चढ़ी हुई आँखें, इससे मुझे ऐसा मालुम हुआ कि कहीं खा न जावे, इस लिये मैं चिल्लाई और भागी। तब सास बोली—हे वधु! देखो, जिस तरह तुझे चित्र के सिंह को देखकर भय हुआ है, वैसे ही श्रीवीतरागदेव की मूर्त्ति के सामने दृष्टि देने से वैसा ही विचार या संस्कार उद्भवे बिना न रहेगा, क्योंकि देखने से भगवान् शान्त पद्मासन लगाय नासाग्र दृष्टि रक्खे आत्मस्वरूप में निमग्न हैं। इस चिन्तन को करते २ अन्तर्मुख होने से वीतरागता का अनुभव होने लगता है और यह वह आनन्द है जो जन्मान्तरों के बाद में बड़े भाग्य से प्राप्त होता है, जो यहां भगवद्देव की मूर्त्ति के दर्शनमात्र करते ही सुलभता से प्राप्त हो सकता है। इस लिये हे वधु! तू भी यदि मेरे जैसा अनुपम सुख चाहती है तो मन्दिरजी मे दर्शन करने के लिये नित्य आया कर तथा नित्य दर्शन करने का नियम कर कि, जब तक मैं भगवद्देव की मूर्त्ति के दर्शन न कर लूँगी, तब तक व्यावहारिक कोई कार्य न करूँगी। ऐसी ऐसी नित्य प्रति सास ने शिक्षा देकर उस स्थानकवास की श्रद्धा वाली वधू को यथार्थ जैन श्रद्धान करवाया। हे भद्र! इस लिये तेरी ये युक्तियां बालजीवों को बहकाने के स्थान मे उलटी समझाने वाली तथा ठीक मूर्त्ति-पूजा के श्रद्धान कराने वाली निकलीं। अब तुम्हें सुनाते हैं कि, लोंका, बाईसटोला, तेरापन्थी आदि मतों का आरम्भ थोड़े ही समय से हुआ है। लगभग १५३१ के साल से ये मन्तव्य चले हैं और जैनशास्त्र से विरुद्ध वेषादि ले मनमाने उपदेश को देकर नये २ टोले—समुदाय बन गये हैं, बनाने वालों को यदि सोचा जाय तो उन्हें व्याकरण, काव्य, कोषादि शास्त्रों का बोध तक न

था, यहां तक कि शुद्ध शब्दों का उच्चारण भी नहीं कर सकते थे, तो वे विचारे स्याद्वाद के महान् सिद्धान्त को क्या समझ सकते होंगे? स्थानकवासी ने केवल ढाल, चौपाई, दोहा, कवित्त, राग रागिनियोंमें गीत गाकर जो ओसवाल-पोरवाल आदि जाति-कुल के जैनी हैं, उलटा उन्हें जैन धर्म से नष्ट कर दिया, दानादि क्रियाएँ उठा दीं। दया २ का नाम ले लिवाकर हल्ला करना सिखा दिया। श्रीरत्नप्रभसूरि, जो कि श्रीपार्श्व-प्रभु की परम्परा में थे। उन्होंने ओसा नगरी में आकर राजा तथा राजवंश के क्षत्रियों को उपदेश दे जाति-कुल के जैन बनाये, शासन-पति श्रीवर्द्धमान स्वामीजीकी स्थापना निक्षेप-स्वरूप भगवद्देव की प्रतिमाजी के दर्शन करने बतलाये, लगभग इसको १७०० या १८०० वर्ष होने को आये, इन जैनियो में ही ढूंढक-पन्थियों ने अपने पन्थ चलाये, जैनियों का नाम ले उलटा जैनियों को कुमार्ग में फुसलाये। पहिले जो आचार्यों ने जैनी बनाये थे, उन्हीं के टुकड़ों पर उन्होंने मुंड़ मुँड़ाये, बासी रोटी खाकर, साधु नाम धराकर लजाये, जगह २ झगड़ा कर गृहस्थियों को लड़ाये।

प्रश्न—आप कहते हैं कि लोंका से जिनप्रतिमा का निषेध चला, और उसी में से बाईसटोला, तेरहपन्थि आदि ढूंढक निकले। यह ठीक है; किन्तु जैनशास्त्रों में ऐसा कहा है कि श्रीमहावीर स्वामी के निर्वाण समय शासन के ऊपर २००० (दो हजार) वर्ष की स्थिति वाला भस्म नाम का ग्रह उन्हीं का जन्मलग्न (जन्मनक्षत्र) पर आया। इस लिये दयाधर्म तो लुप्त हो गया, और हिंसादि कुत्सित मार्ग प्रवृत्त हुए। जब भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण को २००० (दो हजार) वर्ष हो गये, तब भस्मग्रह निकल गया और फिर लोंकाजी ने दया-धर्म प्रकट किया, शुद्ध जिनमार्ग चलाया; यति लोगों ने उपदेश देकर जो मन्दिर बनवाये थे, उनका निषेध कर शुद्ध दयामय धर्म बतलाया।

उत्तर :—हे देवानुप्रिय! तुझे यह कहने वाला कोई मूर्खशिरोमणि, जिनागम से अनभिज्ञ, मृषावादी, मायावी, भोले जीवों को ठगने वाला है। क्योंकि श्रीमहावीर स्वामी के शासन पर दो हजार वर्ष की

स्थिति वाला भस्मग्रह आया, वह तो हम भी मानते हैं; परन्तु जिनमार्ग लुप्त हो गया था सो तो नहीं। शास्त्रों में तो ऐसा लिखा है कि भस्मग्रह के बल से साधु-साध्वी की पूजा कम हो जायगी, न कि धर्म विच्छिन्न हो जायगा। भगवान् का वचन है कि मेरा शासन २१००० वर्ष तक चलेगा। ऐसी दशा में दो हजार वर्ष तक लुप्त हुए धर्म को विना किसी तीर्थङ्कर कौन चलाता? इस लिये जो कहता है कि लुप्त हो गया था और हमने शुद्धमार्ग चलाया, वह मृषावादी है। क्योंकि श्रीभगवतीजी के २० वे शतक के, ७, ८, ९, वे उद्देशों में वर्णन किया है कि तीर्थङ्करके विना प्रत्येकबुद्धादि कोई शिष्यादि न करे। और जो विना गुरु के साधु हो वह तीर्थ (सङ्घ) के अन्दर गणित (गिना हुआ) न होगा अर्थात् जो गिनती में आवे वैसा नहीं होगा। इस लिये बिना गुरु के जैन साधु नहीं हो सकता। सो प्रथम तो लोंका ने सिर भी नहीं मुण्डवाया, भाना-बनिये को बहकाकर अपना पन्थ चलाया, उनके गुरु का पता अभी तक किसी ने न पाया। रहो, अब दूसरा सुनिये कि भस्मग्रह के आने पर जब धर्म विच्छिन्न हो गया था तो इन ओसवाल पोरवाल आदि नये जैनियों को प्रतिबोध देकर शुद्ध मार्ग में लाने वाले आचार्य लोग साधुपन में थे या भ्रष्टमार्ग में? यदि कहो कि भ्रष्टमार्ग मे थे, तो उनके बनाये हुए ओसवाल-पोरवालादिकों का माल खाना और उनको उत्तम मार्ग में लाने वाले को भ्रष्ट बताना यह तो ऐसी बात है कि जैसे "माल खावे माँटीका और गीत गावे वीरा का"। कदाचित् तुम ऐसा कहोगे कि हम साधुपन पालकर कष्ट उठाते हैं और शुद्ध मार्ग बतलाते हैं, इसी तरह हमने इन्हें उपदेश देकर जैन-मार्ग बतलाया है। तो हम कहते हैं कि यदि तुम्हारा ऐसा ही प्रबल साधुपन था तो कुमार्ग चलाने वाले प्रथम (पहिले) आचार्यों के किये हुए ओसवाल पोरवाल आदि जैनियों को छोड़कर तुम लोग ब्राह्मण, अग्रवाल, महेश्वरी, राजपूतों को नवीन जैनी बनाते। तब तो तुम्हारा नवीन पन्थ हम ठीक जानते। ब्राह्मण, अग्रवालादि तो इन ढुण्ढकों का आचरण देखकर इतनी

घृणा करते है कि कहीं हमारे चौका आदि को छुकर भ्रष्ट न कर दे, ऐसी अन्तरङ्ग में रुचि रखते हुए बड़ी ही नफरत से लोक-लज्जा से भिक्षादि देते हैं। भिक्षादि देने का भी जितना विचार मात्र है वह भी पुरुषों को ही है। स्त्रियाँ तो उनके मलिन आचारादि देखकर ख्याल तक भी नहीं करती। यह समस्त अनुचित आचार-विचार की त्रुटियाँ शास्त्र-विहीनों में सम्भवित हो सकती हैं। यहां थोडा और भी विचारने योग्य है कि जब भस्मग्रह के बलसे धर्म लुप्त हो गया था तो सूत्रादि संग्रह करने वाले साधु थे या भ्रष्टाचारी? यदि कहोगे कि साधु थे तो तुम्हें मृषावाद से ग्रसित होना पड़ेगा, क्योंकि तुमारे मतानुसार उस वक्त धर्म तो लुप्त हो चुका था, फिर साधु आये कहाँ से? यदि कहोगे कि भ्रष्टाचारी थे तो उनके संग्रह किये हुए ग्रन्थ क्यों स्वीकारते हो? क्योंकि जिसने लुप्त धर्म को नवीन प्रकट किया, तो नवीन ग्रन्थ क्यों न बनाये? और यदि नवीन बनाये या कांट छांट की गयी तो अप्रमाणता और असम्भव दोष उनमें आता है। यदि कहो कि नहीजी, हम तो ३२ सूत्र मानते हैं सब सूत्र नही मानते हैं। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि बत्तीस पैंतालीस या बहत्तर सूत्रों का तो संग्रह करने वाले एक ही थे तो उसमें से ३२ मानना, और अवशिष्ट (बाकी) न मानना, यह कैसे युक्ति-युक्त ठहरेगा? इससे हे भद्र! मूर्त्ति-पूजन के निषेध की प्रतिज्ञा तो उन्होंने उठाई, परन्तु शास्त्रानुसार इसमें साधुत्व रीति नहीं आई। आठ हो प्रहर साधु को मुख बांधे रहना जैन शास्त्र में नहीं है। इसका यदि विस्तार देखना हो तो हमारे बनाये हुए "कुमतिभ्रमोच्छेदनभास्कर" में देख सकते हैं। उसमें देखकर अपने संशय को दूर करो, जिन प्रतिमा में चित्त धरो। जो तुमने कहा कि, हिंसा धर्म छुडाया, दयाधर्म चलाया, सो उनकी हिंसा या अहिंसा (दया) का लक्षण क्या है? यह तो उन्हें आता ही नहीं। जब उनको शब्द के अर्थ का ठीक २ परिज्ञान नहीं, तो दूसरों को उपदेश देकर ठीक २ कैसे समझा सकेंगे। प्रश्नः—भला यह तो बताइये कि; मूर्त्तिपूजन निश्चय से है या व्यवहार से? उत्तर.—हे

देवानुप्रिय! तुमने निश्चय और व्यवहार का नाम मात्र कहांसे सुन लिया है। जैन शास्त्र का रहस्य नहीं जाना है। केवल मूर्खो के वहकाने से जिनको मूर्त्ति-पूजन में द्वेष आता है, और जिनके बोलने में शब्द की शुद्धि-अशुद्धि का भी ठिकाना नहीं है उनका पक्ष तुमने लिया है। व्याकरण के पठन-पाठन विना शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ ठीक २ आ ही नहीं सकता। शब्द के अर्थ करने में धातु, प्रत्यय, प्रकृत्यादि की अपेक्षा बनी रहती है। व्याकरणादि शास्त्रों के बोध से शून्य साधु कुछ भी समझ या समझा नहीं सकते। एक पुस्तक किसी ढुण्ढक ने तीन थुई वाले राजेन्द्रसूरि के ऊपर लिखी है, 'उसकी किमत ५ रुपैया रक्खी है, किन्तु उसके देखने से पाठक प्रसन्न नहीं हो सकते। बलिशब्द का अर्थ पूजा आदि को छोड़कर "स्नान करने में बलिकर्म होता है" ऐसा असङ्गत दिखलाया है। हमें इस अर्थ को देखकर आश्चर्य उत्पन्न हुआ कि वलिदान शब्द जो उसने स्नान (न्हाने) के अर्थ मे लाया, ऐसा किस व्याकरण या कोश से अर्थ लगाया, ऐसे ही "चेइय" शब्द का अर्थ साधु वतलाया, कोषों में साधु के नाम लिखे हुए देखकर "चेइय" शब्द का अर्थ साधु हो सके ऐसा तो कही आज तक देखने में नहीं आया। ऐसे ही "चिति" धातु से ज्ञान शब्द को भी बनाया, "चैत्य" शब्द का अर्थ ज्ञान भी ठहराया, नन्दीसूत्र में सर्वज्ञोंने पांच प्रकार का ज्ञान बताया, "नाणं पञ्चविहं पण्णत्तं" इसमें तो चेइय नाम न आया, इस तरह का किया ढुण्ढकों का अर्थ देख उनसे बात करने को भी चित्त न चाया। इस तरह हे भद्र! तुम्हें भी विचार करना चाहिये कि, वलि शब्द का अर्थ कहीं पूजा भेंट को छोड़कर किसी भी सम्प्रदाय के विद्वान ने स्नान (न्हाना) अर्थ किया है? दूसरा "चिति" धातु से वने हुए 'चैत्य' शब्द का अर्थ किसी ने आज तक ज्ञान और साधु किया हो यह तो व्याकरण शास्त्र से अजान की वातें हैं। "ज्ञांश् अवबोधने" धातु से ज्ञान शब्द, साध् धातु से साधु शब्द वनते हैं और 'चेइय' शब्द तो "चि चयने" धातु से वनता है। इससे ज्ञान या साधु से "चैत्य" शब्द सम्बन्ध नहीं रखता।

जब चैत्य वगैरः सीधे शब्दों का अर्थ उन लोगों को नहीं आता है तो लक्षणा आदि वृत्तियां स्वप्न में भी इन्हें सूझे, उसकी संभावना ही कैसे हो सकती है ? क्योंकि लक्षणा तीन प्रकार की होती है—जहल्लक्षणा, अजह-लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा, इस तीसरी को वेदान्तशास्त्र में भाग-त्याग भी कहते हैं। प्रथम जहल्लक्षणा-किसीने कहा कि "गङ्गायां घोषः" अर्थात् गङ्गा में पल्ली (आभीरो का ग्राम) है। ऐसा शब्द सुनने वाले ने विचार किया कि गङ्गानदी में अर्थात् जलधारा में घोष अर्थात् आभीरों का ग्राम सम्भवित नहीं, क्योंकि जलधारा—जलप्रवाह में मीनादि (मछली आदि) का सम्भव ही हो सकता है, किन्तु ग्राम अथवा पल्ली का सम्भव नहीं बन सकता। इस लिये यहां पर वक्ता का अभिप्राय गङ्गा के किनारे पर ग्राम है ऐसा हो सकता है। इस रीति से लक्षणा करके अर्थ निकाला जाता है। तो जिनको सीधे सादे शब्दों का अर्थ नहीं आता तो ये विचारे महर्षियों के रचे हुए सूत्र-सिद्धान्त-शास्त्रों के अर्थ वा तात्पर्यादि को कैसे समझ सकेंगे ? ग्रन्थ के विशेष बढ़ने के भय से शेष लक्षणा का वर्णन न दिखाकर थोड़ा शब्द की ओर झुकता हूँ। शब्द तीन प्रकार का होता है—यौगिक १ रूढ २ योगरूढ ३। यौगिक उसे कहते हैं कि जिस शब्द का अर्थ धातु-प्रत्यय-प्रकृति-पूर्वक व्युत्पत्ति से लब्ध हो, जैसे पच-तीति पाचकः—पकावे अर्थात् जो भोजनादि का पाक करे उस रसोइये को पाचक कहते हैं। रूढ़ शब्द उसको कहते हैं कि लोक में जो अर्थ (किसी शब्द का) प्रसिद्ध हो, और धातु, प्रत्यय, प्रकृति के अनुसार कुछ सम्बन्ध न रखे, जैसे त्रिफला, गौ आदि शब्द। इनके उच्चारण करने से तीन वस्तुओं या गमन करने वाली वस्तु का बोध न होकर हरड़-बहेडा-आमला का तथा सास्ना-सींग-पूछ वाली वस्तु का बोध होता है। इस लिये ऐसे अर्थ वाले शब्द को रूढ़ शब्द कहते हैं। योगरूढ़ उसे कहते हैं जिस में यौगिक अर्थात् धातु-प्रत्यय-प्रकृति से भी अर्थ निकले और लोकप्रसिद्ध अर्थ भी निकले ; जैसे—पङ्कज (कमल या पद्म—पुष्प विशेष) यौगिकांश तो पङ्काज्जायत इति पङ्कज, अर्थात् जो पङ्क से—कीचड

से उत्पन्न हो, यह है यौगिकांश ; और रूढ़ांश—पङ्क में कई वस्तुयें होती हैं जैसे सीपकौड़ी, सिंहाडे आदि, किन्तु रूढि से पङ्कज पद से कमल पुष्प ही ग्रहण किया जाता है, पङ्क में (कीचड़ में) पैदा होने वाली दूसरी वस्तु नहीं ग्रहण की जाती। इस वास्ते इसको योगरूढ़ कहते हैं। ऐसे पद-वाक्यों के अर्थ की जांच करनी व्याकरणादि शास्त्र पढ़े विना कठिन सी है। जिन्होंने देवनागरी के अक्षरों को सीखकर टबा आदि देखकर ही जो किसी ने सिखलाया उसे रट लिया है वे कैसे सूत्र सिद्धान्त के गूढ अर्थ, जो व्याकरणादि के अधीन है, सहज में जान सकेंगे ? पहिले तो जैन सूत्र सिद्धान्त अर्धमागधी में है। उस अर्धमागधी का परिज्ञान तो इन्हें प्रायः है ही नहीं। छह भाषाओं से युक्त भाषा अर्धमागधी कही जाती है, अर्थात् प्राकृत, शौरसेनी, पैशाची, चूलिका, मागधी, अपभ्रंश अर्थात् देशी ये छह भाषा जिसमें हों वही अर्धमागधी कही जाती है। जिन विचारों को अक्षरोच्चारण तक ठीक २ नहीं आता वे निश्चय तथा व्यवहारनयों के गूढार्थ कैसे समझ सकेंगे ? अस्तु। जो तुमने प्रश्न किया है कि, मूर्त्ति-पूजन निश्चय से है या व्यवहार से ? इसके विषय में उत्तर देते हैं। निश्चय जो शब्द है सो जैन सम्प्रदाय में रूढि से प्रसिद्ध है। परन्तु निश्चय कोई वस्तु नहीं है। निश्चय शब्द निस् उपसर्ग पूर्वक "चि चयने" धातु से बना है। इसका अर्थ राशि करना अर्थात् इकट्ठा करना है। जिस तरह खला (खल्वाड़े) गेहूं पटक कर ऊपर में बैलादि से दाप (दामण) फेरते हैं और इस समय जो इधर उधर बिखर (फैल) जाते हैं उन्हें जईसे इकट्ठा करते हैं, इस तरह राशि का इकट्ठा करना निश्चय शब्द का अर्थ है। इस के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता। इस लिये जो तुमने पूछा है कि निश्चय से या व्यवहार से मूर्त्ति-पूजन करते हो ? इसमें निश्चयांश तो जिन-प्रतिमा पूजन के विषय में पूछ ही नहीं सकते। रहा व्यवहार से। सो उसका उत्तर भी सुनिये—विअव-उपसर्ग-पूर्वक 'हृ हरणे' धातु से व्यवहार शब्द बनता है ; व्यवहरणं व्यवहार,— इस व्युत्पत्ति से व्यवहार शब्द सिद्ध

होता है। यदि विशेष विवरण देखना हो तो हमारे निर्माण किये हुए "द्रव्यानुभवरत्नाकर" में देखिये। प्रश्नोत्तर के रूप में इसको हमने दर्शाया है, लक्षणादि का प्रकार भी उसी में दिया है, यहां रुचि न होने पर भी प्रसङ्गोपात्त थोड़ा कह दिया है, जिज्ञासु ऊपर कहे हुए ग्रन्थ में विशेष देख सकते हैं। अब निश्चय तो कोई वस्तु न ठहरी, तौभी तुम्हारे प्रश्न करने से और भी कहते हैं कि—निश्चय नाम नियामक का भी है अर्थात् अवश्य करने का जो कार्य हो उसको भी निश्चय कहते हैं। सो नियामक करके स्थापना निक्षेप अर्थात् जिनप्रतिमा अवश्य पूजनीय है। क्योंकि विना कारणके कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। वही दिखाते हैं—कारण दो प्रकार का होता है। एक उपादान कारण और दूसरा निमित्त कारण। इन दोनों कारणों में से एक भी कारण न हो तो कार्य कदापि न सिद्ध होगा। जैसे कुम्भकार (कुम्हार) ने घट-निर्माण की इच्छा की तो जो घट के लिये मिट्टी प्रथम कारण है, जिसके सिवाय घट बन ही नहीं सकता, उसी मिट्टी रूप कारण को उपादान कारण कहते हैं। और दण्ड (लकड़ी) चक्र (चाक) चीवर (डोरा) और थापी जो लकड़ी की बनी रहती है इनके द्वारा घट बनता है। ये दण्डादि समस्त निमित्त कारण है। इन दोनों कारणों के होने पर ही घड़ा बन सकता है अन्यथा नहीं। इसी तरह इस दार्ष्टान्त से दृष्टान्त दिखाते हैं—मोक्षरूप कार्य के लिये आत्मा तो उपादान कारण है, और अरिहन्त देवके नाम, स्थापना निमित्त कारण हैं। जिसमें भी स्थापना अर्थात् जिन-प्रतिमा मुख्य निमित्त कारण है। इस निमित्त कारण के सिवाय मोक्ष रूप कार्य कदापि सिद्ध न होगा।

प्रश्न—आपने उपादान कारण तथा निमित्त कारण तो ठीक कहा, परन्तु प्रतिमाजी तो पाषाण की है, और वह पाषाण पृथिवीकाय एकेन्द्रिय जीव है; वह कैसे निमित्त कारण होगी?

उत्तर:—हे भद्र! यह तुम्हारा कथन सर्वथा असमञ्जस (ठीक नहीं) है और तुम्हें मृषावाद भी लगता है, क्योंकि देखो जैनशास्त्रों में कहा

है कि, यदि कोई बालक लाठी या लकड़ी को अपना घोड़ा बनाकर, उसके टांगों के बीच लगाकर घोड़े (लकड़ी रूप) को दौड़ाता आवे, और यदि रास्ते में कोई जैन साधु वा यति मिले और वह लड़का बोले कि—साधुजी हट जाओ, मेरा घोड़ा आता है, लात मारेगा। उस समय समयज्ञ (शास्त्र का जानकार) साधु उस लड़के से यही कहे कि हे बालक! हम एक तरफ खड़े हैं, तू अपने घोड़े को निकाल ले जा। ऐसी ही आज्ञा जैनशास्त्रों में साधु—यति के लिये बोलनेको कही है। तो यहां विचारांश यह है कि, उस लड़के की लकड़ी में किसी तरह का भी घोड़े का आकार नहीं था। परन्तु उस लड़के ने अपनी लकड़ी में असद्भूत घोड़े की स्थापना कर रक्खी थी, इस लिये साधु को भी घोड़ा कहना पड़ा, तो हे विवेक विकल, उस शान्त, दान्त, नासाग्रन्यस्त दृष्टि, पद्मासनस्थ भगवान् जिनेन्द्र देव के सदृश, भव्यजीवों को अतुल आनन्द देने वाली, जीवों को सहज ही में समाधि-आनन्द दर्शाने वाली, पाप-पङ्कों को हरने वाली, आत्मस्वरूप दर्शाने वाली, कहीं २ जतिस्मरणादि ज्ञान की कारण भूत, जिनेन्द्र देव की प्रतिमा को पाषाण कहना, क्या तुम्हें उचित प्रतीत हुआ है? पूजन-दर्शन द्वारा दुर्गतियों से रक्षा करने वाली प्रभु-मूर्त्ति को पाषाण कहते शर्म न आई, ऐसे २ कुशब्द बोलकर क्यों करता है दुर्गति की कमाई, हमें तुम्हारे ऊपर थोड़ीसी करुणा आई, अतएव तुम्हें शास्त्र की युक्ति बताई।

प्रश्नः—अजी आप कहते हो कि, मूर्त्ति के दर्शन से शान्ति होती है, तब थाली में रोटि देखकर पेट भर जाना चाहिये।

उत्तरः—हे भद्र! यह दृष्टान्त तुम्हारा विषम है। पेट भरना भिन्न बात है और शान्ति होना अलग बात है। कदाचित् तुम ऐसा ही मानोगे तो शास्त्रों का वाक्य अन्यथा हो जायगा, क्योंकि देखो, श्रीदशवैकालिक सूत्र में कहा है कि,—

"चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलङ्किअं।
भक्खरं पिव दट्ठूणं, दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥८, ५५॥"

अर्थात् जिस जगह स्त्री का चित्राम-फोटो हो उस मकान में साधु न ठहरे। दूसरा मनुस्मृति आदि वैदिकाम्नाय के ग्रन्थों में कहा है कि जिस मकान में चित्राम की स्त्री हो उसमें संन्यासी या ब्रह्मचारी न ठहरे। प्रायः सभी दर्शनों में ऐसे स्थानों में मुनियों को रहने के लिये निषेध किया है। अब कुछ बुद्धि का बल लगाकर विचारो कि—सर्वज्ञ देव ने तथा वैदिकाचार्यों ने भी स्त्री के फोटोवाले मकानमें रहने को निषेध क्यों किया? क्या स्त्री चित्राम उनको बलात् आकर्षण करता है? यदि तुम कहोगे कि स्त्री चित्राम में अवयव होते हैं और उनके देखने से काम-विकार उत्पन्न होता है, इस लिये निषेध किया है। हम यहां तुम्हें पूछते हैं कि उस चित्राम स्त्री को देखने से वह क्यों होता है? क्या वह स्त्री मुखसे बोलती है? क्या कुछ आंखोंसे मदन-विकार उत्पन्न हो ऐसे इङ्गित (इशारे—सैनतें) करती है? क्या मन्द २ हंसकर मोती जैसे दान्त दिखाती है? क्या नासा-फोरण करती है? क्या दौड़कर चिपटने लगती है? क्या भौंओं से ईशारा करती है? जब इनमें से कुछ भी नहीं करती, तो फिर विकार का कारण कौनसा है, जिस से उन्हें निषेध करना पड़ा? यदि यों भी कहोगे कि—नहीजी, चित्रकार ने ऐसे स्त्री के अवयव बनाये हैं कि मानो स्त्री खड़ी २ मुस्कुरा रही है, अधरों पर लाली छा रही है, भौंवें और आंखें चला रही है, नासिका को स्फुरा (फडका) रही है, कुचों के आकार को दिखा रही है, इन्हीं कारणों से विकार अवश्य-मेव सम्भवित है। इसीसे सर्व दर्शन कारों ने संन्यासी आदि को ऐसे स्थानों में रहने के लिये निषेध किया है। जब ऐसा ही है तो विवेक विकल! जरा विवेक को जगाओ और हृदय को पवित्र करो और निर्मल नेत्रों से देखो कि सर्वज्ञ वीतराग, तरण-तारण, निमित्त कारण, पर दुःख-निवारण, जन्म-मरण रूप-ताप हारण, परम शान्त, दान्त, नासाग्र-लग्न-दृष्टि, आत्मस्वरूप-मग्न, बद्ध-पद्मासन, निर्मल, निर्विकार, चौतीस अतिशय-युक्त, पैंतीस-वाणी-गुण-विभूषित, अष्ट-महाप्रातिहार्य-सहित, देवाधिदेव अरिहन्त भगवान् की प्रतिमा को देखकर, चिन्तन कर, भव्य जीवों को

भी वैसे शान्ति आदि अनन्य गुणों की प्राप्ति क्या न होगी? और आत्म-स्वरूप का भान क्या न होगा? अवश्यमेव होगा। प्रभु के गुणों को चिन्तन करता हुआ अपने गुणों में समावेगा, योगाभ्यास विना ऐसी अवस्था कैसे पावेगा? गुरु की कृपा विना भटक २ मर जावेगा, वर्त्तमान काल में जैन धर्म का रहस्य कोई विरला ही पावेगा, सम्यक्त्वी विना मिथ्यात्वियों को क्योंकर यह मार्ग आवेगा? जिसने सम्यक्त्व पाया वह ही मनुष्य जिन-धर्म पर दृढ़ विश्वास लावेगा। इस लिये निश्चय-पूर्वक, शान्तिमय, आत्मस्वरूप के निमित्त-कारण श्रीजिन-प्रतिमा का पूजन करना चाहिये। शुभ निमित्त कारण के विषय में कहां तक कहा जाय। कहीं २ शास्त्रों में कहा है कि जल-मानुष जल से निकलकर क्रीड़ा करते हैं, उस समय कई जल-मनुष्य क्रीड़ा करते २ जिन-प्रतिमा के आकार में बैठ जाते हैं। उस आकार को देखकर किसी जीवको ईहापोह करने से जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, और उस जाति-स्मरण ज्ञानसे श्रावक-व्रत ग्रहण कर लेता है और जैन धर्म को पालता है। इसी तरह समुद्रों में जिन-प्रतिमाकार मत्स्यादि (मच्छली, मच्छ, विगैरह) होते हैं। उनको भी अनेक भव्यजीव देखकर जाति-स्मरण ज्ञान को प्राप्त कर सम्यक्त्व (यथार्थ श्रद्धान) तकको उन्हें प्राप्ति हो जाती है, और वे भी व्रतादि पालन करते हुए शुभ-गतियोंको प्राप्त होते हैं। इस स्थलमें विचा-रांश यह है कि जब तिर्यञ्चोंको भी श्रीजिनप्रतिमाके आकार मात्र देखनेसे इतना महान् लाभ होता है, तो यदि मनुष्य भगवद्देव की मूर्त्ति का अर्चन, दर्शन करने से मोक्ष पर्यन्त की प्राप्ति कर ले तो उसमें आश्चर्य ही क्या है? इस प्रकार मोक्ष रूप कार्य के लिये उपादान कारण आत्मा में श्रीजिन-प्रतिमाजो, दर्शन, वन्दन, पूजन द्वारा सुनिश्चित ही निमित्त कारण है। तो आत्मा की मुक्ति के लिये व्यवहार में भी प्रभु-मूर्त्ति-पूजन अनायास सिद्ध ही है। हमारे उपदेश को पहिचानों, सर्वज्ञ के वचनों को मानों, निक्षेपों के स्वरूप को गुरुगम से दिल में आनों, द्रव्यानुयोग के पठन विना न मिले जैन धर्म को ठिकानों। श्रीउत्तराध्ययनजी में कहा है

कि, द्रव्य पर्याय को जान, उसीका ज्ञानियों में प्रमाण, प्रतिमा पूजन में मत करो खींचातान, स्थापना-निक्षेप को जानों अरिहन्त समान।

प्रश्नः—आप ने कहा सो तो ठीक, किन्तु भगवान् ने हिंसा में तो धर्म-कथन नहीं किया, दया में धर्म-निरूपण किया है।

उत्तर—भद्र! यह तो हम भी मानते हैं कि धर्म तो अहिंसा में है। परन्तु तुम कहते हो कि दया में धर्म बताया है; किन्तु दया में तो धर्म नहीं बनता, दया में तो शुभ-कर्म-रूप आश्रव का बन्ध होता है। दया में धर्म या दया को धर्म कहना, जैनमत स्याद्वाद-सिद्धान्त से अपनी अनभिज्ञता का दर्शाना है। जिन को धर्म या कर्म-बन्ध-हेतु का परिज्ञान नहीं कि यह दोनों एक है, या भिन्न २ है, उनको समझाने के लिये या अज्ञान दूर करने के लिये, और तुम्हें जिन मुग्धों ने जैन धर्म का नाम लेकर जाल में फँसा दिया है, उस जाल को तोड़ने के लिये, हिंसा, अहिंसा तथा दया का लक्षण पहिले दर्शाते हैं। जिस के परिज्ञान से स्वयमेव भान हो जायगा कि दया में धर्म नहीं है, परन्तु उलटा कर्म-बन्ध हेतु आश्रव है। "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा"। अर्थात् प्रमादयोग से प्राणियों के प्राण जुदा करने के अनुकूल जो व्यापार-क्रिया-आरम्भ-समारम्भादि है उसे हिंसा कहते हैं। उसी हिंसा का अभाव को अहिंसा कहते हैं। अब दया का लक्षण कहते हैं—"निष्कारणपरदुःखहरणेच्छा दया" अर्थात् जो बिना कारण से (स्वार्थ-रहितपन से) दूसरे प्राणियों के दुःख दूर करने की इच्छा है उसे दया कहते हैं। इससे साफ प्रतीत हो गया कि, दया करने वाले को पुण्य बन्ध होगा। फल उसका यह है कि उसे सुख भोगना पड़ेगा। जिस जगह शुभ कर्म-बन्ध हुआ, उस जगह सर्वज्ञ देवने जो कहा है, उसके जानने वाले उसे धर्म कदापि न कहेंगे। धर्म वह ही है जो वस्तु का स्वभाव प्रकट करे। जैसे आगमों में उसका लक्षण भी मिलता है—"वत्थुसहावो धम्मो" अर्थात् वस्तु का जो स्वभाव है उसे धर्म कहते हैं। इस लिये अहिंसा में धर्म है, दया में नहीं। अब उस अहिंसा के

भी अनेक भेद है। एक तो 'स्वहिंसा' (अपनी हिंसा न करना), दूसरी 'पराहिंसा' (दूसरे की हिंसा न करना) तीसरा "द्रव्याहिंसा", चौथी "भावाहिंसा", पांचमी "हेतु-अहिंसा" छट्ठी "स्वरूपाहिंसा" इत्यादि अनेक अहिंसा के भेद है। इनसे जो उलटे हैं, उन्हें हिंसा के भेद जानने चाहिये। जैसे १ स्वहिंसा २ पर-हिंसा ३ द्रव्य-हिंसा ४ भावहिंसा ५ हेतुहिंसा ६ स्वरूपहिंसा इत्यादि ठीक २ जानों, जैन शास्त्र को गुरुगम से पहिचानों। हमारा तात्पर्य यहां पर यह है कि ऊपर कही हुई हिंसा में से कौन सी हिंसा है जो मूर्त्ति-पूजन में लगती है? हम भी ऐसी अपूर्व हिंसा जान लें, जो तुम्हारी समझ में बैठी है। केवल हिंसा २ करने से कुछ नहीं चलता।

प्रश्नः—आरम्भ में हिंसा प्रत्यक्ष होती है, जैसे शास्त्रों में कहा है—"आरम्भे नत्थि दया" अर्थात् आरम्भ में दया नहीं है। और पूजनादि में प्रत्यक्ष आरम्भ दिखाई देता है फिर उसका निवारण कैसे कर सकते हो?

उत्तरः—हे भद्र! आरम्भ में हिंसा तो हम भी मानते हैं, परन्तु सर्वथा आरम्भ का परित्याग तो पञ्चमहाव्रती साधुओं को है। देशव्रती वा सम्यग्दृष्टि को तो सर्वथा आरम्भ का परित्याग नहीं। अतएव सम्यग्दृष्टि तथा देशव्रती द्रव्याश्रय या भावाश्रय दोनों से जिनेन्द्र-प्रतिमा का पूजन करें और पञ्चमहाव्रती साधु सर्वारम्भ के परित्यागी होने से केवल भाव-द्वारा भगवद्देव का आराधन करे।

इसी लिये शास्त्रों में कहा कि—दीक्षित यति, साधु (सर्वव्रती) प्राणातिपात व्रत वीस विसवे अर्थात् पूर्णप्रायः पालन कर सकता है, और देशव्रती सद्गृहस्थ, साधु मुनिराज की अपेक्षा से सवाभाग (सवा विसवा) प्राणातिपात व्रतका पालन कर सकता है, ऐसा भगवद्-वचन है। यहां पर हम साधु की अपेक्षा से गृहस्थ को सपाद भाग (सवा विसवा) प्राणातिपातव्रत का जो पालन कहा है उसका निरूपण करते हैं। भगवान् ने जीव दो प्रकार के कहे हैं। एक सूक्ष्म, दूसरा वादर। सूक्ष्म जीवों का ऐसा शरीर है कि, वे हनन में नहीं आते। परन्तु वादर के

दो भेद हैं। एक तो स्थावर, दूसरा त्रस। साधु तो स्थावर और त्रस दोनों की हिंसा न करे। गृहस्थी स्थावर की हिंसा न टाल सके तो केवल त्रस की हिंसा टालने का जहां तक बन पड़े यत्न करे। आधा भाग घट जाने से १० भाग साधु की अपेक्षा गृहस्थ में रही। उसमें त्रसों की हिंसा भी दो प्रकार से सम्भवित है; एक तो आरम्भद्वारा, दूसरी सङ्कल्पद्वारा। आरम्भ को गृहस्थी नहीं रोक सकता, इससे दस भागों में से आरम्भ के ५ पांच भाग घटाने से बचे ५ भाग। अब सङ्कल्प के भी दो भाग हैं, एक तो अपराधी त्रसों की हिंसा दूसरी निपराधी त्रसों की। सो गृहस्थ से प्रायः अपराधि-त्रसों की भी अहिंसा नहीं रुक सकती। बचे ढाई २॥ भाग। निरपराधि-त्रसोंके दो भेद हैं, एक सापेक्ष, दूसरा निरपेक्ष। सापेक्ष त्रसों की भी अहिंसा गृहस्थों से नहीं पलती। क्योंकि यदि गृहस्थ के मग़ज़ में (सिर के भीजे भाग में) या दाढ़ में कीडे पड़ जायें या शरीर में फोड़ा फुन्सी हो उसमें कृमि (कीड़े) पड़ जायें, तो उस गृहस्थी का त्रस जीवों ने कोई अपराध तो किया नहीं। अपने कर्मों के वशवर्त्ती हो उसके गन्दे लहु (रक्त मांस) में वे आ पड़ते हैं। परन्तु गृहस्थ अपना स्वास्थ्य ठीक रखने के लिये ओषधि अथवा मरहम द्वारा प्रतिकार करता है, और उस ओषधि या मरहम के लगाने से वे कीड़े मर जाते हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत हुआ कि गृहस्थ निरपराध-सापेक्ष-त्रसों की भी अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। केवल निरपेक्ष-अनपराधि-त्रसों की सवा विसवा अहिंसा पाल सकता है। इस लिये हे भद्र पुरुष! कुछ बुद्धि पूर्वक विचार करो कि श्रीवीतरागदेव ने साधु और गृहस्थी को अहिंसा धर्म किस तरह बताया, शास्त्रों में यह लेख खुलासा (साफ़) कराया, तुमने साधुओं की तरह भाव-पूजन का उपदेश गृहस्थियों को किस की आज्ञा से लगाया? सर्वज्ञ वीतरागदेव ने द्विविध मार्ग इस लिये बताया, सर्वव्रत और देशव्रत जुदा जुदा कर समझाया, शास्त्र बिना तुम्हारे में जैनधर्म किस तरह आया? गुरु बिना वेष ले जैनधर्म को लजाया, दया २ नाम ले दया का भेद न पाया, जन्म-मरण मिटने का कारण तुमने

उठाया, लिङ्ग (वेश) में भी भेद कर लोगों को लड़ाया। अब भी नेत्र मींचकर, किसी गुरु की चरणसेवा कर, हृदय कमल को देखकर, विचार कर, हमारे उपदेश की ओर ध्यान धर, जिस से मिले तेरे को जिन मार्ग का घर, जन्म मरण-रूपी पिशाच से भी डर।

और देखो आरम्भ दो प्रकार का होता है, एक तो लौकिक, दूसरा लोकोत्तर। प्रथम लौकिक का अर्थ समझाते हैं। प्रश्न व्याकरण सूत्र के आश्रवद्वार में ऐसा कहा है कि, मकान, हवेली, दुकान, नोहरा (वाडा) खेत, कुआ, बगीचा आदि अथवा व्याह-शादी, नाच-रङ्ग, खाना-पीना इत्यादि संसारिकामों में जो धन-व्यय (खर्च) किया जाता है वह प्रायः पाप-स्थानक होने के कारण दुर्गति का निमित्त होता है। हमारा जैन सिद्धान्त ही यह नहीं कहता, जैनेतर वैदिकाम्नाय के धर्मशास्त्रों में तथा पुराणों में भी लिखा है कि गृहस्थों के वहां दैनिक पांच हत्याएँ होती हैं, जैसे घट्टी (चक्की) १ झाडू २ चौका वर्त्तनादि ३ जलादिक स्थान ४ चूल्हा ५ दाने पीसने में, स्थान-संवर में, चौका वर्त्तन करने में, पानी का स्थान (पन्हेडा) में, आग जलाने में, क्रमशः उन पांचों को आरम्भ-स्वरूप होने के कारण बुरा बताया जाता है।

अब इन आरम्भ रूप दोषों के निवारने के लिये और गृहस्थों का उद्धार करने के लिये सन्ध्या-वन्दन, अतिथि-सत्कारादि कहे हैं। इनको विचारो, व्यर्थ साधुओं का मार्ग गृहस्थियों को बताकर क्यों दुर्गति में डारो। पहिले वैष्णवमत से गृहस्थों का उद्धार प्रकारादि दिखाते हैं। सवेरे सूर्योदय से पहिले ऊठकर शौचादि से फारग (अलग) होकर स्थानादि करके अपने इष्टदेव की सेवा-भक्ति आदि सन्ध्योपासना करे, भोजन समय में घर पर अतिथि-अभ्यागतादि आवे उसे जिमाकर, पीछे आप रसोई जीमे (खावे)। और भूखे-प्यासे, लूले, लँगड़े, पगुले, अन्धे आदि दुःखी जीवों को करुणा-बुद्धि से यथाशक्ति उन्हें देता रहे। और तीर्थव्रतादि अनेक उपायों से अपना सच्चारित्र बनाकर अपना जीवन व्यतीत करे।

ऐसे ही जैनमत में भी श्रीठाणाङ्गजी सूत्र के नववें ठाणे में (स्थानक में) नौ प्रकार से पुण्य-बन्ध कहा है, जैसे "आणपुन्ने पाणपुन्ने आदि"। अब इस जगह विचार करना चाहिये कि अन्न, जल, वस्त्र, मकान, औषधादि देना कहा तो फिर आरम्भ बिना क्यों कर दिया जायगा? यदि यहां पर भी आरम्भ का ही ख्याल कर लिया जाय तो पुण्य के बदले पाप ही ठहरेगा। किन्तु यहां विचार करना चाहिये कि किस आरम्भ से दुर्गति होगी? कदाचित् यहां कोई मताग्रही भोले जीवों को बहकाने वाला ऐसा कहे कि जो ठाणाङ्गजी में नव प्रकार "आणपुण्णे" इत्यादि दिखाये हैं, वे केवल साधुओं के निमित्त कहे हैं, साधु भी जैनियों के ही हों। यह कदाग्रही का कहना ठीक नहीं है। इससे जो २ आक्षेप जैनमत के ऊपर आते हैं, वे ही जैनों की प्रतिष्ठा को पाताल में भेजने के कारण मालूम होते है। इन उलटे पलटे अर्थों को श्रावकों (जैन सद्गृहस्थों) के कान में बेसमझों के द्वारा फुंके जाने से जो जैन समाज को हानि पहुँची है वह बड़े ही कष्ट से दूर होगी। इस लिये इस समय यदि सच्चे जैन अथवा जैनधर्म की प्रतिष्ठा भविष्य के लिये बैठानी चाहें तो इन्हें चाहिये कि, जैसे अपनी २ सम्प्रदाय के साधु को राग-पूर्वक भिक्षा देते हैं, वैसे रागपूर्वक नहीं, मध्यस्थ-भाव से, जो भिक्षु द्वार पर आता है उसे विद्यमान उचितांश को देना सीखें। अपने २ आभ्यन्तर कदाग्रहों को भी छोड़े, कि यह साधु फलाने टोले का है इसे न देकर अपने टोले के साधु जब आवेंगे, उन्हें भिक्षा देंगे। ऐसी भिक्षा देने से आत्मा पवित्र नहीं होती, उलटी राग-द्वेष की कलुषता से आत्मा मलिन होती है। जब इन गृहस्थों को साधुओं के विषय में ऐसी भावनायें बैठी हैं तो भक्तिपूर्वक यतिओं को भिक्षा दें यह तो आशा ही कहां? इनको अच्छी तरह विस्तार से देखने की इच्छा हो तो "जिनाज्ञाविधि प्रकाश" के दूसरे प्रकाश में देख लेवें। यहां तो लिखने का यह प्रयोजन था कि जब जैनमत के साधुओं को देनेके लिये खींचतान करते हैं, तो अन्यमत के साधुओं को देना तो कहां अच्छा समझेंगे? और यह जो नौ प्रकार का पुण्य कहा

है वह पञ्च-महाव्रति के लिये नहीं है। किन्तु अन्य लोगों को देने के लिये कहा है। यदि तुम ऐसा कहो कि साधु मुनिराज को देने के विषय में वह पाठ है, तो भगवतीजी के आठवें शतक के उद्देश पांचवें छठवें के आरम्भ में लिखा है कि,—

"समणोवासगस्स णं भन्ते! तहारूवं समणं वा माहणं वा फासु-एसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जति? गोयमा! एगन्तसो निज्जरा कज्जइ, नत्थि य से पावे कम्मे कज्जति। समणोवासगस्स णं भन्ते! तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असण-पाण-जाव पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ? गोयमा! बहुतरिया से निज्जरा कज्जइ, अप्पतराए से पावे कम्मे कज्जइ।"

अर्थात् साधु को चार प्रकार का शुद्ध आहार देने से एकान्त निर्जरा होती है। कदाचित् कोई किसी कारण से अशुद्ध आहार दे तो अल्प पाप और बहुत निर्जरा होती है। इस भगवतीसूत्रजी के लेखानुसार तो जैन साधुओं को आहार देने से पुण्य-बन्ध नही होता, किन्तु निर्जरा होती है। इस लिये अन्य को देने से पुण्य-बन्ध होता है। यदि ऐसा न मानोंगे तो तुम्हारी दया भी सिद्ध न होगी। क्योंकि दया दुःखी के दुःख को दूर करने का नाम है, और ऐसी इच्छा प्रायः सम्यक्त्वी (सम्यग्दृष्टि) को होगी। क्योंकि जैनशास्त्रों में ऐसा कहा है कि सम्यग्दृष्टि पुरुष के ये पञ्च भूषण होते हैं, शम, संवेग, निर्वेद, करुणा, आस्तिकता (आस्था)। जिस पुरुष में ये लक्षण होंगे, वही जैन दर्शन के तत्वों को जानेगा। जातिकुल के जैनी को अथवा परस्पर मर्म-भेदन करने वाले जैनी को पवित्र जैन दर्शन का तत्त्वार्थ-श्रद्धान हो जाय यह कठिन सी बात है। यहां कहने का सारांश यह है कि आरम्भ का स्वरूप-परिज्ञान होना तो आवश्यक है। जब तक आरम्भादि के स्वरूप का परिज्ञान नही तब तक जो दोषों का उद्घाटन करना है वह अपनी अनभिज्ञता को दिखाना है। सांसारिक व्यवहार के लिये जो आरम्भ करना है यह तो हम भी मानते हैं कि वह दुर्गतिका कारण है। किन्तु शुभ कामों का आरम्भ करना तो

शुभ गति का कारण है, और परम्परया वह मोक्ष का भी हेतु हो सकता है। इस लिये जो तुमने पूर्वमें कहा था कि "आरम्भे नत्थि दया" यह सिद्धान्त तुमारा झूठा हो जायगा, क्योंकि—आरम्भ २ में अन्तर है। शुभारम्भ पुण्य का हेतु है और असदारम्भ दुर्गति का कारण है। प्रायः शास्त्रों में बहुत जगह ऐसा कहा है कि, ऋद्धिवाला धनाढ्य श्रावक साधु-मुनिराज के पास अपनी ऋद्धि—सम्पत्ति के अनुसार आडम्बर से जाय और वन्दना करे। इसी वास्ते प्रदेशी राजा प्रथम दिन वन्दना के लिये न जाकर दूसरे दिन सजधजकर उत्साहपूर्वक वन्दना करने के लिये केशीकुमारजी महाराज के पास गये थे। ऐसे ही भरतादि चक्रवर्त्ती, बलदेव, वासुदेव, मण्डलीक राजादि, शेठ, साहुकार वन्दना करने के लिये जाते रहे और पूजा, सत्कार, स्तुति आदि करते रहे। ऐसे ही वर्त्तमानकाल में भी गृहस्थ लोग साधुओं के पास सैकड़ों कोसो पर जाते हैं, परन्तु जो जिस आम्नाय के होते हैं वे अपने ही साधुओं के वहां भक्ति-भाव पूर्वक वन्दना-व्यवहार के लिये जाते हैं, और प्रभावना बांटते हैं, अथवा यदि कोई दीक्षित होने वाला हो तो, महीनों तक उसका सत्कार-पुरस्कार करते हैं, और दीक्षावसर पर सम्मिलित हो दीक्षा-महोत्सव धूमधाम पूर्वक करते हैं, और यदि कोई साधुमुनिराज कालधर्म पावे (स्वर्गवास हो जाय) तो अप्रासुक (कच्चे) जल से स्नान करवा, चकडोल (वैकुण्ठी—पालखी-शिबिका) में बैठाकर ले जाते हैं, बाजे गाजे, बजवाते हैं, दोशाल डालते हैं, और धूमधाम पूर्वक श्मशान भूमी में ले जाकर चन्दनादि सुगन्धित द्रव्यों से अग्निसंस्कार करते हैं। यह रीति सदा से चली आती है आज कल की तो है नहीं। भद्र ! अब कहो, यदि ये सब आरम्भ दुर्गति का निबन्धन होता तो तीर्थङ्कर देवों ने इन आरम्भों का निषेध क्यों न किया ? यदि उन्होंने जान बुझकर ऐसे कृत्यों के आरम्भ का निषेध नहीं किया तो प्रतीत होता है कि तुम्हारे तीर्थङ्कर देव मायावी थे, जो अपने को पूजाना, लोगों में आडम्बर दिखाना, अपने शिष्य साधुओं की महिमा कराना, लोगों को दुर्गति में पहुँचाना,

सम्भवित हो सकता है? क्योंकि भाव तो अपना ही ले तो सिद्ध हो। इस लिये भावनिक्षेपे को कैसे माने?

उत्तरः—हे भद्र! चारों ही निक्षेपा तो वस्तु का गुण है। जो चारों ही वस्तु का गुण न होता तो सर्वज्ञ-वीतराग का कहना असत्य हो जाता। सो तुम्हे जैनशास्त्र के रहस्यों की अनभिज्ञता से तथा पढ़ानेवाले अनभिज्ञ पाठकों के संसर्ग से ऐसे कुविकल्प उठते हैं, इस लिये अब हम तुम्हे सत्यवादी भगवद्देव के कहे हुए शास्त्रों के अभिप्राय दिखाते हैं, तुम्हारे भ्रम को भगाते हैं, कुगुरु का सङ्ग छुड़ाते हैं, तुम्हें यदि आत्मा का कल्याण करना हो, तो शुद्ध मार्ग भी बतलाते हैं। कोई भी मूर्त्तिमान् पदार्थ को ऋषभादि जिन का नाम लेकर बुलाना, उसको नामनिक्षेपा से नाम-जिन-प्रतिमा कहेंगे। प्रतिमा बनते समय अव्यक्त वस्तु स्वरूप में जब व्यक्त वस्तु स्वरूप प्रकट हो तो वहां तक स्थापना-निक्षेपा से स्थापना-जिन-प्रतिमा कहेंगे। और जब तक अव्यक्त अथवा व्यक्त स्वरूपवाली प्रतिमा को अञ्जनशलाका किये बिना जो एक जगह रखना अर्थात् प्रतिष्ठा जब तक न हो तब तक द्रव्य निक्षेपा से द्रव्य जिन-प्रतिमा कहेंगे। और अञ्जनशलाका किये बाद जिन-मन्दिर में प्रतिष्ठित जिनप्रतिमा को भाव निक्षेपा से भाव जिनप्रतिमा कहेंगे। इस रीति से चारों निक्षेपों के स्वरूप को जिनप्रतिमा के विषय में समझना चाहिये। देखो जो वस्तु चारों निक्षेपों से संयुक्त न होगी वह प्रायः वस्तु भी न होगी, और उस वस्तु के स्वरूप जानने में सरलता भी नही हो सकती। जिनप्रतिमा समवसरणावस्था में नासाग्र-दृष्टि ध्यान और पद्मासन लगाय स्थित शान्ति-स्वरूप भगवान् का यथावत् स्वरूप को भाव से दिखाती है, इसी लिये जगत् में प्रतिमा पूजाती है, अपने भाव को दिखाकर भव्यजीव को भाव की वृद्धि कराती है। शुद्ध भावों की वृद्धि में परम्परया मोक्ष पहुँचाती है, जिनवाणी शास्त्रों में दिखाती है, "हियाए सुहाए खमाए निस्सेयसाए अनुगामियत्ताए" इत्यादि शास्त्रीय लेख-प्रणाली भव्य जीवों को सुहाती है, जिनप्रतिमा के देखने से मिथ्यात्वरूप अग्नि बुझाती है, इसी लिये भव्य

उनको वीतराग और वैरागी बताया, परन्तु वे तो सरागी हैं, और राज-लीला भोग रहे हैं। इस लिये यदि आप वैरागी है तो आप मुझे दीक्षा दें। इस जगह विचार करना चाहिये कि, मरीचिने अनेक जीवों को प्रतिबोध दे ऋषभदेव स्वामी से दीक्षा दिलवाई, परन्तु कपिल के चित्त में श्रीऋषभदेव स्वामी की वीतरागावस्था न निश्चित हो आई। इस जगह बुद्धिमान् विचार करें कि विद्यमान भाव-जिनेन्द्र श्री ऋषभदेव स्वामी की विभूति देखकर कपिल को वीतरागावस्था न जची, तो पञ्चमकाल के जीव जो कि प्रायः बहुल-संसारी हैं, स्थापना-जिनेन्द्र में सरागता का निरूपण कर लोगों को वहका दें तो उसमे आश्चर्य ही क्या है?

अब इस जगह भगवान् का विभूति सहित वीतरागपन, और स्त्री का शृङ्गार सहित सरागपन, इन दोनों का फल क्या है वह दिखाते हैं। स्त्री की शृङ्गारावस्था को देखकर सरागी को अप्रशस्त सरागभाव का फल पाप-बन्धन होता है, और वीतराग की बाह्य विभूति को देखकर सरागी को प्रशस्त भाव का फल पुण्य-बन्धन होता है, और वीतरागी को निर्जरा का फल होता है। इस लिये जीवों के निज परिणाम (स्वभाव) में सराग तथा वीतराग दोनों भाव हैं, परन्तु बाह्य विभूति में सराग या वीतराग भाव नहीं है। इस लिये श्रीजिन प्रतिमा की सराग अवस्था नहीं किन्तु वीतराग अवस्था ही है। इस बात को आंख मीचकर हृदय कमल में बुद्धि से विचार कर तोलो, तो मिले तुम्हें जैनधर्म अमोलो, क्यों आप सिर मुंड़वाकर लोगों को देते हो झकोलो, इसी लिये लोग में प्रसिद्ध है ढुंढ़ियों में बाईस टोलो, असल जैनी बने चाहो तो शास्त्रानुसार बोलो, जिनप्रतिमा का दर्शन कर अपने मन का मिटाय दो डांवाडोलों, मानव जन्म में चिन्तामणिरत्न जैनधर्म को कदाग्रहरूपी काग (कौआ) के पीछे क्यों गांठसे खोलों? हम जो कहते हैं मानोंगे तो संसार में कभी न डोलो।

प्रश्नः—यह जो आप ने निक्षेपों का वर्णन किया, सो तो ठीक है, परन्तु जिन-प्रतिमा में तीन निक्षेप तो सम्भवित हैं, भावनिक्षेप कैसे

चिह्न वीतराग अवस्था के बाधक हों तो गृहस्थलिङ्गी भरत चक्रवर्त्ती को भी केवल ज्ञान की उत्पत्ति न होनी चाहिये थी। सिद्धान्त में तो स्पष्ट रीति से बाह्य भाव को लेकर गृहस्थलिङ्ग में केवल ज्ञान की उत्पत्ति कही गयी है। इस लिये जैसे बाह्य विभूति को लेकर भावतीर्थङ्कर में वीतरागावस्था का अभाव सिद्ध नहीं होता, वैसे ही मुकुट आदि से श्रीजिन-प्रतिमाजी में भी वीतरागावस्था का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि सरागावस्था या वीतरागावस्था किसी बाह्य विभूति मे नहीं है, किन्तु जीवों के परिणामों में रहती है। देखिये, मद में भरी हुई नवयौवना, शृङ्गार सहित, हावभाव को करती हुई कोई सुन्दर स्त्री को देखने से वह सरागी को राग उत्पन्न करती है, और वीतराग को वीतरागभाव। वैसे ही द्रव्य-भाव-जिन अथवा स्थापना-जिन के दीक्षामहोत्सवादि के या समवसरण के समय चामर छत्र मुकुटादि बाह्य विभूति को देखकर सरागी को राग उत्पन्न होता है और वीतराग को वीतरागभाव उत्पन्न होता है। जैसे श्रीऋषभदेव स्वामी को केवलज्ञान हुए बाद पुण्डरीक से लेकर ८४ चौरासी गणधर और ८४००० हज़ार साधु हुए, और भरतजी का पुत्र मरीचि साधु तो हुआ, किन्तु वह जब साधुपन न पाल सका, तो साधुपन छोड़कर त्रिदण्डी के भेष को लेकर समवसरण के बाहिर बैठा रहता था। और यदि कोई उसके पास दीक्षा लेने की बुद्धि से आता तो उसे उपदेश दे भगवान् के पास दीक्षा लेनेके लिये भेज देता, स्वयं किसी को दीक्षा नही देता था। परन्तु एक बार एक राजपुत्र कपिल नाम का आया, और मरीचि ने उसे प्रतिबोध लगाया, जब उसने प्रतिबोध पाया, तब उसको दीक्षा लेने के लिये श्रीऋषभदेव के पास पहुँचाया, तब कपिलने भगवान् ऋषभदेव के समवसरण की विभूति को देखकर अपने मन में सन्देह लाया, और विचारने लगा कि यह श्रीऋषभदेव स्वामी राजलीला भोग रहे हैं, वैराग्य का तो लेश भी नहीं है, इस लिये मुझे दीक्षा लेना ठीक नहीं है। ऐसा विचार कर समवसरण के बाहिर निकल मरीचि के पास आया, और कहने लगा कि तुमने तो

दिखाते हैं। शुद्धोपयोग का साधन तो वीतराग अवस्था से ही होगा, सराग अवस्था से नही, जिन-प्रतिमा की वीतरागावस्था के अतिरिक्त दूसरी अवस्था सिद्धान्तों मे देखी नही गई, और सुनने में भी नहीं आई; वल्कि जिनप्रतिमा को शास्त्रों में सिद्ध भगवान् ठहराकर जिनायतन को सिद्धायतन श्रीगणधरदेवो ने कहा है। कदाचित् यहां अन्यथा मानोंगे तो सिद्धघर कहनेवाले गणधर देवो को मृषावादी कहना पड़ेगा, और यदि उनके रचे हुए सूत्र-सिद्धान्तों को मानोंगे तो तुम्हें अनिच्छा से भी श्रीजिन-प्रतिमा को सिद्धस्वरूप मे स्वीकारनी होगी, क्योंकि श्रीगणधर महाराजों का जिनायतनो को सिद्धायतन कहना शास्त्रों में पाया जाता है। सिद्धायतन में रहने वाली जिनप्रतिमा सहज ही में सिद्धस्वरूप कहनी पड़ेगी। जिनप्रतिमा के आगे शक्रस्तव मे "ठाणं सम्पत्ताणं" ऐसा पाठ कहने के लिये सिद्धान्तों में श्रीगणधर महाराज ने कहा भी है, जव भाव-जिन अर्थात् समवसरण में वैठे हुए तीर्थङ्करो के आगे "ठाणं सपा-वउकामे" ऐसा पाठ वोलने को कहा है। अव आत्मार्थी भव्य जीवों तथा सिर मुडवाने वाले परीक्षकों को विचारना चाहिये कि, जव पूर्वोक्त सिद्धान्तों के अभिप्राय से जिन प्रतिमा सिद्धस्वरूप ठहरी, तो फिर सिद्धावस्था के सिवाय सरागावस्था उसमें कैसे सिद्ध होगी? अतएव जिनप्रतिमा मे भी वीतरागावस्था के सिवाय सरागावस्था हो ही नहीं सकती। कदाचित् छत्र, चामर, मुकुट आदि विभूति जिन-प्रतिमा की देखकर जैनशास्त्र का अनभिज्ञ और कुगुरुओं का वहकाया हुआ कोई सुगुरुओं की चरण-सेवा विना शास्त्रों को पढ़कर सरागावस्था ठहरावेगा, तो भाव-जिनेन्द्र को भी छत्र-चामरादि विभूति समवसरण के अधिकार में ठहराना जैन शास्त्रों में सुप्रसिद्ध है। और यदि मुकुटादि का प्रतिभास पड़ता नहीं, तो श्री भगवतीजी सूत्र का यह पाठ—"सिद्धारं कल्लाणं सिवं धन्न मङ्गल अणलङ्कियविभूसिया" अन्यथा हो जायगा। जव कि सूत्रचामरादि विभूति सिद्ध है, तो उससे कोई भी भावतीर्थङ्कर की सरागावस्था सिद्ध नहीं कर सकता। यदि छत्र चामर और मुकुटादि

अकल्पनीय है, परन्तु वे ही गुरु-गुरुनी की चित्रादि स्थापना का यदि भक्तिभाव से सङ्घट्टा करें तो इसका दोष जैनशास्त्र में कहीं भी नहीं कहा है, प्रत्युत गुणकारी कहा है। दूसरा और भी सुनिये, साधु ने सचित्त जलादि का सङ्घट्टा त्याग किया है, परन्तु धर्म-प्रवृत्ति के निमित्त विहारावस्था (मार्ग चलने की हालत) में नदी आदि पार करने द्वारा जल का सङ्घट्टा होता है और उनके चारित्र में दोष नहीं लगता। और भी सुनिये, साधु-मुनिराज सर्वत्यागी हैं; परन्तु मरण समय के अनन्तर साधु के शरीर को सचित्त जल से स्नान करवाकर, जम्बुद्वीपपन्नत्ति आदि सूत्रों में इन्द्रादि श्रावकों ने अन्त्येष्टि सस्कार किया है। यह तो हुई पूर्वकाल की सप्रमाण वार्त्ता, किन्तु वर्त्तमान समय में भी तो श्रावक लोग ऐसे अवसर पर उसी माफिक करते हैं। यहां पर तो किसी ने त्यागी को भोगी होने की एवं सङ्घट्ट दोष की कल्पना न की और न करते हैं; तो फिर आविर्भाव से स्वाभाविक स्थापना-जिनेन्द्र की जल-पुष्पादि से पूजा करने में सङ्घट्टा का सन्देह तथा त्यागी एवं भोगी की जो कल्पना करता हैं, वह है महामूर्ख-शिरोमणि जिन-धर्म के अजान, गुरु विना है मूर्खपने का ही उन्हें ज्ञान, इस लिये वह मूर्त्ति-पूजन में करता है तान, जाति कुल के जैनियों में है उसका मान, विद्वानो की सभा में बैठें तो शास्त्रानुसार हो उसका अपमान।

इतना सुनने पर भी जब प्रतिपक्षी (स्थानकवासी) को सन्तोष न हुआ तो फिर कहता है कि—जिन प्रतिमा की दो अवस्था है, एक सराग और दूसरी वीतराग। इन दोनों में से शुद्धोपयोग का साधन किस मे है ? विद्वत्ता का अभिमान मत कीजिये, इसका उत्तर दीजिये, हम ने मुंड मुंडवाया है, हमारी भी सुन लीजिये।

उत्तरः—हे भद्र देवानुप्रिय ! तुमने मुंड तो मुंडवाया, परन्तु जालियों के जाल मे अपनी आत्मा को फंसाया, और आत्मार्थ को भूलकर कदाग्रह-कीच मे धसाया, इस लिये तुम्हें स्याद्वाद जैनधर्म का रहस्य सुनाते है। यदि उसे ठीक २ विचारोगे, तो सच्चा आत्मार्थी हो जाओगे, सो ही अब

बाधा डाली, जो भोगों की प्रार्थना की कि राज्यादि को भोगो, यह जो कथनात्मक अपराध है उसको क्षमा करो।* ऐसे अपराध को क्षमा कराया है, नकि आमन्त्रण सम्बन्धी क्षमा है। क्योंकि आमन्त्रण-वर्जन का तो कोई आशय ही इस गाथा में नहीं हैं। अपनी अभिलाषाओं सम्बन्धी निमन्त्रण कदाचित् वर्जनीय हो सकता है, किन्तु गुरु शुश्रूषा, भक्ति आदि के लिये तो निमन्त्रण का वर्जन कहीं भी नही है। अकल्पनीय वस्तु का सङ्घट्टा (संस्पर्श) उत्सर्ग-मार्ग से साधु नही कर सकता, परन्तु अपवाद मार्ग से वृद्ध-ग्लानादि के निमित्त अकल्पनीय वस्तु का सङ्घट्टा भी साधु कर सकता है। क्योंकि आचारांगादि सूत्रों में पाठ भी हैं, किन्तु ग्रन्थ विस्तार के कारण यहां पाठों को न उतार कर संक्षेप में उनका सार दिखाते हैं। जैसे कोई साधु कच्चे जल का स्पर्श नही करता, किन्तु यदि कोई साध्वी आदिक नदी में पड़ जाय तो उसे निकाल ले। इस स्थान में साधु को वे दोनों (कच्चा जल तथा स्त्री) अस्पर्शनीय है तो भी अपवादमार्ग में स्पर्श करना कहा है। इस लिये स्थापना-जिनेन्द्र की पूजा अर्चा के लिये पुष्पादि के सङ्घट्ट का जो दोष तुमने कहा था, सो भी कोई प्रमाण से सिद्ध नही हुआ। और उक्त आशङ्का का करना भी व्यर्थ है क्योंकि कल्पनीय और अकल्पनीय वस्तु की आशङ्का तो जिन-कल्पी या स्थविरकल्पीओं में होती है, जिनेन्द्रदेव तो कल्पातीत है। इस लिये तीर्थङ्करो के विषय में सचित्त सङ्घट्ट की कल्पना करना ही अनुचित है। श्री आवश्यकादि सूत्रों में वग्गुरादि श्रावकों ने भी छद्मस्था-वस्था में विद्यमान तीर्थङ्करो की पुष्पादि से पूजा की है। जब ऐसे स्थल में सङ्घट्ट का प्रतिपादन किया गया तो बताइये, कि स्थापना-जिनेन्द्र की पुष्पादि से पूजा करने पर कैसे सङ्घट्टनादि दोष लग सकते हैं? और देखिये, साधु-साध्वी को क्रम से स्त्री पुरुष का सङ्घट्टा (स्पर्श)

---

* "हे महर्षे! मया त्वा दृष्ट्वा प्रश्न कृत्वा यत्तव ध्यानविघ्न कृत। च पुन, भोगै, कृत्वा निमन्त्रितो भो स्वामिन्! भोगान् भुङ्क्ष्व इत्यादिस्तव प्रार्थना कृता, त सर्वं ममापराध क्षन्तव्यर्थ:" यह उस गाथा की टीका है।

से कही गई है। इस लिये आत्मार्थि को सन्देह न करना चाहिये। क्योंकि सिद्धान्त की शैली गुरुपरम्परा से ऐसे ही चली आ रही है, कहा भी है,

"कत्थइ देसग्गहणं, कत्थइ खिप्पन्ति निरवसेसाइं।
उक्कमवइक्कमाइं, सहावक्सओ णिरुत्ताइं॥ १॥"

इसी लिये शास्त्र की मर्यादा के अनुसार पूर्व-काल में श्रावक लोग जिनेन्द्रदेव की पूजा सचित्त द्रव्य से करते थे और वर्त्तमान समय में भी करते हैं। किन्तु इतना जरूर है कि वे पांच अभिगमों का पालन करने के लिये सचित्त द्रव्य को बाहिर छोड़कर समवसरण में अथवा गुरुओं के समीप में जाते हैं। अपने निमित्त की अर्थात् अपने भोगोपभोग के लिये जो वस्तु है वह छोड़ने योग्य हैं उसी का त्याग करते थे, न कि देव-गुरु की पूजना-अर्चना सम्बन्धी द्रव्य का। और न ऐसे द्रव्य के त्याग का विधान ही है। इसी लिये हम कहते हैं कि, गुरुगम से शास्त्रों को बांचों, भगवान् की आज्ञा को सांचो, अपने हठाग्रह को मत आंचो, केवल दया का नाम लेकर क्यों मुफत में नाचो?

प्रश्नः—यह तो ठीक है, किन्तु उत्तराध्ययन सूत्र में जो अनाथीजी का अध्ययन है, उसमें जो लिखा है उसको विचारो, वह पाठ यह है कि—

"पुच्छिऊणं मए तुज्झं, झाणविग्घो उ जो कओ।
निमन्तिया य भोएहिं, तं सव्वं मरिसेहि मे॥ ५७॥"

अर्थ—मैंने आप को पूछकर जो ध्यान का विघ्न किया है, और भोग का जो निमन्त्रण किया है, वह समस्त अपराध क्षमा कीजिये। इस पाठ से निमन्त्रण तक का निषेध सिद्ध होता है, तो अकल्पनीय वस्तुओं का सङ्घट्टा (स्पर्श) कैसे बन सकेगा? और साधुत्व भी कैसे निर्दोष रहेगा? इस लिये इस गाथा के अर्थ को विचारो।

उत्तरः—भोले पुरुष! यह गाथा भी बिना सोच समझ के लिख दिखाई, किन्तु इसके तात्पर्य को नहीं जाना। सुनो, इस गाथा का भावार्थ यह है—अनाथी महामुनि से अपना अपराध क्षमा कराने के लिये श्रेणिक राजा ने प्रार्थना की है कि हे महामुने! मैंने आप को प्रश्न करके ध्यान में

आप मजा उड़ाना। अतएव हमारा कहना है कि, हे भद्र पुरुषो! बुद्धि से विचार करो ओर "आरम्भे नत्थि दया" इसके वाकी के तीन पदों को सम्हारो, वञ्चकपन से एक पद को भी मत उच्चारों, क्यों भोले जीवों को बहकाकर दुर्गति में डारो? अब उस पद के शेप पदों सहित पूर्ण गाथा दिखाते हैं, भव्य जीवों को इन जालियों के जाल से बचाते हैं—

"आरम्भे नत्थि दया, विणारम्भे न होइ मह पुण्णे।
पुण्णेण कम्म निज्जरे, अकम्मनिज्जरो न हु मोक्खो॥१॥"

अर्थात् आरम्भ में दया नहीं है, परन्तु आरम्भ के बिना महत्पुण्य (भारी पुण्य) भी नहीं होता है और बड़े पुण्य के बिना कर्म की निर्जरा भी नही होती, और कर्म निर्जरा के बिना मोक्ष भी नहीं मिलता। इस लिये जो लोकोत्तर आरम्भ अर्थात् मन्दिरादि की सेवा-पूजा, तथा साधु महात्माओं की भक्ति आदि करना तथा उनकी देशना (उपदेश) श्रवण करना, ये समस्त पुण्यानुवन्धिपुण्य के कारण हैं। इस लिये स्थापना-निक्षेप में यथावत् भगवद् देव को मानों, हृदय में धर ज्ञान, वस्तु तत्व को पहिचानों।

प्रश्न.—यदि तुम लोग जिनप्रतिमा को जिनेन्द्रदेव मानते हो, और उन जिनेन्द्रदेवों की सचित्त द्रव्य (पुष्पादि) से श्रावक लोग पूजा करते हैं, और सूत्रों में तो ऐसा लिखा है कि जिस समय श्रावक समवसरण में जाते थे, उस समय सचित्त द्रव्य को बाहिर छोड़कर जाते थे। इस तरह सिद्धान्तों में कहा है। तब फिर सचित्त द्रव्यादि से पूजन क्योंकर बन सकेगा?

उत्तरः—हे देवानुप्रिय! जैनशास्त्रों के मर्मों को ठीक २ जानना विना गुरु कृपा के नही हो सकता। औपपातिक तथा आवश्यकादि जैनशास्त्रों में ऐसा पाठ है कि "अप्पेगइया वन्दणवत्तियाए, अप्पेगइया पूयणवत्तियाए," तथा "वन्दणवत्तियाए, पूअणवत्तियाए" इत्यादि। इसकी व्याख्या है "वन्दनप्रत्यय वन्दनार्थमित्यर्थः पूजन गन्धमाल्यादिना पूजनार्थमित्यर्थः" अर्थात् चम्पानगरी से उग्रकुल के सम्यग्दृष्टि श्रावक लोग वन्दन स्तुति

जीवों को मूर्त्ति-पूजा में हुलम्न आती है, मिथ्यात्वी, दूरभव्य, अभव्य को जिनप्रतिमा देखने से कुमत ऊठ आती है, इसी लिये इन्हें दुर्गति सताती है। इतना समझाया तो भी सन्तोष न आया, फिर भी दूसरा विकल्प उठाया, हमारा कहने का मौका (समय) आया, पाठकगण को सब खोलकर समझाया।

प्रश्नः—जिनप्रतिमा अथवा जिनप्रतिमा की मन, वचन, काया करके अविधि होने से कर्म वन्ध होता है, और वर्तमानकाल में बहुत मन्दिरों की प्रतिष्ठा अविधि से हुई देखने मे आती है, और मन्दिरों में क्रिया, आचरणादि भी विपरीत देखने मे आते हैं, तो आत्मार्थी भव्यजीव को दर्शन नमस्कारादि किस रीति से करना चाहिये? तथा अविधि से प्रतिष्ठित मन्दिरों में अथवा जहां विधि-विधान-शून्य आचरण हों वहां जाना चाहिये या नहीं?

उत्तरः—इस प्रश्न के उत्तर में कोई यह न समझे कि मैं किसी पर आक्षेप करता हूं, मैं दिगम्बर श्वेताम्बर से और इनके अवान्तर मतभेद वालों से द्वेष न रखकर जैनशास्त्र के अनुसार हितोपदेशक सद्गुरु की कृपा से यथामति निष्पक्षपात लिखता हूं, और जो लोग पक्षपातरहित हो उसे देखेंगे, उन्हें सत्य २ प्रतीत होगा, नहीं तो जैसा जिसका विचार होगा वैसा उसे प्रतीत हुआ ही करेगा। इस विषय में प्रथम तो आत्मा-रामजी महाराज का रचा हुआ "जैनतत्वादर्श" ९ वां परिच्छेद ४१७ पृष्ठ पर लेख है उसे पढ़ें और तीन थुईवाले धन विजयजी का भी लेख "पदार्थसुधासिन्धुतरङ्ग" के प्रथम वर्ग में नौवां प्रश्नोत्तर पढ़ें। इन दोनों लेखों का तत्व एक ही है। हम भी किञ्चिद् भावार्थ दिखावेंगे, वादिकी कोटि सम्पूर्ण बतावेंगे, यथावत् जिनाज्ञा दर्शावेंगे, अपनी प्रतिज्ञा पाठकगणों को दिखावेंगे। सुनिये, जो पुरुष जिनमन्दिर वा जिनप्रतिमा की अविधि, आशातना (अवज्ञा) शक्ति होते हुए भी जान बूझकर मन वचन काया से करे तो उसको अशुभ कर्म का वन्ध होगा। परन्तु जहां पुरुष का अविधि करने मे चित्त नहीं है, प्रत्युत अविधि आदि दोष

मिटाने के लिये चित्त कटिबद्ध है, वहां यदि अशक्य-परिहार से मन, वचन या काया द्वारा कुछ अविधि आदि हो जाय तो अशुभ कर्म-बन्धन नहीं होगा। हां, जिसकी शक्ति ऐसी है कि, अविधि दोष को दूर कर सके, परन्तु प्रमादवश होकर अथवा जातिकुल या लौकिक पराधीनता के कारण अविधि आदि दोषों को नहीं टालता, तो वह जीव अनन्त-संसारी होगा। और, जिन-विम्ब अथवा जिन-मन्दिरों की अविधि प्रतिष्ठा वा विपरीत क्रिया वर्तमान काल में देखकर अपनी शक्ति अनुसार टालने के लिये प्रयत्न करना चाहिये, परन्तु अविधि आदि दोप देखकर जिनविंब तथा जिनमन्दिर का दर्शन, नमस्कार, पूजादि न कर अशुभ बन्ध न करना चाहिये। कदाचित् अविधि पूर्वक नमस्कार वन्दनादि करें तो वह वन्दनादि करनेवाला लघु प्रायश्चित्त का भागी है, क्योंकि वृहद्भाष्य में कहा है कि,

"अविहिया कंया वरमकयं असूआवयणं भणन्ति समयन्नू।
पायच्छित्तं अकए, गुरुअं वितहकए लहुयं॥ १॥"

अर्थात् अविधिपूर्वक करने से न करना अच्छा है, ऐसा जो कहने वाले हैं, उनका वह असूयावचन है। ऐसा कहनेवाले को ग्रन्थकार जैनसिद्धान्त का अनभिज्ञ बतलाते हैं। क्योंकि जो जैनशास्त्र के जानने वाले हैं, वे ऐसा कहते हैं कि जो नहीं करता है, वह गुरु (बड़ा) प्रायश्चित्त का भागी है, और जो अविधि से करे वह अल्प प्रायश्चित्त का भागी है। जब नमस्कारादि न करने से गुरु प्रायश्चित्त का भागी बनना पड़ता है, और अविधिपूर्वक करने से लघु प्रायश्चित्त का भागी होता है, तो ऐसी कठिन दशा में क्या करना चाहिये ? इस पर किसी महापुरुष का वाक्य है कि—"अकरणाद्‌ मन्दकरणं श्रेयः" इस न्याय से तो न करने से करना ही अच्छा है, क्योंकि विचारशील लोग कौड़ियों की हानि से यदि लाखों का लाभ हो तो अवश्य प्रवृत्त होते ही देखने में आते हैं।

प्रश्नः—आपने शास्त्र का प्रमाण दिया वह तो ठीक है, परन्तु सदैव अविधि करने से लघु प्रायश्चित्त लगता है या कदाचित् अविधि करने

से ? और जिसे जिस सत्कर्म का नियम है उसको वह न करने से गुरु प्रायश्चित्त और अविधि करने से लघु प्रायश्चित्त आता है या नियम रहित को ? इसका खुलासा क्या है ?

उत्तरः—ऊपरी गाथा से तो यह खुलासा मालुम नहीं होता, और न वह ग्रन्थ मेरे पास है कि जिसके पूर्वापर का सम्बन्ध देखने से वह मालूम हो सके, परन्तु इस जगह और शास्त्रों का अनुमान से खुलासा करते हैं—जैसे कोई साधु प्रमादवश होकर मूल गुण या उत्तर गुण में दोष लगावे और उस दूषण को गुरु महाराज के समक्ष कहे, तो गुरु महाराज उसे ऐसा शास्त्रविहित उत्तर देते हैं, जिससे मूल गुण या उत्तर गुण ठीक बने रहें, तथा पवित्रतापूर्वक बढ़ते रहें। किन्तु ऐसा भी न समझ ले कि चलो, किसी नियम उपनियम में दूषण लगने से एक लघु प्रायश्चित्त ही तो आता है, फिर गुरु महाराज के समक्ष जाकर अपराध कहकर लघु प्रायश्चित्त ले लेंगे, ऐसा समझकर अपराध करते गये और लघु प्रायश्चित्त लेते गये। ऐसा व्यवहार कुम्भकार के लड़के के समान सर्वथा अनुचित है। क्योंकि वह वार २ किया हुआ अपराध अनाचार के स्वरूप को धारण कर लेगा। एक बार कहीं दोष लगने से अतिचार कहा जाता है, और बार २ जो लगता है वह तो अनाचार ही कहा जायगा। यहां पर मुझे एक दृष्टान्त का स्मरण होता है कि एक साहूकार के पास एक गुमाश्ता (मुनीम) रहता था। उसने एक बार कार्य बिगाड़ा, और स्वामी से जाकर कहा कि मुझसे आपका कार्य बिगड़ गया है, सो अबकी वार मेरा अपराध माफ कीजिये। शेठ ने माफ कर दिया। किन्तु यदि वह नौकर-गुमाश्ता नित्य कार्य बिगाड़ा करे तो कभी सम्भवित है कि सेठ साहब उसे रख सके ? कभी नहीं। उन्हें ऐसे भृत्य को निकाल ही देना होगा। इस माफिक एक बार अविधि करने से लघु प्रायश्चित्त आता (लगता) है। यह भी समस्त धार्मिक नियमों से नियमित रहनेवालों के लिये है, न कि अव्यवस्थित अनियमित पुरुषों के लिये। अनेकान्त जैनधर्म की गहन व्यवस्था साधा-

रण मनुष्य पा नहीं सकते। कई मनुष्य तो प्रमादवश हो सुखशील बने हुए अविधि आदि का मिष (बहाना) कर शुभक्रिया-व्यवहार से अलग रहते हैं और भगवान् के वचन को न जानकर अनभिज्ञता से औरों को भी बहकाते हैं। द्रव्य क्षेत्र काल भाव को चित्त में नहीं लाते हैं। साधु और श्रावकों के लिये ठीक २ देखा जाय तो दोनों वक्त ठीक समय में छ आवश्यक करने ही चाहिए, कहीं किसी शरीर की गड़बड़ से या कोई विशेष आपत्ति आ जाने पर ठीक वक्त पर न हो सके तो प्रहर या छ घड़ी के बाद अवश्य करें। वैसे ही शास्त्रों में साधु को खड़ा होकर प्रतिक्रमण करने की विधि है, परन्तु शरीर की रुग्णता (रोगिपन), अशक्ति आदि के कारण वह खड़ा रहकर नहीं कर सकता तो बैठकर करे। इस तरह सर्वसंयमी को (मुनि को) तथा देशत्यागी (गृहस्थ) को जो २ नियमित अनुष्ठान क्रियाएँ हैं वे द्रव्य क्षेत्र काल भाव को समझ अवश्य करनी ही चाहिएँ, न कि अविधि आदि ढकोसला रख कर स्वय न करता हुआ औरों को बहकाये। ऐसा करनेवाला महा-प्रायश्चित्त का भागी है। देखिये, जिस स्थान में गेहूँ, चावल न मिले, वहां ज्वार, मक्की, बाजरी, आदि अन्न से ही अपना पेट भर शरीर की रक्षा करनी चाहिये, यदि शरीर बना रहेगा तो फिर भी गेहूँ चावल पा सकेगा। कदाचित् कदाग्रह-बुद्धिवशात् ज्वारादि अन्न को खायगा ही नहीं तो गेहूँ चावलो की आशा ही आशा में शरीर खो बैठेगा। और आर्त्त और रौद्र ध्यान के कारण दुर्गति का भागी बनेगा। इस लिये जो जिसका नियम हो उसे वह जैसे तैसे पालन करे, अविधि को टालने का यत्न करे, यत्किञ्चिद् अविधि से हो तो अविधि का प्रायश्चित्त ले और विधि की जिज्ञासा करे, और फिर शुद्धविधि की प्ररूपणा करता हुआ मार्ग को शुद्ध बनावे, पवित्रात्मा सरल भव्यजीव को जिज्ञासा के सच्चे आराधक बनने की उत्कण्ठा होती है और उसीका कल्याण होता है। इसीसे पहले जो गाथा कह आये हैं उसका कहना भी सङ्गत बन पड़ेगा। परन्तु जो मनुष्य पहले कही हुई उस गाथा के अर्थ को बताते

हैं, और लोगों को अविधि में चलाते हैं, आप भी अविधि करते हैं, और उसी की पुष्टि कर रहे हैं, उत्कृष्ट बनकर शास्त्रों का नाम ले२कर धूर्तता चला रहे हैं, अपने यूथ को वढ़ा रहे हैं, सच्ची प्ररूपणा को भगा रहे हैं और वितण्डे झगड़े मचा रहे हैं, यह समस्त महिमा श्रीमान् मोह महाराजाधिराज की जाननी चाहिये। जातिकुल के जैनी होना, हुण्डा-अवसर्पिणी काल पञ्चम आरे की महिमा को वढ़ाना, भेषधारियों को अपना कुटुम्ब वढ़ाना, और जातिकुल को न देखकर हरेक को शिष्य वनाना, वालकों को वहकाना, वैराग्य विना छोटी उमर में वालक को शिष्य वनाना, अथवा न मिले तो मोल ले आना, इशारा कर श्रावकों से उसके माँवाप को रुपया दिलाना, और फिर उसे विद्या भी पूरी न पढ़ाना, गृहस्थों के परिचय में दिन भर गँवाना, गृहस्थों में अपना दृष्टिराग वढ़ाना, इत्यादि करनेवालों को और अन्तरङ्ग में धर्म की रुचि विना जैनी नाम धराकर अविधि आदि वहाना करनेवालों के लिये लघु प्राय-श्चित्त नहीं है, किन्तु अनन्त संसार की सम्भावना सुनिश्चित प्रतीत होती है। जिसको नियम नहीं है उसका जो अविधिपूर्वक करना वा न करना यह यहां व्यर्थ सा है, क्योंकि "कुड्यं विना कथं चित्रम्" अर्थात् जहां भीत नहीं है वहां चित्र कैसे किया जायगा? जिसको नियम ही नहीं हैं, उसे प्रायश्चित्त से सम्वन्ध ही क्या है? कदाचित् जातिजैनी या कुलजैनी होने के कारण कहो तो मालुम हुआ कि अविधि का चलना चलाना भी विशेष कर जाति-जैन होने के कारण ही हुआ। इस जगह शास्त्र के अनुसार जो कुछ न्यूनाधिक कहा गया हो तो उस सम्वन्ध में मिथ्या दुष्कृत देता हूँ, और गीतार्थ वहुश्रुत जो कहें वह मैं प्रमाण करता हूँ।

'पदार्थ सुधासिन्धु तरङ्ग' के नौवें पृष्ठ के उत्तर में जो लिखा है सो पहले ज्यों का त्यों लिख दिखाते हैं;—"तथा जिनमन्दिर, जिनप्रतिमा की पूजा प्रतिष्ठा प्रमादादि दोष से जानकर अविधि का करनेवाला दुःख का भागी होता है। परन्तु जिनमन्दिर जिनप्रतिमा दूसरे को अवन्दनीय नहीं होते हैं। तैसे ही कहा है सम्यक्त्व प्रकरण सूत्र में, तथा च तद्गाथा–

गुरुकारिआइ केइ, अन्ने सयकारिआइ तं विंति।
विहिकारिआइ अन्ने, पडिमाए पूअणविहाणं॥ १॥

अर्थः—गुरु कहिये माता पिता पड़दादा प्रमुख उनकी कराई हुई प्रतिमा पूजनी चाहिये कोई ऐसे कहते हैं, तथा कोई कहते हैं कि अपनी कराई (प्रतिष्ठी) हुई प्रतिमा पूजनी चाहिये। कोई कहते हैं कि विधि से प्रतिष्ठित कराई हुई प्रतिमा पूजनी चाहिये। इनमें यथार्थ पक्ष तो यह है कि ममत्व-रहित विशेषतारहित सर्व प्रतिमा को पूजना चाहिये। क्योंकि सर्वजगह तीर्थङ्करो का आकार देखने से तीर्थङ्कर-बुद्धि उत्पन्न होती है, जेकर ऐसे न मानिये तव जिन बिम्ब की अवज्ञा से दुरन्त संसार में चिरकाल भ्रमणरूप उसको निश्चय ही दण्ड होवेगा" इस प्रकार उक्त पुस्तक में, जो कि खेतडीवाले पोरवाल उदयचन्द की आज्ञा से छपी है—पृष्ठ ६४ तथा ६५ में लिखा है। इस लेख को देखकर; और हमने यह भी समझा कि वादी को भी सन्तोष नहीं होता तो इन दोनों बातों को देखकर, मुझे समीक्षा करके पाठकगण का दिखाना ही पड़ा। क्योंकि इन उत्तरों के देनेवालों ने 'चतुर्थस्तुतिनिर्णयशङ्कोद्धार' में न्यायाम्भोनिधि श्रीआत्मारामजी के ऊपर ऐसा लिखा था कि "रत्नाकर—सागर की कूप-मण्डूक को खबर नहीं होती, रत्नाकर—सागर की खबर तो रत्नाकर—सागरवासी ही जानते हैं"। इस लेख का यहां स्मरण आने से मुझे भी जरा विस्मय हुआ कि रत्नाकरवासी के सिवाय भला ऊपर की गाथा का ऐसा अर्थ कौन कर सकेगा? ऊपर की गाथा का प्रस्तुत अर्थ के साथ तो कोई सम्वन्ध सङ्घटित नहीं, मन में आया सो लिख धराया, बालपने से ऐसा ही योग कमाया, गुरुकुल वास भी वहुत उत्तम पाया, गाथा का अर्थ नहीं मनःकल्पित अर्थ लगाया, इसी लिये हमने भी पाठकगण को आलोचनाकर दिखाया। पाठकगण उनके लेखों को और हमारी समीक्षा को ध्यानपूर्वक विचारें, असत्य का परित्याग कर सत्य को ग्रहण करें। रत्नाकर के वासी ऐसा लिखते हैं कि "जिन मन्दिर जिनप्रतिमा की पूजा प्रतिष्ठा में प्रमादादि दोषों से जान बूझकर अविधि

करनेवाला दुःख का भागी होता है परन्तु जिन मन्दिर जिनप्रतिमा दूसरे को अवन्दनीय नहीं होते हैं" इतने शब्दों के ऊपर इन्होंने "सम्यक्त्व-प्रकरण सूत्र" की गाथा लिखकर अर्थ किया है, उसका भी निदर्शन करवाते हैं—"माता पिता की अथवा दादाकी कराई हुई प्रतिमा, तथा अपनी कराई हुई अथवा विधि से कराई हुई" यह तीन पक्ष दिखाये हैं। परन्तु इन तीनों पक्षों में से अविधि का लेख तो कहीं नहीं आया, दूसरा इसमें ऐसा भी अर्थ न आया कि प्रमादादि दोष से जानकर अविधि का करने वाला दुःख का भागी होगा। और दूसरे को उस अविधि के करानेवाले की जिनप्रतिमा वन्दनीय होगी। ऐसा अर्थ भी गाथा में जब नहीं आया, तो फिर क्यों इन रत्नाकर के वासियों ने मुफ़त में गाल बजाया? और इस गाथा में ऐसा भी न आया कि "जिन-बिम्ब की अवज्ञा से दुरन्त संसार मे भ्रमणरूप दण्ड उसको निश्चय ही होगा" अब उन्होंने लिखी हुई तीनों बातें पाठकगण विचारें, और इनके अर्थ को भी विचारें। अलबत, माता पिता दादा की कराई हुई तथा अपनी कराई हुई, और विधि से अन्य किसी की कराई हुई ये तीनों तरह की जिनप्रतिमा ममत्वरहित होकर सर्व को अविशेषभाव से पूजनी चाहिये। यह अर्थ तो ऊपर की गाथा का हुआ, परन्तु अविधि का अधिकार इसमें किञ्चिद् भी न आया, फिर इन्होंने भोले जीवों को क्यों बहकाया? ऐसा अर्थ कर प्रतिमा के नहीं माननेवालों से अपना गला पकड़वाया। इसी लिये इसके गुरू राजेन्द्रसूरिजी (जिन का नाम पहले रत्नविजय था) ने छद्मस्थ शब्द का अर्थ कपट सेवन करना बताया, जैन दर्शन में कपट सेवन करनेवाले को साधु नहीं बताया, विद्वानों ने छद् धातु का अर्थ आवरण (ढांपना-छिपाना-तिरोहित करना) बताया, छद्म शब्द को कपट अर्थ में जताया, परन्तु छद्मस्थगत छद्मशब्द का अर्थ विद्वानों की बुद्धि में आवरण आया, इसी लिये जैनशास्त्र में सर्वज्ञ की अपेक्षा से छद्मस्थ को ज्ञानावरण बताया। दूसरा उक्त सूरिजी ने दही के साथ गुड़ का मालपूआ खाने में भी दोष न बताया, 'दूध में गुड़ मिलाकर पीना'

ऐसा निमच की छावनी में अपने श्रावकों को सुनाया। इस बात पर आर्य समाजी दीपचन्द् मेनेजर ने छापा छपवाया, ऊपर लिखी बातों पर दो बजे से लेकर पांच बजे तक मेनेजर ने सूरिजी से झगड़ा मचाया, सूरिजी के चित्त में ऊपर लिखे भावों के सिवाय कोई दूसरा अर्थ न आया, क्रियोद्धार कर अपने वास्ते उत्कृष्टपन दिखाया, तीन चार थुई (स्तुति) का नाम ले व्यर्थ झगड़ा जगाया, स्वयवाड़ावन्दी वान्ध लोगों को लड़ाया, जाति कुल के जैनियों में झूठा जाल फैलाया, श्रद्धा विपरीत हुई तव गुरु के वाक्य को उठाया, विजय देवेन्द्रसूरिजी के आचरण को वोसराया (छोड़ा), मरघट्ट वैराग्य ले जैनतत्व न पाया, यतियों का निषेध कर अपने वाद्य भी वजवाया, उत्कृष्टों का चिह्न मैंने पाठकगण को सुनाया।

अव उस गाथा के आगे और भी उन्होंने जो सूत्र का पाठ दिखाया है, उसे भी ज्यों का त्यों यहां उद्धृत करते हैं—"ऐसा भी कुविकल्प न करना कि, जो अविधि से जिन-मन्दिर या जिनप्रतिमा वनी है, उसके पूजने से तथा दर्शनादि करने से अविधिमार्ग की अनुमोदना से भगवन्त की आज्ञाभङ्गरूप दूषण लगता है। तथा हि श्री कल्पभाष्ये।

निस्सकडे मनिस्सकड, चेइए सव्विहि थुई तिन्नी।
वेलंव चेईयाणि य, नाऊं इक्किक्किया वावि॥ १॥

अर्थः—एक निश्राकृत उसको कहते हैं कि जो गच्छ के प्रतिवन्ध से वनी है, जैसा कि यह हमारे गच्छ का मन्दिर है। दूसरा अनिश्राकृत, सो जिस ऊपर किसी गच्छ का प्रतिवन्ध नही है, इन सर्व जिन मन्दिरों में तीन २ थूई का देव वन्दन करना। जेकर सर्व मन्दिरों में तीन २ थूई के देववन्दन करते वहुत काल लगता जाणे, तथा जिन मन्दिर वहुत होवे तव एक २ जिन मन्दिर में एक २ थूई पढ़ के देववन्दन करे। इस वास्ते सर्व जिन मन्दिरों में विशेष रहितपणे भक्ति करो अरु अशक्य-परिहार से अविधि आशातना दोष अपने जाण अजाण मे लगा होय, तिस का सर्व जिनपूजादि कृत्य करके अविधि आशातना निमित्त मिथ्या दुष्कृत देना, यही श्रद्धावन्त का लक्षण है। परन्तु अविध्यादि दोष का विकल्प करके

जिनदर्शनादि त्याग के विकल्प का त्याग करके विधिमार्ग की अन्वेषणा करनी यही तत्व है।" इस रीति से "जैन तत्वादर्श" के ६ वां परिच्छेद के ४१७ वां पृष्ठमें लिखा है, जिसका कर्त्ता न्यायाम्भोनिधि श्री आत्मारामजी है, जिन के लेख की समीक्षा में "स्याद्वादानुभव-रत्नाकर" के तीसरे प्रश्न के उत्तर में लिख चुका हूँ। रहे दूसरे वही रत्नाकरवासी श्रीधन-विजयजी, जो जतियों को छोड़कर क्रिया-उद्धार कर अपने को आत्मार्थी तथा उत्कृष्ट बतलाते हैं और जो सफेद कपड़े वाले तथा तीन थुई को मानते हैं। ये दोनों (आत्मारामजी और धनविजयजी) अपने २ को विद्वान् समझते हैं। परन्तु इस गाथा के अर्थ से पाठकगण बुद्धिपूर्वक विचार करेंगे, तो दोनों की विद्वत्ता का उन्हें पता लग जायगा। कारण कि इस गाथा का अर्थ दोनों के भी मत में यही है कि—"निश्राकृत और अनिश्राकृत ये दोनों प्रकार के जिन मन्दिरो की भक्ति समानभाव से करनी चाहिये" इसके सिवाय विधि और अविधि की कुछ भी जिक्र प्रस्तुत गाथा में नही है और न उन्होंने भी बतलाई है, फिर समझ में नहीं आता कि, उन दोनों विद्वानों ने विधि अविधि के विषय में यह गाथा का प्रमाण क्यों लिख कर दिखाया? जब वादी का यह पक्ष है कि अविधि से जो जिन मन्दिर और जिनप्रतिमा बनी है, उसको पूजने से, दर्शन आदि करने से अविधिमार्ग की अनुमोदना होती है और उससे भगवन्त की आज्ञा-भङ्ग रूप दूषण लगता है, तब इस पक्ष के उत्तर में उन्हों को ऊपर की गाथा जिस में विधि अविधि की कुछ भी जिक्र नहीं लिखना कैसे सङ्गत हो सकता है? यह उत्तर तो ऐसा असम्बद्ध मालूम होता है कि जैसे किसी ने कोई आदमी को पूछा कि 'रे तू कौन है'? तब दूसरे ने उत्तर दिया कि 'मैं जाट हूं'। यह सुनकर पहले आदमी ने कहा कि 'जाट रे जाट! तेरे सिर पर हो खाट'। तब जाट पूछने लगा कि 'रे! तू कौन है?' तब उसने कहा कि 'मैं तेली हूं'। तब जाट ने कहा कि 'तेली रे! तेली! तेरे सिर पर कोल्हू'। तब तेली बोला कि 'भाई! तुक् (अनुप्रास) तो न मिला'। तब जाट बोला कि 'तुक् मिले या न

मिले, बोझे से तो मरोगे !' इसी तरह रत्नाकर के वासी ने भी प्रश्न उठा कर, लेख तो पाठकों के लिये लिख दिया, उत्तर आवे या नहीं इससे क्या ? अपनी विद्वत्ता तो छांट वतायी और इस मसल को भी चरितार्थ कर बतायी कि "कहीं की ईण्ट कहीं का रोड़ा, भाणवती ने कुनबा जोड़ा" इस रीति से उत्तर लिखाकर भोले जीवों को बहकाया, जिनाज्ञा का ख्याल न आया।

पहिली गाथा के अर्थ में भी ऐसा लिख दिया है कि जिन-मन्दिर जिन-प्रतिमा की पूजा प्रतिष्ठा को प्रमादादि दोष से जानकर करनेवाला दुःख का भागी होता है, परन्तु जिनमन्दिर जिनप्रतिमा दूसरे को अवन्द-नीय नहीं। तो अब हम इन दोनों वातों पर विचार करते हैं कि उस सर्वज्ञ वीतरागदेव ने विधि का प्रतिपादन शास्त्रों में क्यों किया ? जब कि विधि का प्रतिपादन है तो अविधि कर निषेध अवश्यमेव हो गया। कदाचित् ऐसा कहोगे कि, जैनशास्त्रों में अपवाद मार्ग भी तो सर्वज्ञदेव ने कहा है। तो हम कहते हैं कि जिसे कोई विशेष कारण या वाधा पड़े, वही अपवाद मार्ग से दोष लगावेगा, परन्तु उसके अपवाद कारण से सब को ही अपवाद कारण तो नहीं मानना पड़ेगा। और वह अपवाद कुछ प्रवृत्तिमार्ग न होगा, क्योंकि अपवाद तो कारण से है। कदाचित् तुम ऐसा नहीं मानोगे तो हम तुम्हें पूछते हैं कि तुम यतियों का निषेध क्यों करते हो ? क्योंकि वे यतिलोक प्रमादादि दोष से, जानकर अविधि-पूर्वक चारित्र पालते हैं, इससे वे डूबेंगे, परन्तु गृहस्थों को तुम्हारे कहने माफिक अवन्दनीय न होने चाहिये। फिर तुम अपने गृहस्थों को क्यों कहते हो कि इन यतिओं को वांदने से मिथ्यात्व लगता है और भगवान् की आज्ञा इनको वन्दन करने की नही है। तुम्हारे लेखानुसार बलात् यति का वन्दन सिद्ध हो गया। अब दूसरा कुछ और भी सुनिये, 'सङ्घपट्टक' आदि ग्रन्थों में जिन मन्दिरों में चैत्यवासी, शिथिलाचारी रहते हैं, उन मन्दिरों का वा जिनबिम्बों का मानना निषेध किया है। तो क्या तुम्हारी लिखी हुई सूत्रो की गाथा का बोध उन आचार्यों को न

था, जो उन्होंने वहां अविधि वाले मन्दिरों में जाना सब के लिये निषेध ही कर दिया? जहां जाना ही निषेध है वहां पूजादि कृत्यों का करना किस तरह बन सकेगा? तीसरा और भी सुनो कि—उववाईजी सूत्र में अम्बड़ परिव्राजक और उसके सात सौ शिष्यों का वर्णन किया गया है उनमें यह भी कहा है कि अन्यतीर्थ का ग्रहण किया हुआ चैत्य अर्थात् जिनबिम्ब, उनका मैं वन्दन पूजन नहीं करूं। और ऐसे ही श्री उपासक दशाङ्ग सूत्र के सप्तमाङ्ग में आनन्द आदि श्रावको के सम्बन्ध मे भी इसी अर्थ को जतलानेवाला पाठ है।

पाठक महाशयों को अब थोड़ा सा अन्यतीर्थ वा स्वतीर्थ का निदर्शन करवाते हैं। तीर्थ अथवा मति या पन्थ इत्यादि अनेक नाम है। जिस में पहिले तीर्थ शब्द का अर्थ करते हैं—"तीर्यतेऽनेनेति तीर्थम्"। इस तीर्थ के भी दो भेद हैं। एक जङ्गम दूसरा स्थावर। अब दूसरा मति-शब्द का अर्थ करते हैं जैसे "मति, बुद्धि, मेधा" इत्यादि अनेक नाम है। अब पन्थशब्द का अर्थ करते हैं—पन्थ, मार्ग, रास्ता इत्यादि अनेक नाम हैं। इन शब्दो में स्वशब्द लगने से अपना वाची होता है, और अन्य शब्द लगने से दूसरे का वाचक हो जाता है। अब उन तीनों शब्दों को जोड़ कर दिखाते हैं। जैसे स्वमति अर्थात् स्वबुद्धि उस करके पन्थ कहता संसार रूप मार्ग उससे तीर्थ नाम तैरना अर्थात् पार हो जाना (मोक्ष जाना) इसी रीति से अन्यमति अर्थात् अन्य बुद्धि उस करके पन्थ कहिये संसार-रूपी मार्ग उससे तीर्थ कहिये तैरना अर्थात् पार हो जाना। इसी रीति से शब्दार्थ होता है। तो बुद्धिमान आत्मार्थी विचार करते हैं कि स्व नाम अपने से जो विपरीत सो अन्य अर्थात् पर हुआ। तो इस जगह ऋषभदेव से लेकर श्रीमहावीर स्वामी पर्यन्त तो तीर्थङ्कर हुए हैं, उनकी जो मति अर्थात् बुद्धि केवलज्ञानमयी, उस केवलज्ञान रूपी बुद्धि से पन्थ कहिये संसार रूपी मार्ग उससे तीर्थ कहिये तरने की जो विधि, उससे जो विपरीत कहनेवाले गोशाला जमालि आदि, वे लोग तीर्थङ्करों के सामने अन्यतीर्थ में थे। उन अन्य तीर्थवालों ने जो जिन-मन्दिर या

जिन-प्रतिमा ग्रहण की हुई है, वह शास्त्रानुसार अवन्दनीय सिद्ध होती है। इसी लिये वर्त्तमान समय में जो दिगम्बरादि जैनी पुकारे जाते हैं, वे लोग जो श्वेताम्बरादितीर्थ वा मन्दिर वा जिन बिम्बों को ग्रहण करें, तो श्वेताम्बर आम्नायवालों के वे जिन मन्दिरादि पूजनीय, वन्दनीय नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने अविधि कर डाली है। इसी लिये आचार्य लोग श्रावकों को दिगम्बरादिकों के मन्दिरों में जाना निषेध करते हैं; यहां तक कि गिरनारजी तीर्थ को जब दिगम्बरियों ने ग्रहण करने का विचार किया, तभी से आचार्यों ने इकट्ठे होकर दिगम्बरियों से तीर्थ सुरक्षित किया और "उज्जिन्त सइलसिहरे" इत्यादि गाथा से श्वेताम्बरियों की तरफ गिरनार सिद्ध हो गया। और "सिद्धाणं बुद्धाणं" के पाठ में भी तभी से शुरू है, ऐसा मेरे श्रवण में आया है। इसमें मुझे विवाद नहीं है। मेरा जिन-बिम्ब लिखने से इतना ही मतलब था कि श्वेताम्बर आम्नाय के बिम्ब वगैरह को दिगम्बर लोग यदि ग्रहण करे तो उसको श्वेताम्बर आम्नाय-वाला साधु-श्रावक वन्दन करे नहीं, और उस जिनमन्दिर या जिनबिम्ब का पूजन भी करे नहीं। और दिगम्बरी का जिनबिम्ब कराया हुआ हो तो, उसमें तो सुनिश्चित ही वन्दन पूजन निषिद्ध है। और सभी श्वेता-म्बरी लोग वर्त्तमान में निषेध करते भी हैं।

रत्नाकरवासी ने जो ६५-पत्र में लिखा है कि "सर्वत्र तीर्थङ्कर का आकार देखने से तीर्थङ्कर बुद्धि उत्पन्न होती है, ऐसा न मानियेगा तो जिनबिम्ब की अवज्ञा से दुरन्त संसार में भ्रमणरूप सुनिश्चित दण्ड उसे होगा।" इस लेख से रत्नाकर के वासी को जो उन दिगम्बरों के जिन मन्दिरों में तीर्थंकरों के यथावत् आकार को देखकर भी अपने श्रावकों को वहां आने जाने तथा वन्दन पूजन के लिये निषेध करते हैं, दुरन्त-संसार-भ्रमण-रूप दण्ड सुनिश्चित ही भोगना पड़ेगा। वैसे ही गोशालादि के मन्दिरों में भी तीर्थङ्करों का आकारादि यथावत् दृष्टिपथ होगा ही, और श्रावक लोग उसी की अवज्ञा करेंगे तो तुम्हारे लेखानुसार उन्हें भी दुरन्त संसार का दण्ड होगा। और जो वैष्णव लोगों के बद्रीनारा-

यण में जिन-प्रतिमा के सदृशाकारवाली मूर्त्ति लोग कहते हैं, तो उसे न माननेवाले तुम लोगों को पूर्वोक्त दण्ड का भागी होना पड़ेगा जो वैष्णवादि जिनमन्दिर या जिनप्रतिमा को ग्रहण करें और उसका आकार किसी भी प्रकार से न वदले, तो उसकी सेवा पूजा नमस्कारादि न करने से तुम्हारे लेखानुसार तो दण्ड अवश्यमेव होगा, क्योंकि आकारादि के देखने से तीर्थङ्कर-बुद्धि उत्पन्न होने में वहां कोई सन्देह ही नहीं है। इस लिये तुम (श्रीधनविजयजी) यदि कुछ भी परामर्श-पूर्वक उल्लेख करते तो तुम्हारा श्री आत्मारामजी को कूप-मण्डूक बतलाकर अपने को रत्नाकरवासी सिद्ध करना कुछ सङ्गत होता। यदि तुम कहोगे कि वे लोग तो सम्पूर्ण अविधि करते हैं, इस लिये उनका निषेध किया है, तो हम कहते हैं कि हे रत्नाकर के वासी, विद्वत्ता के दुश्मन! इस तुम्हारे कहने से तो बाजार में वोर (वेर) वेचनेवाली कुञ्जड़ी के "मेरा वोर मीट्ठा दूसरों का खट्टा" यह वचन के माफिक अपनी अविधि तो अच्छी और दूसरों की अविधि खोटी हुई। अहा हा! क्या कहना इस विद्वत्ता का !!

और भी सुनिये कि यदि जिनप्रतिमा देखने से ही तीर्थङ्कर-बुद्धि उत्पन्न होती है तो फिर तुम जो प्रतिष्ठा, अञ्जनशलाका आदि कराते हो वह तुमारा कराना व्यर्थ है; क्योंकि विना प्रतिष्ठा के विम्ब है, उनसे भी तुम्हारे लेखानुसार तीर्थङ्कर-बुद्धि हो ही जायगी, फिर लोगों को खर्च कराना, अपने आडम्बर को दिखाना, झूठा उपदेश लगाना, बालजीवों को वहकाना, अच्छा नहीं। इस लिये विधि अङ्गीकार करो, अविधि से डरो, क्योंकि आप लोगों ने यतिपन छोड़ा और क्रियोद्धार किया और उत्कृष्ट बने, आत्मार्थी कहलाये, और अविधि में भी अपने पाओं को फैलाये। इससे तो यह सिद्ध हुआ कि आप का दूसरा व्रत यथावत् नहीं है। और भी जो आप लिखते हैं कि—अविच्छिन्न परम्परा से तीन थुई श्रीमहावीरस्वामी से चली आती है, आप का यह लिखना आप के दूसरे महाव्रत को दूषण देता है। क्योंकि देखिये—श्रीजगचन्द्रसूरिजी ने तपागच्छ विरुद पाया, और महावीर स्वामीजी से तुमने उनका

पाठ मिलाया। श्रीजगच्चन्द्रसूरिजी तो चार थुई करनेवाले थे, और उनके पीछे तुमसे चौथी या पांचवी पीढि में विजयदेवेन्द्रसूरिजी गीतार्थपन में और क्रिया में तुम्हारे लेखानुसार वड़े प्रवल थे, वे भी चार थुई ही करते थे। और उनके वाद शिथिलाचार में प्रवृत्त पूर्वनाम रत्नविजयजी के गुरु प्रमोदविजयजी भी चार थुई करते थे। और इन प्रमोदविजयजी का ही दिया हुआ सूरिमन्त्र से क्रियोद्धार करके राजेन्द्रसूरिजी ने तीन थुई स्वीकार ली। जव यह हाल है तव फिर तुमारी अविच्छिन्न परम्परा से तीन थुई कैसे सिद्ध हुई? इस लिये दूसरे महाव्रत में दूषण आया। और तुम्हारे गुरु राजेन्द्रसूरिजी की प्ररूपणा से सन्देह उत्पन्न हुआ कि उनको भी दूसरे व्रत का त्याग नही दीख पड़ता।

और, जो तुमने 'चतुर्थस्तुतिनिर्णयशङ्कोद्धार' में मोहनलालजी के ऊपर यह उक्ति घटायी है कि "गङ्गा गये तो गङ्गादास जमुना गये तो यमुनादास" यह उक्ति तो तुम्हारे गुरुजी के ऊपर ठीक २ सङ्गत होती है। वही दिखाते हैं कि—रतलाम, जावरा, खाचरोद आदि नगरों के श्रावकों से सुनने में आया है कि गुड़ की वस्तु दूध दही के साथ नहीं खाने का नियम भी उन्होंने करवाया था। परन्तु नीमच आदि मेवाड देश के सयोग से, और वाईस टोला की प्रवृत्ति वहां विशेष होने से इस प्रान्त के लोग, गुड़ के मालपूआ दही से खाना और गुड की लापसी दूध से खाना, और दूध में गुड़ मिलाकर पीना, पसन्द करते हैं। इन्होंने भी यह देखकर वैसा ही उपदेश चलाया। यदि खाने का उपदेश न देते तो उनके श्रावक उनसे विगड़ जाते। इस लिये जैसा यहां देखा वहां वैसा ही उपदेश दिया। दूसरा मेरे सामने भी कहा था कि,—'साध्वी-आर्या पुरुषों में व्याख्यान न दे, केवल स्त्रियों में उपदेश दे' ऐसा नीमच नाम के नगर मे कहा था। परन्तु छावणी में दीपचन्द डागा मेनेजर और माङ्गीलाल अग्रवाल के सामने मेरे वैठे हुए, स्त्री पुरुष दोनों के सामने मेरी रूवरू में साध्वी को उपदेश देनेके लिये कहा। इससे यह भी उक्ति सङ्गत हो जाती है कि— "शावास वहू! तेरे नखरे को यदि आप लगावे लड़के को"। और भी

अनेक सी बाते हैं कहां तक लिखें ? जिस रीति से तुम्हारा कहना है, उस ही तरह का तुम्हारा लेख भी देखने में आता है। इस लिये ही चार थुईवाले यति-संवेगी लोक अपने श्रावको को तुम्हारी कराई हुई प्रतिष्ठावाले मन्दिरों में जाने से निषेध करते हैं, जो तुम्हारे कथनानुसार चले तो कभी भी न रोकें।

इस लिये अविधि मत करो, विधि को अङ्गीकार करो। तपागच्छ के नायक श्रीहीरविजयसूरिजी ने अपने प्रश्नोत्तर में लिखा है कि "श्राद्धानां जिनालये रात्रावारत्रिककरण नोत्तमम्" अर्थात् जिनमन्दिर में रात्रि को आरती करना अच्छा नहीं है। इनके विषय में विशेष हमारे रचे हुए "जिनाज्ञा विधि प्रकाश" के पञ्चम प्रकाश में देख सकते हैं। और सङ्घपट्टक के १७ वें श्लोक से २२ वें श्लोक तक की वड़ी और छोटी टीका में देखकर उन्मार्ग को उठाओ, किसी सद्गुरु की चरणसेवा कर जैनधर्म को पाओ, क्यों व्यर्थ मिथ्यात्व को वढ़ाओ, कुछ अपनी आत्मा की भी करुणा चित्त में लाओं। वर्त्तमान समय में अविधि विशेष कर होती है। इससे आत्मार्थी भव्यजीवों को अविधि को छोड़कर विधि की ओर झुकना चाहिये। वर्त्तमान समय में अविधि होने का कारण यही मालूम होता है कि, सर्वज्ञों के न रहने से छद्मस्थों ने जिन धर्म की उन्नति और प्रभाव दिखाने के लिये, और भव्यजीवों के कल्याण के निमित्त, और भविष्य में भी भव्यजीवो के उपकार के कारण ओसवाल पोरवालादि को उपदेश दे जैन बनाया। तथा हुण्डा अवसर्पिणी पञ्चम काल, और असंयति की पूजा का आश्चर्य और सर्वज्ञ वीतराग श्रीमहावीर स्वामी का यह वचन कि पञ्चम आरे में धर्म को चालनी के समान मुण्ड (साधु) लोग कर डालेंगे, कल्पसूत्र मे भी एक स्थान में ऐसा पाठ है कि "मुण्डा वहवोऽल्पे श्रमणाः" अर्थात् मुण्ड मुण्डाकर वेपधारी साधु बहुत हो जायेंगे, किन्तु श्रमण वास्तविक मुनि-महात्मा कम रहेंगे। ये ही सब कारण है कि जैनधर्म में विशेष भेद प्रभेद होते ही चले गये। जाति से जैन गृहस्थ और श्मशान वैरागी साधु, दोनों का जब मेल हो गया और

फिर रागद्वेष बढ़ने लगा तब अनेक भेद प्रभेद होने के कारण, सन्देहास्पद होने का समय आया कि, इनमें किस को जैनी मानें? क्योंकि सब ही सूत्रों का प्रमाण दे दिलाकर अपने को सच्चा और दूसरों को झूठा कहते हैं। ऐसा कह २ कर गृहस्थों को लड़ाना, और अपने २ रागियों से विधि अविधि का ख्याल न करना, और मन्दिरादि बनवाकर आप प्रतिष्ठा करना, और जाति कुल के जैनी होने से सब को बुलाना और उत्सवादि करना ; ऐसा करने से जो अविधि होती है, उसका कारण जाति-कुलों का उद्भव और शास्त्र के यथाथ ज्ञान का अभाव ही है। इसी वजह से होती हुई अविधि को देख कोई रोकटोक भी नहीं कर सकता। और भेपधारि लोग भी लोभ के कारण कुछ नहीं कर सकते। क्योंकि ओसवालों वा पोरवालों (श्रीमाल भी उसमें शामिल है) के सिवाय धनादि का अर्पण वा सत्कारादि करे कौन? इन कारणों से विशेष अविधि की प्रवृत्ति हो गयी। किन्तु पक्षपात को छोड़कर आत्मार्थी जैनशास्त्रानुसार विचार करें तो जो हमने मत पन्थ वा तीर्थ का अर्थ पहिले दिखाया है, उस अर्थ के अनुसार जो इस समय में भेद हैं, वे एक से एक अन्य हैं, क्योंकि वीतराग सर्वज्ञ देव की आज्ञा तो एक में बनेगी, न कि भिन्न २ मत में और भिन्न २ सामाचारी में।

इस कारण से यदि कोई किसी को कहे कि तुम अविधि कर रहे हो, अथवा जो मन्दिरादिक की आशातना से बचाने की चेष्टा की जाय तो ओसवालादि सानुकूल न होने से कभी भी आशातना न टालेंगे। इस बात का एक उदाहरण में पाठकगण के समक्ष दिखाता हूँ कि संवत् १८५२ के वर्ष में श्रीफलोधिपार्श्वनाथ में इतनी आशातना होती थी कि पूरा मन्दिर का कचरा (कूड़ा) भी न निकलता था, और पूजन का भी ठिकाना न था। और मालियों (मन्दिर में पुष्पादि लानेवाले नौकर) ने भी तमाम जमीन मकानादि गिरवी रख दिये थे। और जो जात्री आते थे उनका काम नहीं करते थे। जो कोई देनेवाला यात्री आ गया तो उसका काम करते थे। और थोरियों (नायकों) की जमीन का तो किसी को

पता भी न चलता था। परन्तु यह जैनधर्म का दास भाण्ड-चेष्टा करता हुआ पहिले मेड़ते मे गया तो वहां भी मन्दिरों की आशातना देखी। तब उस जगह के श्रावकों से कहकर आशातना बहुत कष्ट से हटाई, और जैसा कहा वैसा वहां के श्रावकों ने प्रबन्ध किया। परन्तु श्रीफलोधिजी के नवीन कारबारी (कार्यकर्त्ता) जोधपुर मे रहनेवाले भण्डारी उदयचन्द विगैरह थे। उन्होंने पुराणे भण्डार के जो रजत-पात्र (चांदी के बर्त्तन) कलश, तामलिया, आदि थें, वे ऐसे लोगों के हाथ बेचे कि जो लोग उन बर्त्तनों में खराब चीजें रखकर खाते हैं। अब बुद्धिमान् विचार करें कि भावित आत्माओं की चढ़ाई हुई वस्तु का बिना ही किसी खास मुसीबत के बेचना कितना अनुचित है? इसको रोकने के लिये मैंने भरसक प्रयत्न शुरू किया। और जो कार्यकर्त्ता थे उनको कहलवाया, परन्तु जब उन लोगों ने कुछ भी न सुना, तब जो मारवाड़ तीन परगने का मुसलमान सुपरिटेण्डेण्ट था, और मेड़ता का भी एक हाकिम (अधिकारी) कायस्थ (पञ्चोली) था; इन दोनों के द्वारा मालियों की जमीन तथा घर छुड़वाकर मन्दिर के तालुक करवा दिये गये। और भविष्य में माली या दूसरा कोई इस जमीन तथा घरों को गिरवी न रख सके ऐसा ही बन्दोबस्त किया गया। ऐसे ही सेवक लोगों से लेख करवाये कि मन्दिर में यदि कचरा (कूड़ा) रहेगा तो चार आने और पूजन में यदि न्यूनता हो तो आठ आने दण्ड देना होगा। ऐसे इस जैनधर्म के किङ्कर ने उस समय लेख करवाये। साथ ही कुछ त्रुटियां देखने में आईं तो उनसे जुर्माने (दण्ड) लेकर भण्डार की बही खाते में जमा भी करवाये। देखनेवाले सज्जन प्रसन्नतापूर्वक वहां से देख सकते हैं। और जो मेले के अवसर पर मन्दिरजी की परिकर्मा में झूठ आदि फेंकते थे, उनका उतरना और झूठ गेरना बन्द करवाया। और २५ बीघा ज़मीन में जागिरदार बाड़ा आदि न बनाने देते थे सो भी बनवा दिया। और धोरियों की २५० बीघा जमीन की किसी को भी खबर न थी, और जागीरदार ने दबा रखी थी, सो भी हज़र करवाकर धोरियों से लेख

करवाया। परन्तु इन सब कार्यों के करने पर कारबारियों का शिष्टाचार देखिये कि उन्होंने सेवकों से मेरा अपमान करवाया और फिर सेवकों से मन्दिरों की आशातना करवाई। सो मेड़ता के सब लोग जानते हैं।

इस तरह जाति-कुल का धर्म हो जाने से जो जिनकी मौज में आता सो वे करते हैं, परभव से न डरते हैं, न या कोई जैनी हो तो उसकी हँसी करते हैं। इस लिये यथार्थ कहना सुनना कष्ट सा हो गया है, क्योंकि शास्त्रों के देखने से मालूम होता है कि—पहिले जैन गृहस्थ लोग श्रमणोपासक अर्थात् जैन साधुओं के उपासक कहलाते थे। परन्तु वर्त्तमान काल में भेषधारियों को लोग "ये ओसवालों के गुरु हैं" ऐसा कहते हैं। इस तरह गृहस्थों से साधु पीछाने जाते हैं। इसी कारण से ओसवालों को अभिमान आया, इससे विनय को उठाया, साधुओं पर हुकुम चलाया, जो कोई साधु न माने तो उलटा उस साधु को धमकाया, याद (कण्ठस्थ) पूरा नहीं नवकार और श्रावक नाम धराया, इसी लिये जगह २ मन्दिरों की आशातना बढ़ाया, जाति-अभिमान पर चढ़ मन्दिरों का धन खाया, इससे ही ओसवालों में दरिद्रपन है छाया। अविधि चलने में भी ये ही सब कारण जान पड़ते हैं। इस लिये जो आत्मार्थी हो और वे यदि अपनी आत्मा का परमार्थ सिद्ध करना चाहें तो अविधिमार्ग को छोड़ कर विधिसहित भगवद्देव की आराधना करे।

कदाचित् यदि कोई कहे कि आप, जैसा पवित्र मन्दिर कहते हो वैसा वर्त्तमानकाल में होना कठिन है। इस पर हमारा कहना यह है कि यदि आधुनिक मन्दिरों में सन्देह है. तो पुरातन समय के जो जिनमन्दिर और जिनबिम्ब हैं उनकी सेवापूजा आप लोग करें। परन्तु उस जगह अविधि आशातना आदि यथाशक्ति न होने दें। कदाचित् जातिकुलवाले आशातना आदि दोषों को न टालने दें और राग-द्वेष को विशेष बढ़ावें, तो उसको भी छोड़कर सूर्य की ओर मुख करके चैत्यवन्दनादि कृत्य को करें। और पूजनादि की यदि भावना हो तो मानसिक पूजन करें। सो

मानसिक पूजादि की विधि तो प्राणायामादि के निरूपण के अवसर में कहेंगे।

अब यहां यदि कोई शङ्का करे कि सूर्य को तो वैष्णवादि लोग जलादि के अर्घ देते हैं या जल चढ़ाते हैं, तो वैष्णवों के माफिक कृत्य हो जायंगे। इस पर हमारा कहना यह है कि जैनशास्त्रों में कहा है कि सूर्यादि के विमानों में शाश्वती जिनप्रतिमायें हैं, इस लिये उसके सामने पूजादि करने में कुछ हानि नहीं। कदाचित् यह कोई कहे कि सूर्य यदि मेघाच्छन्न हो तो विना सूर्य के दर्शन किये वह कृत्य कैसे हो सकता है ? इस पर हमारा कहना है कि ईशान कोण के सामने चैत्यवन्दनादि करें। कदाचित् कोई इस पर भी प्रमाण पूछे तो सुनिये—प्रातःकाल जो राइ प्रतिक्रमण करके वाद में सीमन्धर स्वामी का चैत्यवन्दन नैतिक (रोज़ीना) करते हैं, यह प्रत्यक्ष प्रवृत्ति-मार्ग ही प्रमाण है। यदि ऐसा कहे कि दिग्भ्रम (दिशा का भ्रम) हो तो क्या करें ? इसका उत्तर यह है कि—जो मानसी पूजा की विधि आगे लिखेंगे उस विधि से अपने हृदय कमल के ऊपर मानसी पूजा करें। इस तरह आत्मार्थी भव्यजीव अविधि को छोड़कर शास्त्रानुसार विधि को अङ्गीकार करें। क्योंकि अविधि आशातना वाले स्थान में यदि पूजादि करेगा तो उसको यथावत् बोधिबीज और आत्म-स्वरूप न मिलेगा। लोक में भी कहते हैं कि अच्छे स्थान में बैठने से अच्छा होगा, अच्छी बुद्धि प्राप्त होगी। यदि जुआरी, चोर, व्यभिचारी आदि के पास बैठेगा तो बुरे आचरण प्राप्त होंगे।

इस लिये जिस जगह शास्त्रानुसार विधि सहित जिनमन्दिर तथा जिनबिम्ब को देखने से चित्त प्रफुल्लित एवं आनन्द युक्त हो उसी स्थान में आत्मा को ध्यानपूजादि करने चाहिये। क्योंकि अविधि का मन, वचन और काया से करना कराना तो एक तरफ रहा, किन्तु चिन्तन-अनुमोदन करने से भी दुःख का भागी होना पड़ता है। श्रीपालचरित्र में लिखा है कि—रत्नद्वीप वाला राजा अपनी पुत्री को धर्मकृत्य के समय में प्रभु की भक्ति में लीन देखकर आनन्दित हुआ, और उसने इतना ही मन से

विचारा कि पुत्री का योग्य वर मिले तो ठीक। इतना विचारने पर ही मंदिर के कपाट बन्द हो गये। विशेष कथांश श्रीपालचरित्र में देखो। हमें तो केवल अवज्ञा का उदाहरण मात्र यहां दिखाना था। पवित्रात्माओं ने विधिपूर्वक बनवाये हुए मन्दिरों में ऐसे २ साक्षात् चमत्कार देखने में आते थे, जिस से भव्यात्मा को एकदम श्रद्धा, भाव, भक्ति उत्पन्न हो जाती थी, और भविष्य में ऐसे पवित्र स्थानों में अविधि आशातना करने तो कहां पायें, उसका चिन्तवन को भी महा अपराध समझ नजदीक तक न छूने देते थे। आज कल में जो मन्दिरों में आशातनायें होती हैं उनका प्रत्यक्ष फल तो कुछ देखने में आता है, परन्तु परभव में न जाने क्या होगा, यह तो सर्वज्ञ भगवान् ही जानते है। और उस पूर्वोक्त राजा ने तो *आज कल की आशातना जैसी आशातना तो की न थी। आज कल* तो इतना गोलमाल रहता है कि जिस का कुछ ठिकाना ही नहीं। मन्दिर सम्बन्धी पारस्परिक ईर्षायें ही प्रथम आत्मा को पवित्र नहीं होने देतीं, तो शुद्ध-भक्तिभाव हमारे हृदयों में उत्पन्न हों, इनकी तो प्रायः सम्भावना ही कैसे हो? इसी लिये तो सर्वज्ञ वीतरागदेव ने विधि का प्रतिपादन कर अविधि का निषेध किया, हमने भी इस लिये आत्मबोधार्थ लेख लिख दिया, आत्मार्थियों ने जिनाज्ञारूप अमृतरस पिया, जिन्होंने योगा-भ्यासरूप दीपक आगे धर लिया, हुआ उन्हें अजब प्रकाश, आत्मरूप ढूँढ मुक्तिपद वर लिया।

प्रश्नः—परन्तु बहुत जन ऐसा कहते हैं कि जो पूर्व में (पहिले) नियम किया हुआ हो तो कैसे छोड़ सकता है? क्योंकि नियम लेकर छोड़ने वाले की दुर्गति होती है।

उत्तरः—हे भद्र, वह तेरा कथन समझपूर्वक नहीं है, क्योंकि सद्गुरुओं के संसर्ग बिना कुगुरुओं का सम्बन्ध होने से जो कुमार्ग में चल रहे हैं, उस कुमार्ग को छोड़ने की कभी इच्छा होने की नहीं। जिस तरह रुग्ण (बीमार) को प्रायः कुपथ्य ग्रहण करने की इच्छा होती है, और उस अपथ्य से रोग की वृद्धि होती है, न्यूनता नहीं हो सकती। वैसे ही यह

आप का भी तर्क है। इस लिये आप के इस सन्देह को दूर करने के लिये शास्त्रों के प्रमाण सहित जिनाज्ञा को बताते हैं, शुद्ध जिनमार्ग स्वीकार कराते हैं। देखिये, उपासकदशाङ्ग (सप्तमाङ्ग) सूत्र में गोशाले के श्रावक शार्दूलपुत्र आजीवक उपासक ने गोशाले से सम्यक्त्वादि व्रत स्वीकार किये थे और महावीर स्वामी को तरण-तारण नहीं मानता था। किन्तु जब महावीर स्वामी के पास गया और धर्मस्वरूप को सुन कर जाना, तव गोशाले के धर्म को धर्माभास समझ कर परित्याग किया। ऐसे ही अम्बड परिव्राजक ने भी पूर्व के नियमो को जो नियमाभास थे, भगवान् महावीर से धर्मस्वरूप तथा आत्मस्वरूप को जान कर परित्याग किया। ऐसे ही वर्त्तमान समय में भी जैनशास्त्रों से अज्ञात गुरुओं के दिये हुए कुछ नियमों के परित्याग में कोई बाधा उपस्थित नही हो सकती। किन्तु पहिले सद्गुरु के मुख से तत्त्व श्रवण कर ले कि जिससे उसके समस्त भ्रम दूर हो जावे। और पीछे कोई भ्रमाभास बाधायें देवार्चनादि विषय में या शास्त्रों के विषय में उपस्थित न होने पावे। और निश्चित कर ले कि पूर्व में मैं भ्रमवश भूला हुआ था, जो देववन्दन-पूजनादि की मैं निन्दा करता था, वह मैं बुरा करता था। अब उस निन्दित कर्म को छोड़कर सद्गुरुओं के पास चलकर नियम लूँगा। ऐसी भावना करके सद्गुरु के पास जावे, और कहे कि हे भगवान्! आप जैसे महात्माओं के संसर्ग से मेरे जिनेन्द्रार्चन आदि विषय में समस्त भ्रम दूर हो गये हैं और अब मुझे आप नियम करवाइये कि स्थापनारूप जिनेन्द्र का नित्य दर्शन-पूजन किये विना अन्न-जल न लूँ और नित्य वैसे नियमो को पालन करूं। अव ऐसी दशा मे कोई अनन्य श्रद्धालु होकर नित्यं प्रति आगे से बढ़चढ़कर धर्मकृत्य का पालन करने लगे, तो हम पूछते हैं कि ऐसी पवित्र व्यक्ति का नियम भङ्ग हुआ या उलटा ठीक २ तरह से आराधन हुआ? तुम्हें कहना ही पड़ेगा कि असन्मार्ग से निकल कर सन्मार्ग में आने से पुण्यादि का लाभ हुआ और पापो का बन्धन छूटा। इसी तरह सम्यक्त्वादि अनेक नियम जिन-धर्म से विपरीत चलने वाले

कुगुरुओं से लेने के बाद जब सद्गुरुओं का ससर्ग होगा, तब पूर्व व
छोड़ कर सद्गुरुओं से सत्य नियमों के आराधन करने में कुछ पाप ;
होगा किन्तु धर्म ही होगा। तात्पर्य यह है कि यदि कोई आत्मार्थ
भव्यजीव कुगुरु के ससर्ग से किसी बात का नियम ले और पीछे सद्
गुरु-संसर्ग से अज्ञानावस्था के नियम छोड़ शुद्धमार्गानुसार विधि पूर्वव
आराधन करे तो उससे त्याग—भंङ्ग नहीं कहा जायगा, प्रत्युत पालन
ही कहा जायगा। इसी प्रकार अविधि को छोड़ कर शुद्ध विधि को
स्वीकारने में कोई सन्देह मत करो, संसार सागर से तरो, मिथ्यात्व
से डरो, कुगुरुओं का संसर्ग परिहरो, सद्गुरुओं की चरण-सेवा करो,
इस रीति से तुम्हारे प्रश्न का उत्तर जानों, अविधि कह कर धर्मकृत्य
छोड़ना भी मत मानों, शास्त्रानुसार अपनी आत्मा को पहिचानो।

अब किसी एक मूढ़-मती, उत्कट-द्वेषी, अपनी आत्मा को डूबानेवाला,
स्थापना-निक्षेप को उड़ानेवाला, जिनप्रतिमा के ऊपर २३ बोलों, को
दिखाकर मूर्खों को बहकानेवाला का एक लेख भी मेरे देखने में आया,
उन २३ बोलों को यहां दिखाकर पीछे जैनशास्त्रानुसार उसकी मूर्खता
पाठकों को दिखाऊंगा। वे बोल ये हैं—मिथ्यात्वी १ भोगी २ असंयति
३ आश्रवी ४ अप्रयाख्यानी ५ अविरति ६ तिर्यञ्च ७ एकेन्द्रिय ८ स्थावर ६
अबोलते १० पञ्चमआरेहे ११ अनेकमन्दिर १२ रागसहित १३ नहीं
दिखते १४ स्थिर १५ आठकर्म १६ चारपर्याय १७ रोमाहारी १८ एकगुण-
स्थान १६ नपुंसक २० सकषाय २१ अज्ञानी २२ संसारगामी २३। इन
बोलों को देखकर बड़ा आश्चर्य उत्पन्न होता है कि इसने अपना सिर क्यों
मुण्डवाया था, क्योंकि पहिले हम लिख आये हैं कि सूत्रों में श्रीगण-
धर देव महाराज ने जिनप्रतिमा के घर को सिद्धायतन कहा है, तो
क्या गणधरों को इतना मालूम नहीं था कि यह प्रतिमा पाषाण
की है और अज्ञानी है और पहिले गुणस्थान में है और संसारगामी
है और अपच्चखाणी आदि २३ बोलवाली वस्तु को सिद्ध के समान
बना दिया और कुछ विचार न किया तो श्रीगणधरमहाराज को, इस

२३ बोल लिखनेवाले मूर्ख के समान भी ज्ञान न था? जब उन्होंने जिन-प्रतिमा को सिद्ध कहा है, तो उन्हीं के आगम के अनुसार चलने का दम भरनेवाले स्वकपोलकल्पित २३ बोलों को घड़कर उसे न मानने का और न मनाने का जो साहस किया है वह दुस्साहस ही है। जिन पवित्रात्मा गणधर देवों ने तीर्थङ्करों के मुख से त्रिपदी सुन द्वादशांगी रची, और जिस द्वादशांगी से अनेक भव्य लोग भवपार उतर गये और उतरेंगे, उन गणधरदेवों से विपरीत लेखनी चलाकर २३ बोलों की मन-गडन्त कल्पना करनेवाले मूढ लोगों को उन महापुरुषों की शासन-प्रणाली, अपने स्वार्थवश हो बिगाड़ते लज्जा भी नहीं आती। किन्तु वे कितने ही अप्रामाणिक पोथे थोथे घड़े, प्रमाणशून्य होने से बुद्धिमान् लोग उसे कैसे स्वीकार कर सकते हैं? स्थापना के विषय में हम आगे भी लकड़ी के घोड़े का दृष्टान्त दे चुके हैं, वही समस्त का यहां पर स्मरण दिलाते हैं। और इससे वह असद्भूत स्थापना एक प्रकार की माननी ही पड़ेगी, नहीं तो शास्त्रानुसार झूठा होना पड़ेगा। ऐसे ही जिन-प्रतिमा को जिन स्वरूप मानना ही होगा। क्योंकि,

"नामजिणा जिणनामा, ठवणजिणा पुण जिणिंद-पडिमाओ।
दव्वजिणा जिणजीवा, भावजिणा समवसरणत्था॥ १॥"

इसी रीति से उसे शास्त्रानुसार झूठा होना पड़ेगा, और मृषावादी होने से अनन्त संसार में रुलना पड़ेगा, गृहस्थियों के टुकड़े खाकर दुर्गति में जाना पड़ेगा। यहां स्थापना पर ही विचार दिखाये हैं, पूजा पर विशेष ग्रन्थ बढ़ जाने के भय से अधिक नहीं लिखते। मुख्य प्रयोजन भी स्थापना पर ही था। यदि पूजन के विषय में विशेष देखने की रुचि हो तो हमारे बनाये हुए 'स्याद्वादानुभव-रत्नाकर' के तीसरे चौथे प्रश्नोत्तर में विधि-विधान पूर्वक पूजन-प्रकार तथा श्रावक की करणी तथा जिन पूजन में एकान्त निर्जरा होती है इत्यादि देखिये। अलं विस्तरेण।

अब तीसरा द्रव्य-निक्षेपा कहते हैं कि जिसमें नाम हो, आकार हो, गुणों के लक्षण भी हों, किन्तु आत्मोपयोग न हो उसे द्रव्य-निक्षेप कहते

हैं। क्योंकि "श्रीअनुयोग द्वारसूत्र" में ऐसा कहा है "अणुवओगो दव्वं" परन्तु जो भाव का कारण हो, उसका नाम द्रव्य-निक्षेपा है। इसके भेद आगे दिखावेंगे।

अब भाव निक्षेप कहते हैं कि जिसमें नाम हो, आकार हो और जो, लक्षण और गुणों से सहित यथावत् वस्तु हो, उसे भाव-निक्षेप जानना चाहिये। क्योंकि "अनुयोगद्वार सूत्र" में कहा है "उवओगो भावो" इस तरह चारों निक्षेप कहे हैं। अब जैसे इन चारों निक्षेपों को श्रीविशेषावश्यक के भाष्यादि में दिखाये हैं वैसे ही दिखाते हैं कि—

नामजिणा जिणनामा ठवणजिणा पुण जिणिन्दपडिमाओ।
दव्वंविणा जिणजीवा, भावजिणा समवसरणत्था ॥ १ ॥

निक्षेपों के उदाहरण।

अब इसका भावार्थ समझाने के लिये चारों निक्षेपा अन्तिम शासनपति श्री वर्धमान स्वामी को लेकर दिखाते हैं कि जो कोई वस्तु का नाम वर्धमान ऐसा रक्खा जाय वह नाम से वर्धमान है। जो कोई सद्, असद्, व्यक्त या अव्यक्त वस्तु में स्थापना अर्थात् उसी वस्तु पर विश्वास कर लेना कि यह वर्धमान स्वामी है उसे स्थापना कहते हैं। इसके दो भेद हैं। एक तो असद्भूत, दूसरी सद्भूत। असद्भूत उसको कहते हैं कि जिसका आकार तो न दीख पड़े, परन्तु एक वस्तुविशेष निश्चित हो सके, जैसे कागज के ऊपर नाम के अक्षर लिख देवे, अथवा मिट्टी की डली, माला, काष्ठ प्रभृति जिसमें किसी प्रकार का आकार न हो। सद्भूत उसको कहते है कि जैसा परमेश्वर का आकार था वैसा ही यथावत् आकार हो। सद्भूत के भी दो भेद हैं। एक तो अकृत्रिम दूसरा कृत्रिम। नन्दीश्वर-द्वीपादि में शाश्वत सिद्धायतन में जो शाश्वती जिनप्रतिमायें हैं वे अकृत्रिम कहलाती हैं अर्थात् किसी की बनाई हुई नहीं। साढ़े पचीस देश जो आर्य हैं उनमें स्थित मन्दिरों में जो प्रतिमायें वर्त्तमान काल में विद्यमान हैं वे कृत्रिम कहलाती हैं। इस रीति से वर्धमान स्वामी की समस्त स्थापना बतलाई है।

अब श्रीवर्धमान स्वामी को लेकर द्रव्य-निक्षेपा दिखलाते हैं। नैगम नय की अपेक्षा से द्रव्य-निक्षेप तो यह हैं कि जिस समय श्रीऋषभदेव स्वामी ने मरीचि के भव में देखा कि यह चौबीसवें भव में तीर्थङ्कर होगा, तब से लेकर उन्हें द्रव्य तीर्थङ्कर कहेंगे। परन्तु जब उन्होंने तीसरे भव में एकाग्रचित्त से एकपद की आराधना की अथवा जब बीस स्थानक-पदों की आराधना की, उस समय चित्त में ऐसी भावनाएँ थी कि, मैं संसार के समस्त प्राणियों को शासनानुरागी बनाऊँ, एवम् धर्मात्मा बना सुखी बनाऊँ, और इन कर्मबन्धनों को छुड़वाकर मोक्ष पहुँचाऊँ। जब ऐसे सद्विचार करके महावीर स्वामी की आत्मा ने जिन-नामकर्म उपार्जन किया और देव-लोक मे पहुँचे। इस जगह भी नय की अपेक्षा से उनकी आत्मा को भव्य-शरीर द्रव्य-जिन कहेंगे। और जिस समय माता के गर्भ में आये, उस समय जो जिन-नामकर्म की पुद्गल वर्गणा से शरीर उत्पन्न हुआ और शरीर उत्पत्ति से लेकर जब तक केवलज्ञान उत्पन्न न हुआ तब तक श्रीवर्धमान स्वामी को द्रव्य-निक्षेपा से भव्य शरीर द्रव्य-जिन कहेंगे। तथा केवलज्ञान उत्पन्न होने पर भी देवच्छन्द मे बैठे हुए और देशना (धर्मोपदेश)न करते हुए श्रीवर्द्धमान स्वामी को द्रव्य-निक्षेपा से भव्य-शरीर द्रव्य-जिन ही कहा जायगा।

अब ज्ञशरीर द्रव्य-निक्षेपा कहते हैं कि, जिस समय श्रीवर्द्धमान स्वामी मोक्ष पधारे उस समय से लेकर जब तक उनका शरीर दग्ध नही हुआ और इन्द्रादि देवगण तथा मनुष्यवर्ग भक्ति करते रहे, उस समय तक श्रीवर्धमान स्वामी का ज्ञशरीर द्रव्य-निक्षेपा जानना चाहिये।

अब भाव-निक्षेपा कहते हैं—जिस समय श्री वर्धमान स्वामी को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और देवताओं ने समवसरण रचा, और त्रिगडे मे बैठकर बारह परिषदों में देशना देने लगे, उस समय श्रीवर्धमान स्वामी भाव-जिन हुए। यह चारो निक्षेपों का निदर्शन मात्र कर दिखाया है।

साधु के ऊपर चारों निक्षेप।

अव साधु के ऊपर चारों निक्षेपा दिखाते हैं कि—जिस किसी का नाम साधु हो वह नाम-निक्षेप से साधु कहा जायगा। और साधु ऐसा नाम किसी कागज पर लिखना अथवा साधु की मूर्त्ति चित्र या फोटो बनाकर रखना उसे स्थापना-साधु कहते हैं। जो पञ्चमहाव्रत पाले, इरिया-समिति आदि अष्ट-प्रवचन-माता का यथार्थ पालन करे, और बयालीस दोषों का परिहार कर आहार ग्रहण करे, एवं सत्तरह भेद मे कहा हुआ जो संयमादि है उसे पालन करे, परन्तु इन क्रियायों का ठीक २ जिसको उपयोग न हो वह द्रव्य-साधु है। जो साधु पूर्वोक्त क्रियाओं को विवेकपूर्वक आचरण में लावे, और आश्रव को रोके, संवर तथा निर्जरा एवं उपयोग-पूर्वक आत्म-ध्यानादि द्वारा मोक्ष की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करे, उसे भावसाधु कहते हैं। इस तरह साधु को लेकर चारों निक्षेपों का वर्णन किया।

तप के ऊपर चारों निक्षेप।

तप ऐसा किसी का नाम रख लिया उसे नामतप कहेंगे। तप करने की विधि शास्त्रों में लिखी है, उसे स्थापना-तप कहते हैं। नव-कारसी, उपवास, वेला (दो उपवास), तेला (तीन उपवास), अठाई (आठ दिनों का उपवास), मासखमण इत्यादि व्रत ले आहारादिक का त्याग तो कर दे, किन्तु शेष व्यवहार की क्रियाएँ करता रहे, और व्रतादि की और उपयोग न रक्खे अर्थात् सांसारिक कृत्य करते रहने पर केवल तीन या चार प्रकार के आहार के त्याग को द्रव्य-तप कहते हैं। तप के स्वरूप को ठीक २ जान भगवदाज्ञापूर्वक इच्छाओं का निरोध करना, जैसे शास्त्रों में भी कहा है—"इच्छानिरोधस्तपः" अर्थात् विधि-पूर्वक इच्छाओं का त्याग करना, भाव-तप है।

इसी तरह एक २ वस्तु के ऊपर चारों निक्षेपे घटित होते हैं। ग्रंथ-

विस्तार के भय से अब ज्यादह दृष्टान्त न देकर इस ग्रंथ के ऊपर ही चारों निक्षेपों का अवतरण करके इस विषय को समाप्त करूँगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ के ऊपर ही चारों निक्षेप।

"अध्यात्मानुभव योग प्रकाश" ऐसा इस ग्रन्थ का नाम रखने से, अध्यात्मानुभव योग प्रकाश नामनिक्षेप हुआ। इस ग्रन्थ का जो नाम है, उसके अक्षरों को कागज़ के ऊपर लिखना, अथवा इस समस्त ग्रन्थ को लिख कर, स्थापित करने को स्थापना अध्यात्मानुभव योग प्रकाश कहना चाहिये।

इस ग्रन्थ में जो लिखी हुई बातें हैं, उनको याद करके लोगों में कहना, अथवा क्रिया का करना, किन्तु आत्मोपयोग-शून्य होकर; अथवा जो क्रियाएँ स्मृति-पथ (स्मरण) में तो हैं, किन्तु उनके स्वरूप का विकाश न होना, यह द्रव्य अध्यात्मानुभव योग प्रकाश है। इस द्रव्यनिक्षेप के दो भेद हैं। एक आगम से दूसरा नोआगम से। आगम से तो उसे कहते हैं कि, ग्रन्थ के अनुसार बात को जाने, परन्तु उस बात का उपयोग न हो उसे आगम द्रव्य निक्षेपा कहते हैं। नोआगम द्रव्य-निक्षेपे के तीन भेद हैं;—१ भव्य शरीर २ ज्ञशरीर ३ तद्व्यतिरिक्त। ये तीनों जैसा ऊपर दिखा चुके हैं वैसा यहां पर भी घटाना चाहिये। अध्यात्म अर्थात् आत्म-विचार, आत्म-विचार का जो अनुभव, इस अनुभव-पूर्वक मन, वचन और काया का जोग को हठात् अर्थात् ज़बरदस्ती से जो रोकना, इसे अध्यात्मानुभव योग कहना चाहिये, और अध्यात्मानुभव योग का जो प्रकाश-उद्द्योत करना, उसे भाव-अध्यात्मानुभव योग प्रकाश जानना चाहिये।

प्रश्नः—आपने चार निक्षेपों का वर्णन जो किया, यह तो ठीक है; क्योंकि जैन शास्त्रों में ऐसा ही कहा है। परन्तु जैन में जो श्री आनन्दघन जी महाराज अध्यात्मी साधु हो गये हैं, और उनकी अध्यात्मियों में प्रसिद्धि भी विशेष है। वे तो अपने पद्यों में ऐसा भी दिखाते हैं कि,

"नाम अध्यातम ठवण अध्यातम,
द्रव्य अध्यातम छंडो रे।
भाव अध्यातम निज गुण साधे,
तो तेह सुं रढ मंडो रे॥ श्री श्रेयांस०॥"

जब ऐसा उन्होंने कहा है तो तुम्हारे तीन निक्षेपे बने ही नहीं, मुख्यता भाव ही की रही, चारों निक्षेपों की गई, हमारी भाव निक्षेपा की ही रही। तथा नाम आदि तीन निक्षेपें तो सम्भवित हैं, किन्तु चौथा भाव-निक्षेपा कैसे सम्भवित है? क्योंकि भाव-निक्षेपा तो अपने से ही सिद्ध है उसे क्यो मानना?।

उत्तरः—हे भद्र! यह वाणी तुम्हारी तो है ही नही, किन्तु जिनकी सङ्गति तुमने की है उन विवेक-शून्य दुःखगर्भित वैरागियों के वहकाने पर निकली है। वे तो मुंड मुंडा कर जैसे तैसे आगमों को बांच कर भोले जीवों को वहकाते फिरते हैं, परभव से कभी नहीं डरते हैं, दुर्गति में वे घर करते हैं। हे भद्र! पक्षपात को छोड़ विवेकपूर्वक श्रवण कर। इस स्याद्वाद-सिद्धान्त का रहस्य समझना जरा कठिन सा है। क्योंकि शास्त्रों में कहा है कि इन आगमों से अनेक जीव तर गये हैं और अनेक डूब गये हैं, तथा अनेक तरेंगे और अनेक डूबेंगे भी, तिस पर भी आगम तो जैसे के तैसे बने रहेंगे। शास्त्रों में कहा भी है कि, सम्यक् शास्त्र मिथ्यात्वी के हाथ जाने से मिथ्याशास्त्र हो जाया करता है, और जो मिथ्या शास्त्र सम्यक्त्वी के हाथ लग जाय तो सत् शास्त्र बन जाता है। कारण वस्तुतः उसमें यह है, कि शास्त्र का निरूपण यथार्थ द्रष्टा तथा उसकी दृष्टि पर निर्भर है; जैसा द्रष्टा एवं वक्ता होगा वैसा निरूपण करेगा, शास्त्र जैसा का वैसा ही रहेगा। उन विवेक-विकल वहकानेवालों के विषय में हम पूर्व में कह चुके हैं इससे यहां नहीं दुहराते। परन्तु अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय इन सात प्रकृतियों का जो नाश करेगा, उसे जैन शास्त्रानुसार सम्यग्दृष्टि कहेंगे।

पूर्वोक्त सात प्रकृतियां और अप्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया, लोभ इन ग्यारह प्रकृति का जो क्षय या उपशम करेगा उसे देश व्रती कहेंगे। ये ग्यारह प्रकृतियां और प्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया, लोभ, इन पन्द्रह प्रकृतियों का जो क्षय वा उपशम करेगा, उसे जैन साधु कहेंगे ; न कि जाति-जैन, या सिर मुंडाने वाले, मांग कर खाने वाले, मुहपत्ति मुख में बांधने वाले अथवा हाथ में रखने वाले, ओसवाल-पोरवाल-श्रीमाल को व्याख्यान सुनाने वाले, ढाल, चौपाई, कवित्त, ख्याल, राग-रागिनी से लोगों को रिझाने वाले सच्चे साधु हो सकते हैं। यदि इस स्थान में कदाचित् कोई शङ्का करे कि आप को क्या ऐसा ज्ञान है कि यह अमुक सम्यग्दृष्टि आदि है? तो इस पर हम कहते हैं कि हे भोले भाई! जैन-शास्त्र में सर्वज्ञ देवों ने सम्यग्दृष्टि के पांच लक्षण वा भूषण कहे हैं। वे ये हैं—शम १ सवेग २ निर्वेद ३ अनुकम्पा ४ आस्तिकता (आस्था) ५। इन पांचों के होने से सम्यग्दृष्टि कहेंगे, और ज्यों २ कर्मप्रकृति क्षीण होती जायँगी त्यों २ सम्यग्दृष्टि के ज्ञानादि निर्मल होते जायेंगे, और उसके हाथ में जैसा भी शास्त्र आवेगा, उसे वह जैसा उचित होगा वैसे व्यवस्था लगाकर परिणत करेगा और यदि कोई दूसरा व्यक्ति जिसकी बुद्धि ऊपर के कहे हुए शमादि, आस्तिकता-पर्यन्त गुणों से भीजी न होगी, उसके हाथ में सत् शास्त्र भी आ जाय तो वह उसके भावों को उलटा पलटा परिणत कर लेगा।

तात्पर्य यह है कि कोई जैनी नाम धराने से सम्यक्त्वी नहीं बन सकता। यदि जैनी नाम धराने से सम्यक्त्वी बन जाते तो आज इनके अन्दर जितने झगड़े बखेड़े अशान्ति के कारण फैले हुए हैं ; इन झगड़ों बखेड़ों का नाम निशान न होता। और जिस तरह इतर समाज का फैलाव देश देशान्तरों में हुआ है ऐसा इसका भी प्रचार किसी से न्यून न रहता।

साधारण वर्त्तमान दशा को ही लीजिये, प्रथम श्वेताम्बराम्नाय में ही, यति संवेगी, स्थानकवासी, और स्थानकवासियों में भी बाईस टोला

और तेरापन्थी ये चार भेद तो मुख्य ही हो गये। और विलक्षणता यह है कि शास्त्रों के विषय में साङ्गोपाङ्ग शास्त्र सभी मानते हैं, और एक मान्यता होने पर भी झगड़ते हैं।

अब यति और संवेगी इन दोनों को लीजिये, इनमें गच्छादि का भेद, और भिन्न २ समाचारी का भी भेद जो कि परस्पर रागद्वेषादि का हेतु है, विना समझे समझाये हो रहा है। इस दशा में कैसे कहें कि इनमें शम, सवेग, निर्वेदादि है? जब ऐसी दशा है तो ऊपर के लेखानुसार जान पड़ता है कि सिद्धान्तों का अभिप्राय जानना अतिकठिन है। इस लिये हे भद्र पुरुष! अभिप्राय को सुनो। विना भाव-निक्षेपा के दूसरे तीनों निक्षेपे भी नहीं वन सकते, क्योंकि वीतराग सर्वज्ञ-देव ने नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव एक ही वस्तु में कहे हैं; अन्य २ में नहीं। क्योंकि ये चारों निक्षेपों के संक्षिप्त लक्षण इस माफिक हैं।

नाम-निक्षेप का लक्षण।

वाच्यवाचकभाव-सम्बन्ध जिस में पाया जाय उसको नाम-निक्षेप कहते हैं।

स्थापना-निक्षेप का लक्षण।

व्यक्त-अव्यक्ताकृतिभाव सम्बन्ध जिसमें पाया जाय उसको स्थापना-निक्षेप कहते हैं।

द्रव्य-निक्षेप का लक्षण।

जिस में समवाय सम्बन्ध पाया जाय उसे द्रव्य-निक्षेप कहते हैं।

भाव-निक्षेप का लक्षण।

व्यक्ति वा गुणों का जिस में तादात्म्य सम्बन्ध पाया जाय उसे भाव-निक्षेप कहते हैं।

इसी रीति से जानों, गुरुगम को पहिचानों, इनके सोलह भेद मन आनो, नीचे करते हैं इसका व्याख्यानो, किसी तरह का भी दिल में भ्रम मत आनों, सद्गुरु का उपदेश पहिचानों।

निक्षेपों के सोलह भेद।

चार भेद नाम-निक्षेप के हैं, और चार भेद स्थापना के हैं, चार भेद द्रव्य के हैं, एवं चार ही भेद भाव-निक्षेपे के होने से सोलह भेद निक्षेपों के हुए। और वैसे ही भाष्यादि में कहा भी है कि—"नामादि प्रत्येकं चतूरूपम्" इति।

सोलह निक्षेपों के नाम-निदर्शन।

१ नाम का नाम २ नाम की स्थापना ३ नाम का द्रव्य ४ नाम का भाव, एवं ये चारों भेद इकट्ठे किये जायेंगे, तब नामादि का बोध यथावत् होगा।

जैसे किसी ने घट कहा, घट ऐसा नाम लेने से 'घ' और 'ट' इन दो अक्षरों का बोध हुआ, इसे नाम का नाम-निक्षेप कहना चाहिये। 'घ' और 'ट' इन अक्षरों का जो आकार वह घट नाम की स्थापना है, क्योंकि और अक्षरों से घट का बोध कदापि न होगा।

'घ' और 'ट' कहने से कम्बुग्रीवादि व्यक्ति विभाव करके द्रव्य बना हुआ है। जैसे शास्त्रों में कहा है कि—"गुणपर्यायवद् द्रव्यम्" अर्थात् गुण और पर्याय वाला होना यही द्रव्य का लक्षण है। और जिससे दो अक्षरों के अतिरिक्त कोई कम्बुग्रीवादि व्यक्ति को कहने वाला नहीं, इस लिये यह "घट" नाम का द्रव्य हुआ।

जल लाने के लिये सिवाय कम्बुग्रीवादि-व्यक्ति के और कोई भी व्यक्ति नहीं है, और जल लाने का जो बोध होता है; इसे 'घट' नाम का भाव कहना चाहिये। और जिस में ये चारों भेद होंगे वही नाम कहा जायगा।

स्थापना के चार भेद।

"स्थापना" यह स्थापना नाम हुआ, अथवा जिस की स्थापना की जाय उसका नाम नाम-स्थापना है।

स्थापना की स्थापना क्या है वह दिखाते हैं, कि उसकी आकृति जो है वही स्थापना की स्थापना है।

जिस की स्थापना हो, उसका अनुपयोग सहित बोध कराना जिस से हो सके वही स्थापना का द्रव्य है।

सिवाय एक वस्तु के उपयोग सहित दूसरी वस्तु का बोध न होने देना यह स्थापना का भाव हुआ। इस रीति से चार भेद स्थापना के भी मानों, दिल में विकल्प कुछ मत आनों।

द्रव्य के चार भेद।

"द्रव्य" ऐसा नाम वह तो द्रव्य का नाम-निक्षेप जानिये। और द्रव्य की स्थापना सुनो कि विभाव से "द्रव्य" इन अक्षरों में द्रव्य की स्थापना यह द्रव्य का स्थापना-निक्षेप जानना चाहिये।

जिससे द्रव्य का द्रव्य जाना जाय, उसे द्रव्य का द्रव्य निक्षेप जानना चाहिये।

अपने गुण, पर्याय, को दूसरे में न जाने दे उसे द्रव्य का भाव-निक्षेप जानना चाहिये।

भाव के चार निक्षेप।

भाव ऐसा नाम तो भाव का नाम-निक्षेप है।

जिस वस्तु अर्थात् ध्येय रूप आकार की स्थापना करना वही स्थापना-निक्षप है।

किसी विकल्प रूप ध्येय का जो विचार वह भाव का द्रव्य-निक्षेप है।

ध्येयरूप में निर्विकल्प तदाकारवृत्ति हो जाना उसका नाम भावका भाव-निक्षेप कहना चाहिये। इस प्रकार कुछ स्वरूप लिखाया, जिसने गुरु की चरण-सेवा की, उसने विशेष बोध पाया, नगुरुओं को जिनागम का रहस्य न आया, इस लिये दशवैकालिकसूत्र में विनय में धर्म बताया, उत्तराध्ययनजी में कुपात्रों को गच्छ बाहर निकालना लिखाया।

इन निक्षेपों के भेदों से क्षेत्र, काल, सप्तनय, सप्तभङ्गी को अनेक प्रकार से सङ्गत करनेवाला गुरु मिले तब जैनशास्त्र के बोध होने की सम्भावना हो सकती है। अन्यथा अपने मन में पण्डित, और अपनी

प्रशंसा अपने मुख से करना, जीवों को आडम्बर दिखाना, मरुस्थली में आम के वृक्ष का बन जाना, सोंठ की गंठी पा पँसारी की दुकान जमाना, इत्यादि बातों से, और जो पहले तुमने श्रीआनन्दघनजी के ग्यारहवें स्तवन की गाथा लिखवाई, उस गाथा में तुम्हारा मनोरथ पूरा न हुआ, किन्तु उलटे तुम्हारे घर में हानि हुई और हमने भी यह उक्ति इस लिये तुम्हारे ऊपर पाठकगण को दिखाई कि "चौबेजी आये तो थे छब्बे बनने को, उलटे दो गांठ के खोकर दुबे बन गये।" वही दिखाते हैं कि तुमने केवल स्थापना के द्वेष से ऊपर की गाथा दिखलाई, परन्तु इस गाथा ने तो तुम्हारी माला फेरनी भी उठाई। क्योंकि नाम अध्यातम वाले पद ने तो नाम-निक्षेप से लेकर द्रव्य अध्यात्म तक छोड़ने को दिखाकर द्रव्य-निक्षेप तक का भी तो निषेध कर दिया। आपके अभिप्राय को ही लें तो नामस्मरण भी छोड़ देना चाहिये। किन्तु आनन्दघनजी की इस गाथा से जो आपने साधना चाहा था वह इसमें तात्पर्य नहीं है। यदि उनका नाम-निक्षेप से द्रव्य-निक्षेप तक छोड़ने का तात्पर्य होता तो वे श्रीसुविधिनाथजी के स्तवन में पूजाविधि न दर्शाते। जैसे सुविधिनाथ जी की स्तुति करते श्रीआनन्दघनजी कहते हैं,

"द्रव्य भाव शुचि भाव धरीने हरखे देहरे जइयें रे।
दह तिग पण अहिगम साचवतां एकमना धुरि थइये रे। सु०॥२॥
कुसुम अक्षत वर वास सुगन्धी, धूप दीप मन साखी रे।
अङ्गपूजा पण भेद सुणी एम गुरुमुख आगम भाखी रे॥३॥"

प्रतिमा पूजने में तो श्रीआनन्दघनजी महाराज का पवित्राशय इन दो गाथाओं ने ठीक निस्सन्देह सिद्ध कर दिया। उलटा तुम्हारे पहली गाथा के ग्रहण किये तात्पर्य अनुसार तुम्हारा नाम जपना उठाया, तुमने आनन्दघनजी का नाम ले भोले जीवों को बहकाया, गुरु विना इस गाथा का अर्थ न पाया।

'अब तुम्हें पूर्वोक्त गाथाओं में आनन्दघनजी महाराज का क्या आशय है वह सुनाते हैं, शान्तिपूर्वक सुनिये—वर्त्तमान समय की अवस्था देख

कर श्रीआनन्दघनजी महाराज कहते हैं कि हे भव्य प्राणियो! जो तुम्हें आत्म-कल्याण करना हो तो इन तीनों का सङ्ग छोड़ दो, यदि चौथा हो तो सङ्ग करो। वे तीन कौन से हैं? सो दिखाते हैं कि, संवेगी, ढूंढिया, तेरहपन्थी, अथवा परमत में जो सिर मुंडवाकर कहते हैं कि, हम अध्यात्मी हैं और जो ठवन-अध्यात्मी अध्यात्मपन दिखाने के लिये बाहर से वकवृत्ति (शान्त-ध्यान-परायण) और अन्तरङ्ग से कपटतापूर्ण वृत्ति बनाये रहते हैं वे ठवणअध्यात्मी और द्रव्य-अध्यात्मी जैनमत में पञ्च-महाव्रतधारी बनकर बाह्यवृत्ति से लोगों को दिखाते हैं कि गृहस्थों के सामने रास्ता चलते बात न करना किन्तु गृहस्थ न हो तो रास्ता में बातों के गट्ठल गाते हैं, और माल करवा कर खाते हैं, द्रष्टि रागियों से खूब माल लाते हैं, बिना द्रष्टिरागी के औरों के घर में उत्कृष्ट बन जाते हैं, उस जगह बयालीस दोषों को जतलाते हैं, आधाकर्मी आहारादि हमेशां भोग में लाते हैं, ऊपर से शान्त बनकर अन्तरङ्ग से राग-द्वेष मचाते हैं, अपने द्रष्टिरागी श्रावकों को यन्त्र, मन्त्र, हानि-लाभ भी बताते हैं, आपस में आप लड़े और गृहस्थों को लड़ाते हैं, क्रोध, मान, माया, तृष्णा में विशेष फंसे जाते हैं, करते कपट, शान्तरूप दिखा, अध्यात्मी बन जाते हैं। इस प्रकार जैन में, और अन्य मत में नेती, धोती, ब्रह्म-दातन, बस्तिकर्म आदि क्रिया करने वाले, अथवा कुम्भक, पूरक, रेचकादि लोगों को दिखानेवाले द्रव्य-अध्यात्मी हैं, इनका संसर्ग छोड़ो।

जिन भाव-अध्यात्मी पुरुषों ने ज्ञान, वैराग्य से राग-द्वेष को कम किया है और जो क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व-मोहनीय आदि सात प्रकृति, अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानी चौकड़ी, इन पन्द्रह प्रकृतियों का क्षय वा उपशम करके अध्यात्म-शैली को प्राप्त हुए हैं तथा गुरु-चरण-सेवा के अधिकारी, शान्त, दान्त, आत्मा को साधनेवाले, मोक्षपद के अधिकारी हैं, ऐसे भाव-अध्यात्मी लोगों का संसर्ग करो, जिससे तुम्हारी आत्मा का भला हो, जो स्वयं शान्त हैं वे ही दूसरों को शान्ति दे सकते हैं वा शान्त बना सकते हैं।

इस प्रकार श्रीआनन्दघनजी महाराज का कहना है कि, जो तीन अध्यात्मी दुर्गति को जाने वाले हैं, उन मुंडियों का सङ्ग परिहरो, भाव-अध्यात्मी का सङ्ग आदरो, और राग-द्वेष को कम करो, जन्म-मरण से डरो, संसार-समुद्र से तरो, मुक्तिपद को जाय वरो।

इस प्रकार चारों निक्षेपों को सिद्ध कर इस ग्रन्थ का नाम 'अध्यात्म अनुभव योग प्रकाश' दिया, भव्य जनों ने अमृतरस पिया, जैनधर्म के दास चिदानन्द ने योगशब्द के अर्थ का प्रारम्भ किया।

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥
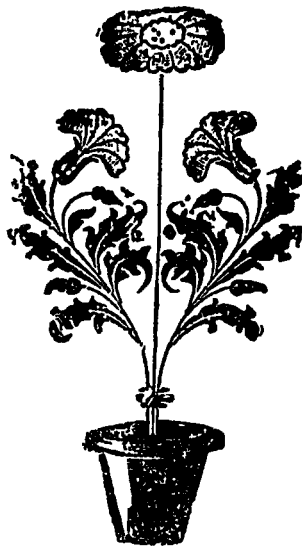
अथ द्वितीय खण्ड।

योग शब्द का अर्थ।

दो तीन वस्तु के मिलने का नाम योग है। वही दिखाते हैं कि, जैनधर्म में मन वचन और काय इनको भी योग कहते हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र को भी योग कहते हैं। करना, कराना और अनुमोदन को भी योग कहते है। अथवा अष्टाङ्ग योग प्रसिद्ध ही है। जिस २ वस्तु की योजना की जाय उसे भी योग कहते हैं, इस प्रकार योग तो कई तरह के होते हैं; परन्तु इस जगह तो शास्त्र के अनुसार अथवा पातञ्जल योग के अनुसार योग का वर्णन करते हैं।

योग के भेद।

योग तीन प्रकार का है—इच्छायोग, शास्त्रयोग, सामर्थ्यप्रतिज्ञा-योग।

इच्छायोग।

अपने ज्ञानावरणादि कर्म के तथाविध क्षयोपशम से सुने हुए शास्त्रो और उनके अर्थ से योग का ज्ञान हो जाने पर या ज्ञान प्राप्त न होने पर उसका ज्ञान प्राप्त करने की और उस योग को ग्रहण करने की इच्छा करनी, परन्तु प्रमाद से कार्य में उसको परिणत न करना ही इच्छा-योग है।

शास्त्रयोग।

जो पुरुष योग का ज्ञान हो जाने पर यथार्थ स्वरूप में विकथादि का त्यागी, अप्रमादी, धर्म-व्यापार के योग्य, श्रद्धावान्, तीव्र ज्ञान से संयुक्त होकर वचनों का वृथा भाषण न करे, और मोह के कम होने से सत्य

प्रतीति वाला हो, और कालादि विकल्पनीय बाधाओ से अतिचारादि दोषों को भी जाने, परन्तु ठीक २ उन अतिचारों का त्याग न कर सके इसे शास्त्र-योग कहते हैं।

सामर्थ्यप्रतिज्ञायोग।

शास्त्र में जो २ उपाय दिखाये हैं उनका अतिक्रम अर्थात् शक्ति की अधिकता से जो धर्म-व्यापार-योग का स्वीकार किया जाय उसे सामर्थ्य प्रतिज्ञायोग कहते हैं। इसमें सिद्धिपद प्राप्ति की बहुत सम्भावना है, इसका अतिक्रम न करना चाहिये, किन्तु शास्त्र से सम्पूर्ण अर्थों को जानना चाहिये। इसका दूसरा नाम सामर्थ्य योग भी है। यह सर्वज्ञ पद, सिद्धिपद, एवं सकल-प्रवचन-प्रज्ञा-प्राप्ति आदि का हेतु है।

इसके दो भेद हैं—एक तो धर्म-संन्यास, दूसरा योग-संन्यास। मोहादि के क्षयोपशम होने को धर्म-संन्यास कहते हैं। कायादि व्यापार और कायोत्सर्ग आदि को योग-संन्यास कहते हैं। दोनों प्रकार के सामर्थ्ययोग समस्त लाभ के हेतु हैं। और ये दोनों योगों का दूसरा अपूर्वकरण में समावेश होता है। इस जगह प्रथम अपूर्वकरण को यथाप्रवृत्तिकरण के साथ लिया है, इस लिये इसमें सामर्थ्ययोग नहीं हो सकता। क्योंकि इस जगह ग्रन्थिभेद नहीं है। इस लिये अनिवृत्ति-करण किये बाद यह धर्म-सामर्थ्ययोग होगा, क्योंकि अनादि काल से आत्म-वीर्य के जो २ अपूर्व शुभ और शुभतर परिणाम धर्मस्थानक के विषय में होय, वही धर्म-संन्यास है। कारण यह है कि अनिवृत्तिकरण करने का फल है सम्यग्दर्शन, जिसके चिह्न हैं शम-संवेगादिरूप आत्म-परिणाम। शास्त्रों में कहा भी है कि—

"शम-संवेग-निर्वेदानुऽनुकम्पाऽऽस्तिक्यलक्षणैः।
पञ्चभिः पञ्चभिः सम्यक् सम्यक्त्वमुपलक्ष्यते ॥१॥"

अर्थात् शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्तिक्य, इन पांचों लक्षणों से सम्यक्त्व पहचाना जा सकता है।

और, जब यथार्थ सम्यग्दर्शन होने पर जीव तथाविध कर्मस्थिति को कम करता है, तब धर्म-सन्यास नाम का प्रथम सामर्थ्ययोग होता है। क्योंकि शास्त्र में कहा गया है कि—

"गंठित्ति सुदुब्भेओ, कक्खड-घण-रूढ-गूढ-गंठिव्व।
जीवस्स कम्म-जणिओ, घण-राग-दोस-परिणामो ॥१॥
सम्मत्तम्मि उ लद्धे, पलियपहुत्तेण सावओ हुज्जा।
चरणोवसमखयाणं, सागरसंखंतया हुन्ति ॥२॥"

इस रीति से स्थिति-भेद करके ऊपर जैसे २ बढ़े वैसे २ ही आत्म-वीर्य में जो उल्लास पैदा होता है, इसे ही धर्म-संन्यास योग कहना चाहिये। यही योग पारमार्थिक है—तात्त्विक है, इसी लिये इसको पहले कहा है। परन्तु कोई समय दीक्षा-ग्रहण करने के वख्त इसको अतात्त्विक भी कहा है; क्योंकि उस समय दीक्षा सन्मुख तो है, किन्तु उसे ग्रहण नहीं की है। इस लिये यहां ज्ञानरूप प्रतिपत्ति-विशेष है, परन्तु धर्म-संन्यास सामर्थ्य का अधिकारी भव-विरत होना चाहिये। शास्त्रों में कहा है कि दीक्षा का अधिकारी आर्यदेश में उत्पन्न हो, विशिष्ट जाति और कुल की मर्यादा वाला हो, शुभ-कर्म करने की बुद्धि रखता हो और प्रपञ्च-शून्य हो। आत्म-परिणाम भी उसका ऐसा विचार करने वाला हो कि—मनुष्यपन मिलना दुर्लभ है, सम्पत्ति चञ्चल है, विषय दुःख के हेतु हैं और अन्त में विरस हैं, जहां संयोग है वहां वियोग अवश्य है, शरीर मरण-सहित है, और संसार का विपाक दारुण है। इस तरह संसार को गुण-शून्य और विरस विचारता हुआ सहज विरक्त हो जाय, जिससे क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्यादि स्वल्प हों, जो यौवन में भी निर्विकार हों, जो राजा या मुसद्दी आदि बहुमान्य हों, किसी से द्रोह न करने वाला हो, श्रद्धावान् हो, ज्ञान-योग का अधिकारी और प्रव्रज्या का आराधन करने वाला हो, ऐसा पुरुष धर्म-संन्यास के योग्य है।

दूसरा योग संन्यास-सामर्थ्य एकान्त पारमार्थिक—तात्त्विक ही है, क्योंकि क्षपक-श्रेणि के प्रारम्भ से लेकर केवलज्ञान उत्पन्न होने तक

तथा शैलेशी अवस्था-गत योगनिरोध के समय तक योगी की अवस्था को योग-संन्यास-सामर्थ्य कहा जाता है।

इन तीनों ऊपर के कहे हुए योगों में से प्रथम योग भव्य मिथ्यादृष्टि को होता है। और दूसरा योग ग्रन्थिभेदन करने के बाद सम्यग्दृष्टि, देशव्रती प्रमुख को होता है। और तीसरा योग दीक्षा के सन्मुख भव-विरक्त की अयोगावस्था तक जानना चाहिये। इसको विस्तार से देखना हो तो "योगदृष्टिसमुच्चय" नाम का ग्रन्थ जो श्रीहरिभद्रसूरिजी का निर्माण किया हुआ है। उसमें तथा योगविंशतिका, अथवा योगग्रन्थों में देखना चाहिये।

अब इस जगह कितने ही दुःख-गर्भित मोह-गर्भित वैराग्य वाले, पण्डिताभिमानी, सिर मुण्डाकर लोगों का माल खाने वाले ऐसा कहते हैं कि हठयोग न करना चाहिये। उनको बोध कराने के लिये, और पाठक गण को भ्रम-जाल से बचाने के लिये हठशब्द का अर्थ दिखाकर योग शब्द को साथ मिलाकर सङ्गत कर दिखाते हैं। बलात्कार, जबरदस्ती ये हठशब्द के पर्यायवाची शब्द हैं। इनके साथ में जो योग अर्थात् मन, वचन, काया को किसी कार्य में लगाना, उसका नाम हठयोग है। जैसे उपवास, बेला, तेला, अठाई, मासखमणादि में जो तीन आहार या चार आहार का त्याग करना है सो हठ है। क्योंकि शरीर और इन्द्रियादि नही चाहते कि हमारा विषय (भोग, उपभोग) हमसे छूटे, किन्तु जीव इनके ऊपर आक्रमण करता हुआ छोड़ता है। अथवा अभिग्रह का लेना भी हठ है। इस हठ से ही श्रीऋषभदेव स्वामी ने एक वर्ष तक आहार नहीं लिया, क्योंकि एक वर्ष तक उन्हें नियम था कि शुद्ध आहार मिले तो लेना।

यह हठ की प्रवृत्ति साधु को प्रथम ही होती है, सो ऋषभदेवस्वामी से लेकर श्रीमहावीर-स्वामी पर्यन्त चौवीस तीर्थङ्करों ने हर एक बातों से मन, वचन, काया को रोका। क्योंकि इस मन, वचन, काया की वा इन्द्रियों की अनादि काल से स्वतः प्रवृत्ति हो रही है। इनकी जो

प्रवृत्ति न होने देना, और जबरदस्ती से वश में करना यह हठ हुआ, क्योंकि देखो जैसे नेमिनाथ स्वामी के बारे में ढण्ढणमुनि ने अभिग्रह लिया कि मेरी लब्धि से आहार मिले तो भोग में लाऊँ, अन्यथा मुझे न कल्पे। जब ऐसा हठ किया तो अन्तराय कर्म के जोर से आहार का योग न बना। तब एक दिन श्रीकृष्णमहाराज श्रीनेमिनाथजी को वन्दना करके पूछने लगे कि हे स्वामिन्! अठारह हजार मुनिराजो हैं, उनमें कौनसा मुनि उत्कृष्ट है? तब श्रीनेमिनाथ स्वामी कहने लगे कि ढण्ढण मुनिराज सब से उत्कृष्ट है।

तब श्रीकृष्णमहाराज को ढण्ढण ऋषि को वन्दना करने के लिये उत्कण्ठा हुई, भगवान् नेमिनाथ को वन्दनाकर वहां से चल दिया। और इधर से ढण्ढण ऋषि भी गोचरी की गवेषणा करते हुए श्रीकृष्ण-महाराज को रास्ते में मिले। तब श्रीकृष्ण ने हाथी से उतरकर ढण्ढण ऋषि को तीन प्रदक्षिणा दे कर नमस्कार किया।

उस समय एक स्वभाव से कृपण धनवान् वणिक् को, श्रीकृष्ण को नमस्कार करते देखकर साधु को भिक्षा देने का (वहराने का) भाव उत्पन्न हुआ और ढण्ढण ऋषिजी को घर में ले जाकर मोदक भिक्षा में दिये। तब ढण्ढण ऋषिजी ने शुद्ध जानकर ग्रहण किये। और नेमिनाथस्वामी के पास आये, और पूछने लगे कि हे भगवान्! यह आहार मेरी लब्धि से मिला है या नहीं? उस समय श्रीनेमिनाथ स्वामी कहने लगे कि हे वत्स! यह तेरी लब्धि नहीं, यह लब्धि तो त्रिखण्डाधिपति वासुदेव की है। तब ढण्ढण ऋषि कहने लगे कि हे स्वामिन्! मुझे दूसरे की लब्धि का आहार न कल्पे। ऐसा कहकर पजावे पर जाकर मोदकों (लड्डूओं) का चूर्ण करते हुए शुद्ध भावना-बल से कर्मों को चूर्ण किया और केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

ऐसे ही श्री वर्धमान स्वामी ने भी अनेक तरह के हठ अर्थात् जबर-दस्ती से मौनादि अभिग्रह लिये। सो श्रीमहावीर स्वामी का कथन श्रीकल्पसूत्र अथवा इनके चारित्र से जानों, हठयोग को पहचानों, अपनी

विद्वत्ता को मत तानों, सद्गुरु का उपदेश हृदय में आनों। यह हठयोग का शब्दार्थ कहा, अब कुछ साधन करने वाले के विषय में कहेंगे।

हठयोग का अधिकारी।

हठयोग करने वाले को प्रथम ब्रह्मचारी होना चाहिये। दूसरा, उसमें क्षुद्रपन अर्थात् .ओछी प्रकृति का होना न पाया जाना चाहिये। क्योंकि जब क्षुद्र प्रकृति का होगा तो सब के सामने गुरु की बताई रीति कहता फिरेगा, और योग्य अयोग्य को न देखेगा, और थोड़े ही में उसे अभिमान हो .जायगा, और लोगों को चटक मटक दिखाने लगेगा; इस लिये गम्भीर आशय वाला होना चाहिये। क्योंकि गम्भीर आशय वाला होगा तो योग्य अयोग्य को देखेगा और किसी को अपना हाल न कहेगा, गुरु की बताई हुई रीति को समझकर आत्मार्थि बनेगा। तीसरा, परिषह अर्थात् भूख, प्यास, निन्दा, स्तुति सुनकर सहन करे, कहने वाले को शापादि न दे। और आलसी भी न हो, क्रोधी भी ' हो, और कपट भी न सेवे, निरहंकार हो, और लोभी भी न हो, ' ६ जितेन्द्रिय हो। क्योंकि जिसकी इन्द्रियां चपल होंगी वह योग में प्रवृत्त न हो सकेगा, योगमार्ग का अभिलाषी गुरुआज्ञाकारी हो, आत्मार्थी हो, मोक्षाभिलाषी हो, परिश्रम में थकने वाला न हो। इत्यादि ऊपर कथन किये हुए गुण जिसमें हों उसे अधिकारी समझना चाहिये। और वही योग-साधन करने के लिये पात्र है।

हठयोग के साधक के लिये आहार विधि।

योगी आहार इस प्रकार करे कि जो न न्यून ही हो और न अत्यन्त अधिक ही हो। न्यूनाधिक हो जाने से साधन ठीक नहीं बनता। क्योंकि अधिक खाने से तो प्रमाद वश होकर परिश्रम न कर सकेगा। इस लिये शास्त्रानुसार आहार को अङ्गीकार करे। वही दिखाते हैं कि—जितनी उसकी भूख हो—मुझे इतना आहार चाहिये, ऐसा अनुमान करे और अनुमित आहार के चार भाग करे, और उस चार भाग में से

दो भाग के अन्दाज गृहस्थ के यहां से आहार अर्थात् पका हुआ (रन्धा हुआ) अन्न लावे, और एक भाग जल लावे, सो उन तीनों हिस्सों से अपनी उदर-पूर्त्ति करे, और एक भाग उदर का खाली रक्खे। खाली रखने का प्रयोजन एक तो वीतराग देव की आज्ञा है कि—आत्मार्थी साधु हमेशा ऊनोदरी तप करे, पशु की तरह ठूंस २ उदर को न भरे।

दूसरा प्रयोजन यह है कि पेट मे एक भाग खाली रखने से श्वास उच्छ्वास की गति ठीक रहती है। क्योंकि यदि अन्न और जल से सम्पूर्ण पेट भर लेगा तो श्वासोच्छ्वास वायु का आना जाना कदापि ठीक न रह सकेगा, क्योंकि यह सर्वजन-अनुभूत है कि अन्न के कम खाने वालों का शरीर प्रफुल्लित और आलस्य रहित होता है। और जो मनुष्य पेट भर लेते हैं उनको थोडी देर बाद ही आलस्य आ जाता है। और जो आदमी केवल अन्न अर्थात् आहार से ही पेट भरते हैं और पीछे से पानी पीते हैं, उन शख्सों का तो श्वासोच्छ्वास बहुत तकलीफ़ से निकलता है। और लोग भी देखकर कहते हैं कि आज तो माल खूब खाया। अजीर्ण होने से स्वास्थ्य पर पानी फिर जाता है। योगी के लिये विशेष क्या कहें, गृहस्थों को भी मिताहारी होना चाहिये। इस लिये ऊपर लिखे अनुसार भोजन करना चाहिये। और जो योगाभ्यास करने वाले साधु हैं वे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अनुसार भिक्षावृत्ति के वास्ते एक बार गृहस्थ के घर जावे, और नीचे लिखे अनुसार अपनी उदर-पूर्त्ति मात्र के लिये शुद्ध आहार पानी लावें, परन्तु गृहस्थ के घर बारम्बार न जावें। क्योंकि जो मुनि बारम्बार जायेगा तो मांगने खाने में ही उसका काल पूरा हो जायगा; तो फिर योगाभ्यास किस समय करेगा? दूसरा वीतराग देवने भी कहा है कि वैयावृत्य—साधुओं की टहल सेवा—करने वाले के विना नित्यभोजी साधु एक बार गृहस्थ के घर जाये। बारम्बार जाने वाला भगवदाज्ञा-विराधक है।

इस जगह कोई ऐसी शङ्का करे कि बारम्बार जाने में हर्ज क्या है जिससे विराधक कहा गया? तो हम कहते हैं कि सर्वज्ञ वीतराग के किये

हुए शास्त्रों से अभिप्राय मालूम पड़ता है कि जो साधु वारम्वार गृहस्थ के घर आहार पानी के वास्ते ही फिरता रहेगा तो स्वाध्याय, ध्यान, संयमादि क्रिया किस समय करेगा ? इसलिये शास्त्रों में साधु के वास्ते क्षुधा, पिपासा इत्यादि बाईस परिषह सहन करने के लिये कहे गये हैं। किन्तु इस बात को तो जो आत्मार्थी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-सहित होगा वह ही विचार सकेगा, न कि दुःख-गर्भित मोह-गर्भित वैराग्य वाले, जो सिर मुण्डाकर दिन के उदय से सन्ध्या तक गृहस्थों के घर में फिरते हैं। क्योंकि शास्त्रों में इसी लिये पहिली पोरिसी में स्वाध्याय करना कहा है, दूसरी पोरिसी में ध्यान करना कहा है, और तीसरी पोरिसी में पात्रादिक की पडिलेहणा (प्रतिलेखना) करके गृहस्थों के घरमें जाय। सो समस्त क्रिया में एक पहर भर लगावे, क्योंकि चौथी पोरिसी में फिर स्वाध्याय करने के लिये कहा है, किन्तु गिरते हुए समय तथा कुल-जैनी होने से द्रव्य, क्षेत्र, काल जानकर पहली पोरिसी में सिज्भाय (स्वाध्याय) और दूसरी पोरिसी में मुखवस्त्रिका को हाथ में लेकर प्रमार्जन करे, फिर पात्रो की प्रमार्जना करे, ऐसी आचार-व्यवहार-पद्धति आचार्यो के प्रवृत्ति-मार्ग से जान पड़ती है। किन्तु सूर्य-उदय होते ही गृस्थ के घर में पात्रों लेकर जाना साधु को नहीं उचित प्रतीत होता। जो ऐसा करने वाले हैं, वे जिनाज्ञा के विराधक, भ्रष्टाचारी, केवल सिर मुण्डाकर पेट भरने वाले हैं।

योगी के लिये हेयोपादेय वस्तु ।

अब योग साधनेवाला किस २ वस्तु का त्याग करे, और किस २ वस्तु को वर्त्ताव में लावे वही दिखाते हैं। प्रथम जो वस्तु भोग (वर्त्ताव) में न आवे सो दिखाते हैं—कडवी चीज न अङ्गीकार करे, जैसे निम्बपत्रादि। दूसरी अमल, भांग, गांजा, तमाखु, इत्यादि कोई तरह का नशा अङ्गीकार न करे, क्योंकि जो नशा करनेवाला होगा, वह वकवृत्ति से लोगों को ध्यान दिखावेगा। इस तरह किसी ने एक साखी भी कही है कि,

"गृहस्थी होकर कथे ज्ञान, अमली होकर धरे ध्यान।
साधु होकर कूटे भङ्ग, कहे कबीरजी ये तीनों ठग॥१॥

तीसरी आम्ल, खटाई, इमली, कच्ची केरी, जामुन, जमेरी, निम्बू, नारङ्गी आदि नाना प्रकार की खटाइयां हैं, इन्हें ग्रहण न करें, और लाल मरिच भी बहुत न खाय और बहुत लवण भी न खाय, अत्युष्ण भोजन न खाय क्योंकि ये रक्त-विकार द्वारा स्वास्थ्य को हानिकारक हैं। एवं हरित-शाक वा कन्दमूलादि इन्द्रियों के विकार पैदा करनेवाले हैं, ऐसा डाक्टर हकीम वैद्य लोगों का कहना है, इस लिये ये भी न खाने चाहिये। इन्द्रियो को हरित शाकादि पुष्ट करते हैं और पुष्टि विकार का हेतु है। इसे भी योगी को उसे त्याज्य समझना चाहिये और मुझे मेरे गुरू महाराज जो कि इस रहस्य को बताने वाले हैं, उनका कहना है कि हरित शाक न खाना और सुनने मे भी ऐसा आया है कि जहां साधु को आहारादि की विधि, पिण्डनिर्युक्ति आदि की टीका में आई है वहां यह दर्शाते हुए दो हेतु दिखाये हैं, वे हेतु ये हैं।

एक तो ऊपर दिखाया हुआ इन्द्रियों को विकार करने वाला, दूसरा जब रन्धा हुआ हरित शाक न लेगा तो गृहस्थ को भी ग्लानि विशेष उत्पन्न होगी, क्योंकि गृहस्थ अपने चित्त में समझेगा कि साधु को सचित्त वस्तु का त्याग है, और इन्होंने पकाई हुई लिलोतरी न ली तो यह जान पड़ता है कि इसमे विशेष पाप है, इस लिये मैं भी इसको छोड़ूं। इस प्रकार गृहस्थ को लिलोतरी छोड़ने में विशेष इच्छा होगी। इस लिये साधु जहां तक बन पड़े वहां तक रन्धी हुई भी लिलोतरी न खाय।

परन्तु वर्त्तमान काल मे दु:खगर्भित मोहगर्भित वैराग्य से मुंड मुंडाने वाले कान्दा, लसन, गाजर, मूली, वैंगन—रींगण, आलू, अरबी आदि कन्द और रन्धी हुई लिलोतरी सब लेते हैं और लोगों से कहते हैं कि, यह तो अचित्त है, इसमें साधु को दोष नहीं, साधु को तो जो पात्र में पड़े सो सर्व कल्प्य है। इस बात को सुनकर अन्य मतावलम्बी हँसी

करके मसल सुनाते हैं, सो मसल यह है "औरों को दिखावे आखडी, आप खाय काकड़ी" इत्यादि अनेक कहानी लोग कहते हैं। इस खाने ने ही लोगों को ख़राब किया, और जाति कुल के जैनियों में विश्वास न रहा। क्योंकि एक लौकिक दृष्टान्त है कि करोड़पति अपने दिल से चाहे कि मैं फलाने को लखपति (लक्षाधीश) कर दूं, तो वह उसको लक्षाधीश कर सकता है। परन्तु दो चार आने मजदूरी करके खाने वाला विचारे कि मैं फलाने को लखपति करूं तो वह लखपति कदापि न कर सकेगा। क्योंकि लोक में कहावत है कि "आप ही मियां मांगते द्वार खड़े दरवेश" इन दृष्टान्त और उक्तियों का तात्पर्य यह है कि जो आप ज्ञानी और त्यागी होगा वही पुरुष दूसरे को ज्ञान देकर त्याग करावेगा, और जो आप ही त्यागी नहीं है वह दूसरे को त्याग नहीं करा सकता। कदाचित् जाति-कुल के धर्म से और लोगों की शर्माशर्मी से सर्व चीज ऊपर लिखी हुई को खाने वाला उपदेश दाता बनकर त्याग करावेगा, तो वे लोग त्याग तो करेंगे परन्तु यथावत् त्याग को न पालेंगे; बल्कि त्याग को तोड़कर उन्हीं चीजों को खायेंगे, जिनका त्याग कर चुके थे।

अब इस जगह कोई ऐसी शङ्का करे कि साधु को तो सचित्त का त्याग है। इस लिये अचित्त लेने में क्या दोष है? देवानुप्रिय! ऊपर लिखी उक्तियों को विचारो और पक्षपात को छोड़ो, जिससे तुम्हारी आत्मा का कल्याण हो।

इस प्रकार कहने वाले ने जो योगाभ्यास जैन-धर्म का मूल था, सो उठा दिया, खाने पीने में चित्त लगा दिया, अपने शरीर को सुखशील बना दिया, कितने ही मनुष्यों ने बाह्याचार लोगों को दिखा दिया, कितने ही भोले जीवों का धर्म से चित्त डुला दिया, अपना पांव दुर्गति में फैला दिया।

कदाचित् कोई ऐसा कहे कि बिना शाकादि के भोजन (अन्न) कैसे खाया जायगा? तो उस पर हम कहते हैं कि हे भद्र! यदि तुम्हारे चित्त में ऐसा ही था तो अपना घर छोड़कर सिर क्यों मुण्डवाया? जिह्वा का

स्वाद न गंवाया, व्यर्थ जैनधर्म को लजाया, जाति कुल के जैनियों को लड़ाया। क्योंकि देखिये, अन्य मतावलम्बियों में कितने ही साधु पुरुष विचरते हैं, रोटी लाकर पानी में मसल कर खाते हैं, अपनी आत्मा में सन्तोष पाते हैं, तो कहो वे भी तो अपना पेट भरते हैं, परन्तु अपनी जिह्वा का स्वाद नहीं करते हैं। देखो जब ऐसा उन लोगों में करते हैं तो भी तुम लोग उनको मिथ्यात्वी कहते हो, शोक है! जैनों का माल खाना और विना ही तपश्चर्यादि के मोक्ष जाना।

पहले के आचार्य यदि जाति-कुल के जैनी न बनाते तो तुम्हारा ऐसा जाल कदापि न चलता, तुमको टुकड़ा भी न मिलता। खैर। अब जिसकी जैसी खुशी हो वैसा करो। हम तो उस आत्मार्थी के वास्ते कहते हैं, जो योग साधन करे, परभव से डरे, राग-द्वेष परिहरे, मिथ्या जाल में न परे, अपनी आत्मा का उद्धार करे।

अस्तु, अब और भी सुनो, योगी तिल, सरसों, मधु (शहद), मदिरा, मांस, इन सब का सङ्ग परिहरे और छाछ, कुलथी, तिलपापड़ी, वासी अन्न, सीरा, सेकी हुई लापसी और कांजी आदि को भी अङ्गीकार न करे, और शीघ्रता से गमनागमन (जाना आना), भागना, अग्नि का सेवन करना, और स्नानादि भी न करे और साधन के समय बहुत तपादि भी न करे, और बहुत मनुष्यों से परिचय भी न करे, बहुत बोलना भी न चाहिये।

अब योगी को भोग में लाने की चीजों के विषय में कहते हैं।

गेहूँ, चावल, ज्वार, वाजरा, सांठी के चावल, मूंग की दाल, तुवर की दाल, उड़द की दाल, दूध, घृत, मीठा सभी प्रमाणित ले, परन्तु मीठा नित्य न खाय, और लाडू, जलेवी, सीरा, लापसी, घेवर, कलाकन्दादि इस योग साधनेवाले को बिल्कुल खाने के लिये निषिद्ध है। और कारण-वशात् सोंठ, पीपर, काली मरिच, जावत्री आदि अङ्गीकार करे, और ऐसा आहार करे कि जो जल्दी पच जाय। वल्कि रोटी लूखी (खुश्क) खाय, जहां तक बने वहां तक भिक्षा में भी रोटी रूखी लावे, क्योंकि

चुपड़ी हुई रोटी गरिष्ठ होती है, पचने में दुर्जर होती है। और गरिष्ठ वस्तु के खाने से आलस्य होता है। ऊपर लिखी चीजों का संयोग भिक्षा में न मिले तो चणा सेका हुआ ले अपना निर्वाह कर ले, अथवा आधे से भी थोड़ा आहार करे।

योगी के लिये स्थान।

योगी के लिये स्थान कैसा होना चाहिये वह दिखाते हैं। एकान्त अर्थात् वस्ती से बाहर हो, और उस मकान में स्त्री, नपुंसक, तिर्यञ्च आदि का आना जाना न होना चाहिये। इसी वास्ते जैनधर्म में ब्रह्मचारी को नव वाडों से ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिये ऐसा कहा है। उन नव वाडों का वर्णन शास्त्रों में है, ग्रन्थ बढ़ जाने के भय से नहीं लिखते। अन्य मत में कईएक प्रकार मठादि के बताये हैं वे भी ग्रन्थ बढ़ने के भय से नहीं लिखते। परन्तु उस एकान्त स्थान में चूना-पत्थर आदि का मकान न हो। यह दूसरी रीति से योग साधनेवाले की पीठिका कही गई है।

आसन प्रतिष्ठा।

योग साधने वाले को प्रथम आसन दृढ़ करना चाहिये। आसनों की संख्या चौरासी लक्ष है जिसमें चौरासी आसन प्रसिद्ध हैं। उनमें भी जो इस योग-साधन में बहुत उपयोगी हैं उन्हीं आसनों के कुछ गुण वर्णन करते हैं।

स्वस्तिक-आसन।

प्रथम स्वस्तिक-आसन कहते हैं। यह समस्त आसनों में सुगम है, और मङ्गल रूप है, इसी लिये इसको प्रथम कहा है। सुगमता इसकी इस लिये है कि जङ्घों के मध्य में दोनों पावों के तलवों को करके और देह सरल करके वैठना, उसे स्वस्तिकासन कहते हैं। इसका नाम स्वस्तिक क्यों दिया यह दिखाते हैं—स्वस्ति नाम है कल्याण का, जो भव्य जीव आत्मार्थी आत्मसाधन और मोक्ष जाने की चाहना करे तो उसे कोई तरह का विघ्न न हो, क्योंकि सत्कर्म करने में प्रायः विघ्न आया ही करते

हैं। शास्त्रकारों का उल्लेख देखने में आता है कि "श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि"। इस लिये इसे मङ्गल बुद्धि से पहले कहा है और दूसरा इस आसन में बैठने से सुस्ती—आलस दूर होता है, तीसरा हर एक इसे सहज में कर सकता है, इस वास्ते भी इसी स्वस्तिकासन का पहले स्वरूप-निदर्शन किया है।

२ गोधुग् आसन।

अब दूसरा गोधुक् आसन दिखाते हैं—ऊकडू (पांव के बल पर) बैठकर एडीयां ऊंची रक्खे और पांवों के पञ्जों के बल पर अपना समस्त शरीर का भार डाल कर, जैसे गवाला लोग (अहीर) गाय को दोहने के अवसर पर बैठते हैं,वैसा बैठने को गोधुग्आसन या गोदोहआसन कहते हैं। इसी आसन से शासनपति भगवान् श्रीवर्धमान स्वामी ने सालवृक्ष के नीचे केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया था। इसी लिये मङ्गल के अनन्तर इसको लिख दिया, शासनपति की आणा को सिरपर उठा लिया, समवायाङ्गजी के योगवहन में आसन और मुद्रा से तारा देखना ऐसा गुरुमुख से सुन लिया, हेमचन्द्राचार्यजी ने योगशास्त्र में भी वर्णन किया, काय-क्लेशादि तप में भी वीर-आसनादि को लिया, इस लिये हमने शास्त्रों का प्रमाण भी दिया।

३ गोमुख-आसन।

अब तीसरा गोमुह-आसन कहते हैं—वाँई अर्थात् डावी तरफ कटि (कमर) के नीचे दक्षिण अर्थात् जीमने पांव की गुल्म अर्थात् एड़ी धरे और जीमनी कटि की तरफ डावे पांव की एड़ी को धरके बैठ जाय, और दोनों घुटनों को ऊपर नीचे कर ले, जैसे गौ का मुख अर्थात् दोनों होठ ऊपर नीचे होते हैं, इस तरह दोनों घुटने करे। इस आसन को कानफटे साधुओं में जो गोरखनाथ हो गये हैं उन्होने विशेषकर किया है, इसी लिये इसको गोरक्ष-आसन भी कहते हैं।

४ वीरासन।

अब चौथा वीरास नकहते हैं—जैसे वीर अर्थात् शूर-वीर मनुष्य युद्ध

में धनुष वाण को खींचते हैं, उस रीति से जो खड़ा होना उसी का नाम वीरासन है। सो यह वीरासन कई तरह से होता है, इसी लिये नाम मात्र लिखा है, क्योंकि आसनों की प्रक्रिया तो गुरु के पास अपनी दृष्टि से देखे और गुरु करके दिखावे तव ही यथावत् मालुम होती है।

५ कूर्मासन।

अव कूर्मासन कहते हैं—दोनों पगों (पांव) की एड़ी से गुदा को रोक करके सावधान स्थित हो जाने को कूर्मासन कहते हैं।

६ कुक्कुटासन।

अव कुक्कुटासन कहते हैं—बाएं पैर के तलवे को दांयनी (जीमनी) जङ्घा के ऊपर रक्खे, अर्थात् पद्मासन लगाकर फिर दोनों हाथों को ऊरु अर्थात् जङ्घा के बीच में हाथ घुसेड़कर जमीन पर टेके, फिर हाथों पर जोर देकर और आसन करता हुआ ऊपर को उठे और जमीन से अधर (आश्रय-रहित) हाथों के ऊपर खड़ा रहे इसी का नाम कुक्कुटासन है।

७ धनुषासन।

अव धनुषासन कहते हैं—दोनों पांवों के अँगुठों को दोनों हाथों से ग्रहण करके एक को कानपर्यन्त लावे, धनुष की तरह आकर्षण करे। अथवा ऐसा भी कहते हैं कि एक पैर को फैला करके, एक से अँगुठा को ग्रहण करे और एक हाथ कानपर्यन्त करे इसका नाम धनुषासन है।

८ पश्चिम तानासन।

अव पश्चिम तानासन का स्वरूप कहते हैं—दोनों पांव दण्ड की तरह लम्वे करे और धरती को पैरों से पकड़े, अर्थात् पांवों को चिपटे (जमा) रखे, और दोनों हाथों को फैलाकर पांवों के दोनों अँगुठों को दोनों हाथों से पकड़े, परन्तु पांव ऊपर को न उठने पावे, जमीन से ही लगे रहें, फिर माथे को नीचा करके जङ्घों के ऊपर लगाकर स्थिर हो जाय, अथवा दोनों पांवों को चिपटा ले, और दोनों हाथ पैरों के इधर उधर से करके तलवों के वीच में हाथों की दशों अँगुलियां मिलावे, परन्तु अंगुली ऐसी मिलावे कि छूट न जाय, फिर माथा जङ्घा के ऊपर

रखकर स्थिर हो जाय। इस आसन के कुछ गुण दिखलाते हैं। यह आसन ऊपर कहे आसनों में से मुख्य आसन है। और सुषुम्णा-मार्ग को बतानेवाला है, प्राणों की गति को सूक्ष्म अर्थात् धीमा करनेवाला है, पेट की अग्नि को तीव्र करता है, और उड्यान वन्ध में भी मदद देता है, पेट के मध्य भाग को कृश बनाता है, जिससे तोंद नहीं निकलती, पेट पतला बना रहता है, और कब्जियत (मलाव-रोध) को दूर करता है, दस्त को साफ (खुलासा) करता है। जो मनुष्य इस आसन को लगाने का अभ्यास करेगा, उसको शरीर सम्बन्धी अनेक प्रकार के लाभो के अतिरिक्त योगाभ्यास में विशेष सहायता मिलेगी।

६ मयूरासन।

अब मयूरासन कहते हैं—दोनों हाथ जमीन पर रखकर दोनों कुहणी (कोणी) मिलाकर नाभि और कलेजा के बीच में कोणियों को रखकर कोणियों के ऊपर सब शरीर का जोर देकर दोनों पांव पीछे से ऊंचे उठावे, और जमीन पर सिवाय हाथों और कुछ शरीर न रहने दे। जैसे मयूर अपने पङ्खों को ऊपर करके नाचता है, इसी रीति से पांव ऊंचा करे, इसी का नाम मयूरासन है। इसका प्रकारान्तर भी कुछ बतलाते हैं कि, माथा जमीन से लगा रहे और बाकी कुल रीति उस प्रकार से जान लेनी चाहिये।

इसके कुछ गुण।

इस मयूर-आसन के करने में क्या लाभ है, अथवा क्या २ फायदे हैं वही दिखाते हैं—इस आसन के करने में जलन्धर, तापतिल्ली, फीया आदि अनेक रोग चले जाते हैं, और वात, पित्त, कफ, इनको भी यह मयूरासन नाश करता है अर्थात् विषम दोषों को सम करता है। जो कदाचित् कुत्सित अन्न खाया जाय तो उसे भी भस्म कर देता है, और जब वस्ति करने का काम पड़े अथवा कुछ जल पेट में रह जाय तो इसके करने से जल्दी रेचन हो जाता है।

१० सिंहासन ।

अब सिंहासन कहते हैं—दोनों घोटू जमीन पर टेककर दोनों एड़ियों को गुदा के पास ले जाकर उसके ऊपर बैठ जाय और दोनों हाथों के पञ्जे अर्थात् अँगुली पेट की तरफ और हथेली घोटू की तरफ करके सतर बैठ जाय, परन्तु हाथ में किसी तरह का शल्य न हो, और गरदन को कुछ झुकी हुई सामने रक्खे और दोनों आंखों की पुतली दोनों भँवारों (भौंओं) के बीच में रखे, और मुख को फाड़े, जीभ को अच्छी तरह से बाहर निकाले, और सिंह की तरह गर्जना अर्थात् शब्द करे। इसका अभ्यास करने से शरीर मे फुरती बनी रहती है, और तेजी बनी रहती है। कदाचित् गोचरी (भिक्षा) में खटाई आदि आ जाय तो खाने के बाद इस आसन को करे। इससे योग में किसी प्रकार का विघ्न न होगा।

अब ऊपर लिखे हुए आसनो में परिश्रम होता है, इसको दूर करने के वास्ते शिवासन को अवश्यमेव करे। इस लिये शिवासन का स्वरूप लिखते हैं।

११ शिवासन ।

जमीन से पीठ लगाकर शयन करे और हाथ पांव सीधे कर दे, अर्थात् जैसे मुर्दा होता है वैसे सरल होकर सो जाय। इस आसन से शरीर का परिश्रम दूर हो जाता है, इस लिये परिश्रम दूर करने के लिये यह आसन श्रेय है।

१२ सिद्धासन ।

अब सिद्धासन का स्वरूप कहते हैं—डावे पांव की एडी को योनि के मध्य में लगावे। गुदा और लिङ्ग के मध्यभाग का नाम योनि है—सीवन-स्थान को योनि कहते हैं। उस स्थान को एड़ी से दवाये रहे और दाहिने पांव को उठाकर लिङ्ग की जड़में एड़ीको लगाकर नीचे को दवावे, इसी रीति से बैठकर फिर एड़ी को हृदय से चार अङ्गुल फरक से रखे, और नेत्रों की अचल दृष्टि से भ्रुकुटि के मध्यभाग में लगा दे

इसका नाम सिद्धासन है। इस आसन का फल तो अन्य मतावलम्बियों के शास्त्रों में बहुत वर्णित है, और श्रीजैनमत में भी गुरुमुख से इसकी महिमा सुननेवाले जिज्ञासु जानते हैं, तथा शास्त्रों में भी वर्णन है। "यथा नाम तथा गुणाः" इस उक्ति से भी जान पड़ता है कि इस आसन में कोई विशेष महत्त्व होना चाहिये।

पद्मासन।

अब पद्मासन का स्वरूप लिखते हैं—बाईं जङ्घा के ऊपर दायां पांव स्थापन कर बांया पांव को दाहिनी जङ्घा पर स्थापन करके दांये हाथ को पीठ पीछे घुमाकर बांयी जङ्घा पर स्थित पांच के अँगुठे को पकड़े, और ऐसे ही बांये हाथ को पीठ पीछे ले जाकर दाहिनी जङ्घा पर स्थित जो बांया पांव उसके अँगुठे को पकड़े, और हृदय के समीप ठोडी चार अङ्गुल के अन्तर मे रखे, और नेत्रों से नासिका की डण्डी अर्थात् अग्रभाग (नोक) को देखे। अब प्रकारान्तर से भी पद्मासन को दिखाते हैं—बांया पांव के आगे दाहिनी जङ्घा के ऊपर फिर दाहिने पांव को बांयी जङ्घा पर रखे, और हाथों को उन दोंनों एडियों के ऊपर पहले बांये हाथ को रखे, उसके ऊपर दाहिने हाथ को रखे, अर्थात् जैसे जिन-मन्दिर मे भगवान् वीतराग जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा स्थापित की जाती है, उस रीति से जानो, इसका नाम पर्यङ्कासन भी पहचानो।

इन आसनों की विधि श्रीहेमचन्द्राचार्यकृत योगशास्त्र में देखो, इस जगह तो संक्षेप से नाम तथा गुण वर्णन करते हैं। जैसे पङ्कज कीचड़ से उत्पन्न हुआ और जल से वृद्धि पाकर दोनों को छोड़कर पृथक् हो जाता है। इसी रीति से जो मनुष्य इस पद्मासन को साधनेवाला है वह संसार रूप कीचड़ से उत्पन्न होकर और भोगरूप जल से वृद्धि पाकर इन दोनो को छोड़कर इस योगरूप अभ्यास में पृथक् स्थित हो गया; इसी लिये इसका नाम कमल-पङ्कज भी है।

इस प्रकार थोड़ासा आसनों का वर्णन किया, जो पुरुष पहले इन आसनो का अभ्यास दृढ़ करता है, वह ही पुरुष योगाभ्यास के परिश्रम

को उठावेगा, गुरु की चरण-सेवा से योग की कुञ्जी को पावेगा, विना गुरु-कृपा योगाभ्यास का रास्ता कदापि न पावेगा, पुस्तक वांचने से भी हाथ न आवेगा। इसी लिये हमारा कहना है जो कोई योग की सिद्धि करना चाहे तो प्रथम स्वरोदय अर्थात् स्वर का अभ्यास अवश्यमेव करे; क्योंकि जब तक पूरा २ उसको स्वर के तत्त्वों का ज्ञान न होगा तब तक योग की सिद्धि कदापि न होगी। क्योंकि स्वर के ज्ञान विना जो कोई मनुष्य योगाभ्यास अर्थात् प्राणायाम, मुद्रा, कुम्भकादि का परिश्रम करते हैं, उनका परिश्रम व्यर्थ जाता है, क्योंकि योगाभ्यास की प्रथम भूमिका स्वर-अभ्यास है।

वर्त्तमान काल में बहुत लोग प्राणायामादि अथवा षट्कर्मादि के विषय में परिश्रम उठाते हैं, परन्तु स्वर-अभ्यास के विना लाचार होकर थक जाते हैं, और समाधि के भेद को नहीं पाते। इस लिये जो योग की इच्छा करनेवाला जिज्ञासु है उसको मुनासिब है कि सद्गुरु के पास से विनयपूर्वक शुश्रूषा करके कपट-रहित हो गुरु की चरण-सेवा करे और इस स्वर-साधन की कुञ्जी सीखे, जिससे सर्व कार्य सिद्ध हों। क्योंकि जो मकान बनानेवाला पहले नींव को मजबूत करेगा, तो मकान चाहे जितना ऊपर ले जावे उसको कभी भी खतरा का मुंह न देखना पड़ेगा, या किसी प्रकार हानि की सम्भावना न होगी।

इस दृष्टान्त से दार्ष्टान्तिक को जानो, स्वर-साधन को नींव के बतौर पहचानो, इस स्वरोदय के विषय में भी पुस्तकें तो बहुतों की बनाई हुई हैं और सभी जगह प्रसिद्ध हैं बल्कि छापे में छपी हुई भी हैं और जगह २ मिलती भी हैं, हम उस तरह तो लिखाने की इच्छा नही करते, क्योंकि ग्रन्थ बढ़ जाने का भय है। परन्तु जो मुख्य प्रयोजन है, उसी का निदर्शन करते हैं।

स्वरोदय-स्वरूप।

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश यह पांच तत्त्व हैं, और इन पांचों तत्त्वों को ही सभी स्वरोदयवाले कहते हैं। और जैन में भी

गुरुकुल-वास विना इन्हीं को स्वरोदय वाले पांच तत्त्व कहते हैं, परन्तु यथावत् गुरु मिले और जिज्ञासु को योग्य जाने तो दूसरे भी पांच तत्त्व वतावे। उन पांच तत्त्वों की प्रसिद्धि ही नहीं है, परन्तु मैंने जिस गुरु की चरण-सेवा से योगाभ्यास की रीति पाई है उस गुरु की मुखजवानी थोड़ासा हाल सुना था। सो ठीक वात तो गुरु आदिक विना योग्य जिज्ञासु को नहीं कहते। क्योंकि शास्त्रों में ऐसा कहा है कि जो गुरु जिज्ञासु को योग्य जाने तो छेद-ग्रन्थादि पढ़ावे। कदाचित् योग्य न जाने तो छेद ग्रन्थों की वाचना (पाठन) न करावे, और कहीं २ परम्परा से भी ऐसी विद्याएं चली आती हैं।

जैसे इन्द्रजाल विद्या के वत्तीस पटल थे, जिसमें से श्रीहेमचन्द्राचार्य जी के समय में २८ पटल रह गये। और चित्रकूट (चित्तौड़) में कईएक विद्या के पुस्तक कीर्त्तिस्तम्भ में गुप्त थे, और उसकी किसी को खबर नहीं थी। परन्तु श्रीसिद्धसेन दिवाकर ने अपनी योग्यता से उस कीर्त्तिस्तम्भ को खुलवाकर एक पुस्तक निकाला। फिर उसी समय वह स्तम्भ वन्द हो गया और उस पुस्तक में से दो विद्या उनके हाथ लगी। शेष ग्रन्थ बांचने से उसके अधिष्ठाता देवता ने वर्जन किया। इस लिये श्रीसिद्धसेन-दिवाकर ने उस पुस्तक को श्रीअवन्ती पार्श्वनाथ के मन्दिर में छिपाकर रख दिया। इस लिये कुछ दिन बाद श्रीजङ्गम युग-प्रधान श्रीजिनदत्त सूरिजी महाराज के हाथ लगी। और अब उसे जेसल-मेर के भण्डार में सुनते हैं। और थोड़ा ही काल हुआ कि श्रीआनन्द-घनजी महाराज हुए हैं, और ये मारवाड़ में वहुत घूमे हैं, और वे प्रायः कई देशों में प्रसिद्ध भी थे। आयु के नजदीक आने से उन्होंने विचारा कि यदि कोई जिज्ञासु मिले तो इस वस्तु (योग प्रक्रिया) को दूँ, ऐसा विचार कर मारवाड़ादि में अच्छी तरह अन्वेषण किया किन्तु कोई योग्य जिज्ञासु व्यक्ति देखने में न आया। अनन्तर गुजरात देश में श्रीयशोविजयजी का नाम सुनकर श्रीआनन्दघनजी महाराज गुजरात में गये और उपाध्यायजी से मिले, परन्तु उपाध्यायजी को भी योग्य न

समझा। वे वस्तु पेट में ही लेकर समा गये (काल ग्रसित हुए), और अपनी परम्परा में कोई शिष्यादि न किया, क्योंकि उनके पद से मुझे भी मालुम होता है कि श्रीआनन्दघनजी महाराज अपनी बनाई हुई चौवीसी के अन्दर श्रीकुन्थुनाथ भगवान् के स्तवन में जो नवमी गाथा है उसमें मन ठहरने की कह गये हैं। परन्तु विना अध्यात्मी गुरु के गाथा का रहस्य मालुम नहीं होता। वह गाथा भी दिखाते हैं—

"मनडुं दुराराध्य तें वश आण्युं, ते आगमथी मति आणुं।
आनन्दघन प्रभु माहरु' आणो, तो साचुं करी जाणुं हो ॥कुं॥९॥

इस गाथा में 'आगमथी' इन चार अक्षरों में मन ठहरने का मतलब जतलाया, गुरुकुलवास विना इसका अर्थ समझ मे न आया, इस अधम अभागी योग-दरिद्री ने इसका अर्थ कितने ही जिज्ञासुओं को खोल कर बताया, जिन्होंने इस अर्थ को पाया, उन्होंने नवकार गुणने में मन भी ठहराया, इसके आगे भी बताते, परन्तु पूरा जिज्ञासु नजर में न आया, इसी लिये वह पद पोथियों में उलटा सीधा गाकर पाठकगण को सुनाया।

परन्तु पूर्वोक्त गाथा के पूर्वार्ध का अर्थ लोग ऐसा करते हैं कि हे श्रीकुन्थुनाथ स्वामिन्! मन जो है सो बड़ा दुष्ट है, अर्थात् अति चञ्चल है, परन्तु इसको आपने वश किया है, सो हे प्रभो! आगमथी अर्थात् शास्त्र के आधार पर अथवा शास्त्र के श्रद्धान-बल से जानता हूँ (विश्वास करता हूँ)। आगे की तुक् में कहते हैं कि मै तो हे प्रभो! प्रत्यक्ष तब जानूं, जब मेरा मन स्थिरता पकड़ ले, अर्थात् समाहित हो जावे, ऐसा भाव लोग निकालते हैं।

परन्तु इस अर्थ में तो अन्य मतावलम्बियों को शङ्का उत्पन्न होती है कि आनन्दघनजी जैन के साधु थे, किन्तु उन्हें श्रद्धा न थी, क्योंकि यदि उन्हें श्रद्धा होती तो ऐसा न कहते कि मैं शास्त्र से श्रद्धान करता हूँ, परन्तु प्रत्यक्ष में तो तब ही विश्वास कर सकता हूँ जब कि मेरा मन समाहित हो जावे (ठहर जावे)। इस कथन से उन्हें अश्रद्धान उत्पन्न होता है।

इस शङ्का के दूर करने के लिये कुछ प्रयत्न करते हैं कि पूज्यपाद श्री आनन्दघनजी महाराज के समान तो श्रद्धान इस समय होना कठिन है। किन्तु आनन्दघनजी का अभिप्राय न जानने से ऐसा कहना ठीक नहीं जान पड़ता, क्योंकि देखिये श्री आनन्दघनजी अपनी गाथा में क्या कहते हैं। 'आगमथि' इन चार अक्षरों में श्री आनन्दघनजी महाराज का अभिप्राय दिखाते हैं कि एक२अक्षर में गुरुगम से सम्पूर्ण नाम निकलता है। जैसे 'भीम' कहने से भीमसेन को ग्रहण करते हैं; तैसे ही आ कहने से आया और ग कहने से गया, म कहने से मन और थि कहने से स्थिर। उसका तात्पर्य यह है कि आने जाने मे मनको मिलाना उस मिलाने से मन स्थिर होता है। इसी रीति से हे प्रभो! आपने अपने मन को स्थिर किया, ऐसा उस पद का अर्थ है, परन्तु जैसा लोग कहते हैं उसी रीति से मैं नहीं मानता।

कदाचित् आगम पद करके यदि कोई इस गाथा में शास्त्र लेगा तो जो शास्त्रों में आगम का लक्षण किया है वह व्यर्थ हो जायगा। क्योकि आगम का लक्षण, प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार में तो "आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः" आप्तो के वचन से प्रकट हुआ पदार्थ का जो सवेदन अर्थात् ज्ञान उसका नाम आगम है, न कि शास्त्रों का नाम आगम है। इसी रीति से श्री आनन्दघनजी महाराज जैसे श्रद्धावान् थे, वैसा तो वर्त्तमान काल में होना कठिन है। इसी रीति से गुरुगम को जानो, जैनमत में किसी तरह का सन्देह मत आनों, श्री आनन्दघनजी महाराज को अध्यात्मीओं में पूरा मानों, अध्यात्म विना विद्वत्ता का क्यों करो अभिमानों?

इसी रीति से श्रीचिदानन्दजी (अपर नाम कर्पूरचन्द्रजी) महाराज ने भी योग्य जिज्ञासु विना किसी को शिष्य न बनाया, और वे भी हृदय में ही योग-प्रणाली लिये स्वर्ग में चल बसे। हमारे जैसे अधम, अभागी, योग-दरिद्री जैन भाण्ड को छोड़ दिया, सो हमने भी किञ्चित् प्रपञ्च किया। अस्तु।

अब जो वक्तव्य है उसके विषय में कहते हैं। प्रथम कहे हुए पञ्च तत्त्वों की गति चन्द्र और सूर्यनाडी में होती है, इसका ठीक २ जानना वही स्वरसाधन है।

स्वरोत्थान।

स्वरोत्थान प्रथम भ्रूकुटिचक्र से होता है और आगमचक्र से होकर बङ्कनाल के पास होकर पश्चिम-द्वार से निकलकर शीघ्रता से नाभि में खटका देता है फिर नाभि में उठकर हृद्य-कमल पर होकर कण्ठदल के ऊपर होकर जो जीवणां (दाहिना) रन्ध्र है उसमें घुसकर वांयी और नासिकाद्वार से निकलता है। इसी प्रकार बायां रन्ध्र मे घुसकर दांयी नासिका से निकलता है। इसी रीति से फिर पीछे को भी जाता है। इस जगह किञ्चित् परीक्षक पुरुषों के वास्ते परीक्षा अवसर भी है— जो भृकुटिचक्र से नाभि में आता है, सो उसके आने की परीक्षा यह है कि नाभि से खट २ का शब्द आता है। जैसे घड़ी चक्रों के फिरने से खट २ करती है उसी प्रकार नाभि में भी होता है।

इस खटके के देखने के वास्ते जब तक गुरु-कृपा न हो तब तक उस खटके का देखना कठिन है। जो गुरु खटके के देखने की रीति बतावे, तब वह खटका भी देखे और बीच का भी कुछ लाभ हो। कदाचित् कोई बुद्धिमान् एकाग्रचित्त होकर उस खटके की प्रतीति करे तो उस बुद्धिमान् को खटका तो प्रतीत हो जायगा, परन्तु उसका जो रहस्य हैं सो गुरु के विना कदापि न मिलेगा, क्योंकि श्रीमानतुङ्गाचार्यजी 'पञ्च परमेष्ठि स्तोत्र' में लिखते हैं कि "गुरुकृपां विना किं पुस्तकभारेण"। इसी तरह परमतावलम्बी भी योगशास्त्र वा गोरक्ष-पद्धति वा स्वरोदय आदि ग्रन्थों के मूल वा टीका वा भाषादि में गुरु का स्मरण देते हैं कि रहस्य गुरुगम से जानो, ग्रन्थ में रहस्य को नही है ठिकानों।

न्यायशास्त्र में भी ऐसा कहते हैं कि "शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन" अर्थात् शिव (इष्ट-देव) के रुष्ट होने पर गुरु रक्षण करने वाला है परन्तु गुरु के रुष्ट होने पर कोई रक्षण करने वाला नहीं है। और

जैनमत मे तो गुरु विना कुछ भी नही होता, इस लिये गुरु की मुख्यता है। अब ऊपर लिखे दोनों स्वरों में जो पांचों तत्त्वों का प्रकाश है, उसका थोड़ा सा वर्णन करते हैं।

१ पृथिवी तत्त्व का स्वरूप।

पृथिवी तत्त्व का रङ्ग पीला और वारह अङ्गुल या आठ अङ्गुल वहता हैं—अर्थात् सन्मुख नकुवे के (नाक के रन्ध्रो के ठीक सीध मे) वाहर मालूम पड़ता है। स्वाद मीठा, आकार चौकोना (चौरस), और ५० पञ्चास पल अथवा वीस मिनट जिसका जङ्घा में स्थान है उसे पृथिवी नाम से जानना चाहिये।

२ जल तत्त्व का स्वरूप।

दूसरा जलतत्त्व है, इसका वर्ण सफेद है। पन्द्रह अङ्गुल अथवा वारह अङ्गुल नासिकाग्र भाग में वहता है, किन्तु इसकी गति नीची रहती है। स्वाद (रस) कषायेला और वर्त्तुल—गोल आकार तथा ४० पल अर्थात् सोलह मिनट पाँव के स्थल में रहता है। इसे जलतत्व नाम से पहचानना चाहिये।

३ अग्नितत्त्व स्वरूप।

अग्नितत्त्व का रङ्ग लाल और चार अङ्गुल ऊंची इसकी गति जानना चाहिये, स्वाद तीक्ष्ण जैसे मरीच का रस तीक्ष्ण होता है, त्रिकोण आकार, ३० पल अर्थात् १२ मिनट कन्धा में रहता है। इसे अग्नितत्त्व नाम से पहचानना चाहिये।

४ वायुतत्त्व स्वरूप।

वायुतत्त्व का वर्ण हरा (नीला) अथवा काला जानना चाहिये, तथा आठ अङ्गुल तथा पांच अङ्गुल तिरछी गति, स्वाद मे खट्टा, आकार में ध्वजा जैसा, २० पल अर्थात् ८ आठ मिनट नाभि में जिसकी स्थिति है, इसे वायुतत्त्व नाम से पहचानना चाहिये।

५ आकाश तत्त्व का स्वरूप।

आकाशतत्त्व रङ्ग में काला, अथवा नाना प्रकार का, नासिका के

भीतर ही चलने वाला, स्वाद में कटु, शून्याकार वाला, १० पल अथवा ४ मिनट मस्तक में अथवा सम्पूर्ण देह में स्थित है। वह आकाश-तत्त्व नाम से पहिचाना जाता है। इस प्रकार तत्त्वों का वर्ण तथा आकार आदि कहा है। अब जो कुछ ऊपर लिख आये हैं कि मुझे जैन रीति से जो तत्त्व गुरु ने कहे हैं कुछ उनका स्वरूप कहते हैं।

जैन रीति से तत्त्वों का अनुसन्धान।

अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, ये पञ्च तत्त्व जानने चाहिये। और क्रम से निम्नलिखित वर्णादि भी जानने चाहिये—जैसे शुक्ल, लाल, पीला, हरा (नीला) काला अथवा चित्र। सोलह अङ्गुल, चार अङ्गुल, बारह अङ्गुल, आठ अङ्गुल, कुछ नही। कषायला, अन्तमीठा, तीखा, मीठा, खट्टा, कड़ुवा।

अब इन उक्त तत्त्वों तथा इनके वर्णभेदादि पर विचार दिखलाते हैं। पहले अरिहंत का श्वेत वर्ण क्यों कहा है? वह इसलिये कि उनमें किसी प्रकार का मल—कर्मरूप मेल—नहीं रहा। और सोलह अङ्गुल इस वास्ते कि आठ गुण प्रातिहार्यादि और चार मूल अतिशय और चार कर्म के क्षय होने से चार गुण, इसी रीति से सोलह अङ्गुल समझना चाहिये।

१ अरिहंत तत्त्व।

इसका स्वाद कषायला इस लिये कहा है कि सम्यक्त्व-रहित जीवों को उनके वचन रूप जल में रुचि नही होती, और जो सम्यक्त्व करके सहित हैं,उनको शब्दरूपी जल मीठा मालूम होता है,इस लिये अज्ञानदशा से लोग जल का स्वाद कषायला कहते हैं,परन्तु है असल में मीठा; इसी वास्ते नैयायिक ने जल को मीठा कहा है। बे-समझों के वास्ते हरीत-की अर्थात् हरड़ वा आम की सेकी हुई गुठली पहले खाकर पानी पीने से वह मीठा लगता है। अन्य वस्तु के संयोग से जल को कषायला कहते हैं परन्तु है वास्तव में मीठा। इस लिये अरिहत तत्त्व को स्वाद करके मीठा कहा है। जैसे जलतत्त्व के स्वाद की अज्ञानदशा से खबर नहीं पड़ती, वैसे ही अज्ञान के कारण जिन तत्त्वों का हम वर्णन करते हैं उनको

छोड़कर पृथिवी आदि तत्त्वों को अङ्गीकार किया, देखादेखी लोगों ने इन्हीं को तत्त्व लिख दिया, सर्वज्ञ के विना दूसरोंने न पूरा ज्ञान किया, गुरु मिले विना क्योंकर खुलासा होवे हिया, सत गुरु जिन को मिले उन्होंने ही इस जैनधर्म का अमृतरस पिया, इन तत्त्वो को साध (सिद्ध कर) आत्मा में मिलाय कर हुआ जब अभेद, मुक्तिपद लिया।

अरिहन्त तत्त्व का वर्त्तुल आकार दूसरी रीति से है—जैसे वड़ का पेड़ नीचे से सङ्कुचित होकर ऊपर से विस्तीर्ण होता है और जैसे जल धारारूप से निकलकर जमीन पर फैल जाता है,वैसे ही अरिहन्त-रूप तत्त्व केमुखारविन्द में से धारारूप त्रिपदी निकलने से गणधरादि शिष्य-रूपी जमीन पर विस्ताररूप द्वादशाङ्गी रची जाती है। इत्यादि अरिहन्त तत्त्व के गुण जानों, वाकी गुरुगम से सव पहचानों, इस अधम अभागी जिनधर्म-दास भाण्ड चेष्टा वाले ने किञ्चित् किया वयानों। इस रीति से हे भव्य प्राणियो! आत्मार्थ करना चाहो तो इन तत्त्वों को दिल में आनों, दुःखगर्भित मोह-गर्भित वैराग्य वालों की तरह झगड़ा कर द्वेषतत्त्व को मत ठानों, राग-द्वेष फैल भेद तो अनेक भए इस लिये सत्य गुरुओं के सत्य उपदेश को न रह्यो ठिकानों, शास्त्रानुसार कथन किया इन तत्त्वों का करियो सन्मानों। अब इसके आगे सिद्धतत्त्व के विषय पर विवेचन करेंगे।

२ सिद्धतत्त्व।

सिद्ध का वर्ण लाल इस लिये है कि जैसे अग्नि सर्व वस्तु को भस्म करती है वैसे ही सिद्ध भी कर्मरूप वस्तु को जलाकर भस्म कर देता है। इस अनुमान से अग्निरूप अलङ्कार के सदृश रङ्ग लाल कहा है। परन्तु सिद्ध में रङ्ग कोई नहीं, क्योंकि शास्त्रों मे ऐसा कहा है कि परमात्मा में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श कोई नहीं, ऐसे ही अग्नि में भी कोई तरह का रङ्ग नहीं है, क्योंकि जो अग्नि में लाल रङ्ग होता तो अग्नि के बुझने के वाद राख में भी कुछ लाली रहनी चाहिये। इस लिये अज्ञानदशा से लोगो को उपाधि से लाल रङ्ग प्रतीत होता है।

अब सिद्धरूप अग्नि का ४ चार अङ्गुल प्रमाण इस प्रकार है कि सिद्ध में मुख्यतया चार गुण अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य हैं। इन गुणों से ही चार अङ्गुल लेते हैं, परन्तु अग्नि में चार अङ्गुल होने का कोई प्रमाण नहीं। और यदि प्रमाण हो तो बतलाना चाहिये। और दूसरा इस में यह भी प्रमाण है कि परमात्मा और जीव में कोई भेद भी नहीं हैं, केवल उपाधि (कर्म-संयोग) से भेद हैं। इस लिये जिसमें जो गुण होता है उसमें वह गुण सत्तारूप से बना रहता ही है। इस लिये इसमें चार अङ्गुल प्रमाण कहा है।

स्वाद तीक्ष्ण।

इस तत्त्व का स्वाद तीक्ष्ण इस लिये है जिस की तीक्ष्णता (सूक्ष्मता, दुर्ज्ञेयता) में दूसरी वस्तु प्रवेश न कर सके। ऊर्ध्व गति इस तत्त्व की इस लिये है कि जो चीज हलकी होती है। वह स्वभावतः ऊपर को जाने वाली है, और भारी होने से नीचे को गति करने वाली होती है। इस लिये कर्म रूप मल न होने से इसकी ऊर्ध्वगति कही गई है।

इसका त्रिकोण आकार इस लिये कहते हैं कि तीन भाग अवगाहना के करने से एक भाग कम हो जाना और दो भाग रहना, इस लिये इस तत्त्व को तीन भाग की अपेक्षा से त्रिकोण कहते हैं। परन्तु अग्नि में त्रिकोण आकार का कोई प्रमाण नहीं, इस रीति से सिद्धतत्त्व का निरूपण किया है। जिनधर्म से मतलब लाये, फिर अपनी बुद्धि कल्पित पदार्थ बनाये, असल मतलब को न पाये, छोडे को बांधकर अपने २ जाल फैलाये, भोले जीवों को मनः कल्पित तत्त्व समझाये, सत्य उपदेशक विना सत्य उपदेश-रत्न हाथ न आये। अब आचार्य तत्त्व के विषय में कहेंगे।

३ आचार्य तत्त्व।

आचार्यतत्त्व का पीला रङ्ग है, वह शास्त्रों में प्रसिद्ध है, युक्ति देने का कोई प्रयोजन नहीं जान पडता, इस लिये युक्ति नहीं दिखलाते। यह तत्त्व बारह अङ्गुल चलता है और अङ्गुल के विषय में युक्ति यह है कि तीर्थङ्करो के मुख से त्रिपदी सुनकर द्वादश अङ्ग अर्थात् जिनमत के

बारह वेद रचते हैं। और बारह वेदों में भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान तीनों काल की बाते रची जाती हैं, इस लिये उनकी बारह अङ्गुल गति कही गई है।

रस—स्वाद मीठा इस लिये है कि कुल समुदाय को विश्वास देकर मार्ग में चलाते हैं। सम—चतुरस्र इस लिये है कि उनका चारों (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका) के ऊपर सदृश भाव है। इस लिये आचार्यतत्त्व को चतुरस्र (चौकोण) कहा है।

सीधी गति इस लिये कही है कि समुदाय में आचार्य की न्यूनाधिक भाव-परिणति नही होती। इस प्रकार आचार्यतत्त्व को पहचानों, बुद्धि का विचार कुछ अपने दिल में आनों, जिस से यथार्थ ज्ञान को जानों, अब चतुर्थ उपाध्यायपद का हम करते हैं बखानों।

४ उपाध्याय-तत्त्व।

चतुर्थ उपाध्याय तत्त्व का वर्ण हरा, प्रमाण अङ्गुल आठ, गति तिरछी, आकार ध्वजा सम, स्वाद खट्टा। इसका आठ अङ्गुल प्रमाण इस लिये है कि, अष्ट प्रवचन-माता को आप यथावत् पालते हैं, और दूसरो से पलवाते हैं। और तिरछी गति इसकी इस लिये है कि द्वादशाङ्गी का स्वाध्याय अनुलोम प्रतिलोम (उलटा सीधा) कई प्रकार से करते हैं। और जिसका अष्ट-प्रहर विचार रूप भ्रमण कई तरह का है। और जो कोई वक्रता से पूछे तो उसी रीति से समझाना और धर्म में लाना, इस लिये तिरछी गत्ति कही है।

५ साधु-तत्त्व।

उत्सर्ग मार्ग से साधुपन मे से बाहिर न हो, इस लिये बाहिर निकालना कहा। काला रङ्ग इस लिये कहा है कि उस रङ्ग के ऊपर कोई दूसरा रङ्ग न चढ़े। ऐसे ही साधु के साधन में दूसरा रङ्ग न हो, और बहुत रङ्ग इस वास्ते कहते हैं कि, साधु गुरु की चरणसेवा से विद्याध्ययन करता है। और जब विद्या में निपुण हो तब दूसरों को अध्ययन करावे, जब अध्ययन कराने लगा तब उपाध्यायपद की भी प्राप्ति होती है। फिर

उपाध्यायपद में निपुण जानकर योग्यता देख गुरु आचार्यपद देते हैं, इस प्रकार वढ़ता हुआ अरिहन्तपद को पाकर सिद्धपद को प्राप्त होता है, इस लिये बहुत रङ्ग इसके विषय में कहे गये हैं। और आकाश इसको इस लिये कहते हैं कि जैसे आकाश में सर्व द्रव्य रहने वाले हैं, वैसे ही साधुपद में सर्व द्रव्य रहने वाले हैं। इसी रीति से सर्व-व्यापक जानो। कड़वा स्वाद इस लिये है कि जैसे कड़वी चीज से चित्त विगड़ता है परन्तु कड़वी चीज़ है गुणदायक, वैसे ही साधु को अनेक परिषहादि का सहन करना भी होता है, इस लिये वह कटुक प्रतीत होता है, परन्तु है सुखकारी। इस रीति से इन पांच तत्वों का किञ्चित् भेद सुनाया, गुरुगम से मैंने पाया, शास्त्रों में लेख न आया, इस रीति को सुनकर कितने ही लोगों के चित्त में कुविकल्प समाया, मुझे नही विवाद, इसमें पञ्च परमेष्ठि का मैंने ध्यान वताया।

अव इस जगह शङ्का उत्पन्न होती है कि शास्त्रों में तो यह वात किसी के देखने में नहीं आई, जो कही होती तो कोई आचार्य किसी जगह लिखते। इस शङ्का का समाधान ऐसा है कि मैंने जो इस विषय में लिखा है सो सर्वज्ञ की सर्वज्ञता से किञ्चित् भी वाहिर नहीं है। क्योंकि सर्वमतावलम्बी अज्ञान के जोरसे अपने तत्वों की मुख्यता लेकर वर्त्तमान काल में दुःखगर्भित मोहगर्भित वैराग्य वाले और जाति कुलके जैनियों की व्यवस्था देखकर हंसी करते हैं कि हमारे विना तत्वादिका साधन तुम्हारे मत में नहीं है। इस तरह श्रवण करके चित्त में आया कि इस वीतराग सर्वज्ञ देव से कोई वात छिपी नही। परन्तु दिन प्रतिदिन योग्यता की हानि होने से गुरू परम्परा छिपती गई और अज्ञानियों का जोर वढ़ता गया। इस लिये उन अज्ञानियों का मुख वन्ध करने के लिये और चिन्तामणिरत्न समान जिनधर्म की उन्नति के वास्ते मैंने लिखाया, सद्गुरु का उपदेश भी पाया। इस रीति के गुप्त हो जाने का किञ्चित् कारण दिखाता हूँ।

श्रीमहावीर स्वामी से लेकर श्रीभद्रवाहु स्वामी तक तो चोदह पूर्व-

विद्या और गुरु-परम्परा यथावत् चली आई। इस लिये श्रीभद्रबाहु स्वामी ने नेपाल देश के पहाड़ों में जाकर प्राणायाम सिद्ध किया। इसका वर्णन श्रीकल्पसूत्र की टीका आदि में ऐसा लिखा है कि, जिस समय श्रीयशोभद्रसूरिजी देवलोक को प्राप्त हुए, और साधुओं को विद्या पढ़ाने वाला आचार्य भद्रबाहु स्वामी के सिवाय कोई दूसरा न देखा, तब श्रीसङ्घ ने मिलकर भद्रबाहु स्वामी को विनयपूर्वक आवेदन किया और कहा कि हे भगवन्! श्रीयशोभद्रसूरिजी महाराज तो देवलोक प्राप्त हुए और स्थूलभद्रजी आदि अनेक साधु विद्या पढ़ने योग्य हैं; इस लिये आप पधारो, क्योंकि आप के सिवाय दूसरा कोई विद्या पढ़ाने वाला नहीं है। यह खबर श्रीभद्रबाहु स्वामी ने सुनकर कहला भेजा कि मैं महाप्राणायाम करता हूँ, इस कारण मेरा आना नहीं हो सकेगा। जब श्रीसङ्घ ने ऐसा सुना तो फिर उनकी सेवा में कहला भेजा कि जो श्रीसङ्घ की आज्ञा न माने, उसके लिये सिद्धान्तों में क्या दण्ड कहा है? इसके उत्तर में उन्होंने कहला भेजा कि श्रीसङ्घ से उसको बाहिर कर देना चाहिये। इस उत्तर को सुनकर फिर श्रीसङ्घ ने कहला भेजा कि आपके कथनानुसार सिद्धान्त हैं तो आपको श्रीसङ्घ बुलाता है और आप इनकार करते हैं, आपको आना अवश्यमेव अङ्गीकार करना चाहिये। यह सुनकर श्रीभद्रबाहु स्वामी ने कहला भेजा कि समुदाय से मैं बाहिर हो जाऊँ, परन्तु मेरा प्राणायाम का भङ्ग मत हो, यह कहकर साथ २ यह भी कह भेजा कि जो पढ़ने वाले साधु हों उन्हें यहाँ भेज दो, मैं उन्हें पढ़ाऊँगा, किन्तु प्राणायाम सिद्ध हुए बिना मेरा वहाँ आना न होगा; इस लिये श्रीसङ्घ को उचित है कि उन साधुओं को मेरे पास भेज देना चाहिये, और इस विषय में विशेष खींच न करनी चाहिये, जिससे कि मेरे महाप्राणायाम में विघ्न उपस्थित हो, भगवदाज्ञा उठाना चाहिये, आत्मा के साधन से किसी को न डिगाना चाहिये, जिस रीति से दोनों कार्य सिद्ध हों उसी रीति से वर्त्तना चाहिये।

अनन्तर श्रीसङ्घ ने महामुनि स्थूलभद्रादि ५०० पांच सो साधुओं को

श्रीभद्रवाहु स्वामीजी के पास भेजा, तव उन्होंने पाठन आरम्भ कर दिया। श्रीस्थूलभद्रजी को दशपूर्व तक पढ़ाया, इधर से श्रीभद्रवाहु स्वामी का महाप्राणायाम भी सिद्ध हो आया, और मुनियों को भी जितना जिसको कण्ठस्थ हो सका उतना ही उसको पढ़ाया, फिर वहां से विहार कर विचरने को चित्त आया। अनन्तर पाटलीपुर नगर में आकर भव्यजीवों को उपदेश देने लगे।

उस समय श्री स्थूलभद्रजी महाराज गुरु की आज्ञा लेकर जङ्गल के वीच गुफा में पठित विद्या का मनन करने के लिये गये। थोडे समय में जो गृहस्थपन की वहिन साध्वी हो गई थी सो भद्रवाहुस्वामी के पास आकर विधिपूर्वक वन्दना कर कहने लगी कि हमेरे भाई स्थूलभद्रजी महाराज आप के पास पढ़ने को आये थे वे कहां है, नजर नहीं आये, उन्हें वन्दना करने की हमारी तीव्र इच्छा है। इसके अनन्तर उत्तर में श्रीभद्रवाहु स्वामी वोले कि वे फलानी जगह पर अभ्यस्त विद्या का मनन-आवर्त्तन करते हैं। यदि तुम्हारी उन्हें वन्दना करने की इच्छा हो तो वहां जाओ। इस उत्तर को सुनकर गुरुजी की आज्ञा से वहां से जव स्थूलभद्रजी को वांदने के लिये चली, तो उस समय स्थूलभद्रजी ने जान लिया कि मेरी साध्वी वहन मुझे वन्दना करने के लिये आ रही हैं। तो उसे देखकर स्थूलभद्रजी महाराज ने विद्या के वल से अपने आपको सिंह के स्वरूप में परिवर्तित कर लिया, और जव साध्वी वहन समीप पहुंची तो वहीं थोड़ी दूर से देखा कि सिंह वैठा हुआ है तो सिंह को देखकर पीछे लौटी, और व्याकुल-चित्त होती हुई चिन्ता करने लगी कि मेरे भाई मुनि स्थूलभद्रजी को सिंह ने खा लिया होगा। ऐसा विचार करती हुई श्रीगुरुमहाराज के पास आकर यह हाल समस्त सुनाया, और गुरुमहाराज यह वृत्त सुनकर उपयोग दे वोले कि तेरे भाई को सिंह ने नहीं खाया, वास्तव में तेरा भाई तुझे अपनी विद्या का चमत्कार दिखाने के लिये सिंह का रूप धारण कर वहीं वैठा है, अव जाओ वहां मिलेगा और जाकर वहां वन्दना करना। यह सुनकर मन में सन्तोष पाकर और

फिर से वहां जाकर उन्हें वन्दन कर वह पीछे अपने उपाश्रय को लौटी।

इस बात को देख श्रीभद्रबाहु स्वामी श्रीस्थूलभद्रजी को अयोग्य जानकर बची हुई चार पूर्वों की विद्या को अर्थसहित पढ़ाना छोड़ दिया। श्रीस्थूलभद्रजी ने दश पूर्व की सार्थ विद्या पढ़ी थी, उतनी ही विद्या श्रीवज्रस्वामी तक चली आई। फिर श्रीवज्रस्वामी के बाद में दश पूर्व की विद्या न्यून होने लगी। फिर श्रीस्कन्दिलाचार्य तक कुछ पूर्व की विद्या और चार अनुयोग विद्यमान थे, परन्तु श्रीस्कन्दिलाचार्य ने देखा कि समय दिन प्रतिदिन गिर रहा है और जीवों का बुद्धिबल भी क्षीण हो रहा है, ऐसा विचार कर पृथक् अनुयोग बनाया, यह परम्परा मेरे सुनने मे आया, इसमें न मेरा आग्रह, जैसा मैंने सुना वैसा पाठकगण को समझाया। उसके बाद फिर दिन प्रतिदिन समय की गिरती हुई अवस्था को देखकर श्रीदेवर्द्धिगणि-क्षमाश्रमण ने कण्ठस्थ विद्या से कागजो या ताड़पत्रों पर सूत्र लिखाया, तभी से शास्त्र पुस्तकों मे आया, कुछ दिन के बाद रागद्वेष ने मुख फैलाया, कि जब आचार्यों ने आपस में झगड़ा फैलाया, पुस्तकों के जोर से अपना २ वाड़ा बनाया, समाचारी जुदी २ कर गृहस्थों को लड़ाया।

इस कारण इस जैनमत में अनेक भेद हो गये, और कदाग्रहों से शास्त्रो की व्यवस्था कुछ की कुछ हो गई, और अपने भिन्न २ नाम से गच्छ वा गद्दीयां चल गई, और सामाचारी भी सुनाने लगे, अपने को तो सब अच्छे साफ सुधरे बताने लगे, और दूसरों को असत्य कहने लगे। इस लिये गच्छ और मती आपस मे ऐसा कलह करते हैं कि जिसको हम लिख नहीं सकते। कवला, वड़गच्छ, तपोगच्छ, खरतरगच्छ, इत्यादि गच्छ और अनेक गद्दीयां भी हो गयीं। और इनके बीच में कई बोलों (सिद्धान्तार्थ-वचनों) का भी अन्तर पड़ गया। इन सभी गच्छों में प्रसिद्ध दो ही खरतर और तपोगच्छ नाम से हैं। इनमें भी तीस २ बोल का आपस मे अन्तर है। इस लिये कितने ही साधु नाम धराते हैं, गृहस्थियों

को लड़ाते हैं, पुस्तक बनाकर छपवाते हैं, और आपस में एक को एक बुरा बताते हैं ।

इस व्यवस्था में एक तपोगच्छ के आत्मारामजी का बनाया हुआ पुस्तक देखकर मैंने आतमभ्रमोच्छेदभानु नामक पुस्तक वनाया है। शास्त्रों की यथावत् वातें उसमें समझाई हैं, उसको देखकर गच्छों का विचार जानों, इस जगह तो बतायो है एक ठिकानों। अधिक कहने से ग्रन्थ बढ़ जायेगा इस लिये न लिखाया, पाठकगण को इशारा बताया। जब इस प्रकार शास्त्रों की कुछ की कुछ व्यवस्था हो गई, तो फिर जो गुरु परम्परा से योगाभ्यास की रीति आ रही थी वह क्यों न लुप्त होती? परन्तु जीर्णवस्त्र-छिद्रमन्धान न्याय से चली आती है; वह भी कदाग्रह से दिन प्रतिदिन दवी जाती है, सर्वथा लुप्त नहीं हुई क्योंकि श्रीहरिभद्र-सूरिजी ने योगविंशतिका तथा योगसमुच्चयादि ग्रन्थों मे वर्णन किया है और श्रीहेमचन्द्राचार्यजी ने भी योगशास्त्र में। और रत्नप्रभसूरि आदि अनेक आचार्य समाधि की महिमा कर गये हैं और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अनुसार समाधि आदिमें परिश्रम भी किया होगा और श्रीआनन्द-घन जैसे तो सत्पुरुष थोड़े से काल के पहले हुए है सो इन्होंने तो हठ-योग की बहुत सी वातें जताई है। मुद्रा, धारणा नादादि स्तवनों में गाये है, अजपाजाप जपने की भी बहुत सी महिमा बताई हैं और मन ठहराने के वास्ते भी ईशारे कर गये हैं।

ऐसे ही चिदानन्दजी अपरनाम कपूरचन्दजी ने भी स्वरोदयादि ग्रन्थ में इशारा जताया, नवपदजी का ध्यान करना भी बताया, समाधि का भेद भी लिखाया, परन्तु मेरी तरह इन पांच तत्त्वों पर खुलासा कर न दिखाया। इस लिये मुझे पाठकगण को इतना हाल लिखकर समझाना पड़ा कि जिसमें कोई सन्देह न करे, और मुझे कुछ इसमें आग्रह भी नहीं हैं, जैसा गुरुने मुझे बताया, उसमें से किञ्चत् मैंने बुद्धि-अनुसार लिखाया। इस बात को समझकर जैनधर्म की रीति से किञ्चित् तत्वों का भेद चित्त मे लाओ, गुरु के पास से विशेष भेद पाओ, आत्मार्थ करना चाहो तो

वाह्य क्रिया को छोड़कर योगाभ्यास में चित्त लगाओ, आत्मगुण गाओ, जिससे मोक्षपद पाओ, ऊपर लिखे तत्वों का भेद सुन अभ्यास को बढ़ाओ।

पांचों तत्वों की साधनरीति।

इन पांच तत्वों के साधने वाले को चाहिये कि पहले पांच गोलियां अलग २ रङ्ग की बनावें, और एक गोली अनेक वर्ण की बनावें और इन छहों गोलियों को पास रखे। जब बुद्धिपूर्वक तत्व देखने का विचार हो, तब पास में रखी हुई जो अदृष्ट गोलियां है, उनमें से एक गोली निकाले, जब उस गोली की और बुद्धि में विचारे हुए रङ्ग की एकता मिल जाय तो जानों कि तत्त्व मिलने लगा। अथवा किसी दूसरे से कहे कि तुम अपने मन में किसी एक रङ्ग को विचारो। जब वह कहे कि हां मैंने रङ्ग विचार लिया है, तो उस समय अपने स्वर मे तत्व को देखे, और जब अपनी बुद्धिपूर्वक तत्त्व का रङ्ग प्रतीत हो तब उस पुरुष को कहे कि तुमने फलाना रङ्ग अपने मन में विचारा है। जो उस पुरुष का रङ्ग अपने कहे हुए रङ्ग के अनुसार मिल जाय तो जानो कि अपना तत्व मिलने लगा। अथवा दर्पण (आईना) को अपने मुख के पास लगाकर नाक का श्वास उसके ऊपर छोड़े, उस काच के ऊपर श्वास से तत्त्व के अनुसार आकार बनता है, उस आकार से भी तत्त्व की पहिचान करे।

मुद्रा द्वारा तत्वों की पहचान।

अथवा अङ्गुठा से तो कान को मूंदे और तर्जनी से आंख की पलक दवावे और मध्यमा से नासिका का स्वर वन्द करे, अनामिका और कनिष्ठिका से होंठों को दवावे, इस रीति से दूसरे हाथ से दूसरी तरफ से वन्द करे, और मन को भृकुटि की तरफ ले जाये। उस जगह जैसा तत्व होगा वैसा ही तिलुला अर्थात् बिन्दु आदि से मालूम होंगे, इस प्रकार रङ्ग और आकार का मतलब कहा। अब कुछ रस के विषय में कहेंगे।

रसद्वारा तत्वों की पहचान।

जिस समय जो तत्व होगा उस समय उस मनुष्य के सूक्ष्म परिणाम में तत्व की रसानुसार वांछा हो जायगी, और गात इसकी ऊँची, नीची, तिरछी, सीधी जैसी हो, गुरु बतावे तो यथावत् बोध हो सकता है, पुस्तकों के द्वारा नहीं।

प्रकृति या बातचीत द्वारा तत्वों की पहचान।

प्रकृति (स्वभाव) या बातचीत द्वारा तत्वो के विषय मे यों जानना चाहिये कि जब अग्नितत्व होता है उस समय क्रोधस्वभाव होता है, जो जलतत्व होता है तो मनुष्य उस समय शीघ्रता से बातचीत करने चाहता है, जब पृथिवी तत्व होता है, उस समय धैर्य से बातचीत करने को चित्त चाहता है। जब वायुतत्व होता है तो उस समय प्रसङ्ग छोडकर दूसरी बात करने लगता है अथवा मानपूर्वक वचन बोलता है। आकाश-तत्व में तो तूष्णीं अर्थात् गुम्म हो जाता है। जब अग्नितत्व चलता है, उस समय उष्ण वायु निकलती है, और जब जलतत्व बहता है तब शीतल वायु निकलती है, और पृथिवीतत्व बहते समय मिश्र अर्थात् दोनों तरह की निकलती है, और वायु तत्व चलते समय न शीतल न उष्ण, आकाश-तत्व के बहते समय वायु निकलती नहीं, परन्तु सूक्ष्मता से चेंटीका रोरास नाक में मालूम होता है। इस प्रकार स्थूल तत्वों के परिज्ञान के विषय में कहा, परन्तु स्थूल तत्वों की जब यथावत् पहचान हो जाय, फिर गुरु कृपा करे तो एक २ तत्व के विषय में जो पांचों तत्व चलते हैं, उन सब की पहचान होनी सरल हो जाती है।

विशेषकर जो तत्वों के अन्तर्गत अर्थात् एक तत्व के अन्तर्गत पांचो तत्वों को पहचाने तो वह योगी यथावत् कारण-कार्य की गति जान सकता है। जब तक अन्तर्गत तत्व में तत्वों को न जानेगा तो यथार्थ रीति से कार्य को भी न पहचानेगा, केवल स्वरोदय के अभिमान को तानेगा। परन्तु इन सब में भी मुख्य सगुण और निर्गुण का जानना है, सो विना गुरु चरण सेवा के सगुण निर्गुण का पाना कठिन है। इस

लिये जो जिज्ञासु इस योगाभ्यास की इच्छा करे वह प्रथम स्वर का अभ्यास कर लें। स्वर का भेद बताने में गुरु की परीक्षा भी हो जायगी, फिर योगाभ्यास का साधन करना सुगम हो जायगा। इस रीति से किञ्चित् स्वरज्ञान का वर्णन जानों, आडम्बरी के जाल को मत मानों, गुरुज्ञान को पहचानों, जिससे हो तुम्हारा कल्यानों, वाकी रीति पुस्तको को वांचकर मन में आनों, क्योंकि इस जगह लिखें तो ग्रन्थ बहुत वढ़ जाय। इस भय से मुख्य मतलब लिखाया, ग्रन्थ वढ़ जाने से पाठकगण आलस करे इस लिये न वढ़ाया, अव योगाभ्यासी को रोगादिक हों तो उसके दूर करने को चित्त चाया, जो क्रिया हम लिखावेंगे उनको सीखकर कितने ही ठगों ने अपना आडम्बर वनाया, लोगों को दिखाकर उनका माल ठग खाया, इस लिये हमने पाठकगण को केवल क्रिया करने वाले को ठग वतलाया, क्योंकि वर्त्तमान काल में कईएक, क्रिया को सीखकर भोले जीवों को दिखाते हैं, और कहते हैं कि हम योगाभ्यास करते हैं। सो हे पाठकगण! इन क्रियाओं में योगाभ्यास नहीं हैं, केवल शरीर-शुद्धि और रोग की निवृत्ति होने का प्रयोजन है। इस लिये हम यहां थोड़ी क्रियायें दिखाते हैं।

क्रियाये।

नेती १ धोती २ ब्रह्मदातन ३ गजकर्म ४ नोली ५ वस्ती ६ गणेश-क्रिया ६ वाणी ८ शङ्ख-पखाली ९ त्राटक १०। इन दश कियाओं में से कईएक क्रिया तो अन्यमत के लोग वैरागी, उदासी, दादूपन्थी आदिक करते हैं, और उन लोगों में इन क्रियाओं की प्रसिद्धि भी है। और इन क्रियाओं को देखकर लोग कहते हैं कि ये लोग समाधि लगाते हैं और पूरे योगी हैं। परन्तु देखा जाय तो इन क्रियाओं मे योग-समाधि का नाम निशान भी नहीं है; और जैनमत में इन चीजों को वर्त्तमानकाल में दुःख-गर्भित मोह-गर्भित वैराग्य वाले कहते हैं कि यह अन्य मत की क्रिया है और इसमें जलादिका आरम्भ वहुत है इस लिये न करना चाहिये। परन्तु मेरा इस जगह ऐसा कहना है कि वर्त्तमानकाल में

करने वाले ही नहीं है। क्योंकि पहले हम योग्यता वा अयोग्यता के विषय में लिख चुके हैं। दूसरा जो मनुष्य जलके अधिक खर्च के विषय में कहते हैं कि जल का बहुत खर्च होता है, उन लोगोंने अन्यमत वालों को देखा है, अपने गुरु आदि महोदयों को नहीं देखा, इस लिये वे ऐसा कहते हैं। परन्तु देखये नोली १ वस्ती २ गणेशकर्म ३ वागी ४ त्राटक ५ इनमें तो जल का काम नहीं,किन्तु वस्ती में अलवत्ता सेर डेढ़ सेर जल का काम है और बाकी क्रियाओं में भी अनुमान दो सेर जल से विशेष जल का काम नहीं, लाभ इनमें अधिक है, क्योंकि जो इन क्रियाओं को गुरुगम से सीखेगा तो दवा औषध के लिये हकीम, वैद्यादि की उसे चाहना न रहेगी, और ये क्रियायें कोई नित्यं प्रति करने की तो है ही नहीं ; जब कभी रोगादि हो तो इन क्रियाओं को करे, और कितनी एक क्रियाये नित्य करे तो रोगादि के उत्पन्न होने की सम्भावना तक नहीं होती।

क्रिया करने की रीति।

अब क्रिया करने की रीति दिखाते हैं कि क्रिया किस तरह करनी चाहिये।

प्रथम नेती प्रकार।

कच्चा सूत मुलायम सवा या डेढ़ हाथ लम्बा हो, और इक्कावन तार अथवा इक्कोत्तर तार इकट्ठे मिलावे, फिर उस लम्बे डेढ़ हाथ में से ऐंठकर आठ अङ्गुल तो बट ले और शेष खुला रखे। परन्तु दोनों सिरों की ओर से खुले हुए रखे, और बीचमें से बटे, फिर उसके ऊपर किञ्चित् मोम लगावे जिससे वह सूत्र कठिन बना रहे और मुलायम भी बना रहे। जब प्रातःकाल उसे करे तब उष्ण जल में भिगोवे और वह फिर अपनी नाक में गेरे, जब वह गले के छिद्र में पहुच जाय, उस समय मुह में हाथ डालकर उस डोरा (धागा) को धीरे २ खेंचकर मुखके बाहिर निकाले, और वह बटा हुआ तो एक हाथ में और खुला हुआ छोड़ दूसरे हाथ में पकड़े। इस तरह दोनों हाथों से धीरे धीरे ऐसे खींचे कि

जैसे छाछ (मट्ठा) बलोते हैं, इस प्रकार दोनों नासा के छिद्रों में करे, इसी का नाम नेती है। इसके करने से नेत्रों की ज्योति प्रबल होती है और यह गजक्रिया में भी काम देती है।

२ धोती।

अब धोती के विषय में कहते हैं कि अच्छी मलमल जिसके सूत में गांठे आदि न हो अथवा और कोई कपड़ा हो, परन्तु बारीक होना चाहिये; वह कपड़ा चार अङ्गुल तो चौड़ा हो और सोलह हाथ लम्बा हो। उस कपड़े को उष्ण जल से भिगोकर निचोड़ डाले, फिर उसको झड़काकर एक छोड—सिरा मुँह में देकर उसको जैसे ग्रास (कवा) निगला जाता है, वैसे निगलना शुरू करे यहां तक की चार अङ्गुल छोड़ कर सब निगल जाय। बाद इसके कुछ थोड़ासा पेट को हिलावे, परन्तु नौली आदि क्रिया न करे, क्योंकि नौली आदि क्रिया करने से आन्तों मे और नलों में फंस जाने का भय है। हां, हठयोगप्रदीपिका में ऐसा लिखा हुआ है कि नोलीचक्र करे। किंतु यह क्रिया बहुत-समझदारोंके ही लिये है न कि साधारण बुद्धि वालों के लिये ; क्योंकि बेसमझ आदमी ऐसी क्रिया में कहीं २ प्राण खो बैठते हैं और हमें यह प्रतीत होता है कि हठयोगप्रदीपिका वाले ने गुरु-परम्परा-शून्य मनःकल्पित लिख दिया है। इनकी भ्रमपूर्ण विचारणा तो मुद्रा आदि कहते समय दिखलावेंगे। हमने जो पेट हिलाना लिखा है उसका तात्पर्य यह है कि सिद्धासन से धोती को निगले और निगलते समय उत्कटासन (उकडू) से बैठकर पेट को सतर करे और नीचे को झुककर अर्ध रेचन करे और धीरे २ खींचे, उतने मे जो पेट का हिलना है उतना ही पर्याप्त है। कदाचित् खींचने में कपड़ा अटके तो, जितना मलमल या खाया हुआ मुलायम वस्त्र बाहिर है उसे फिर निगल जाय और फिर धीरे २ निकाले तो साफ निकल आवेगा। दुबारा निगलना उसी के लिये है कि जिसके पेट में अटके ; न कि उसके लिये कि जिसके अन्दर से साफ २ निकल आवे। धोती क्रिया के करने से कफ दूर होता है। जिस समय कफादि की

वृद्धि हो उस समय धोती क्रिया करनी उचित है न कि नित्यं प्रति।

३ ब्रह्मदातन।

अब तीसरी ब्रह्मदातन, इसके स्वरूप का निदर्शन करते हैं—सूत का डोरा अच्छी तरह वटकर कच्चे सूत के ऊपर लपेटे। सो ऐसा कड़ा लपेटना चाहिये कि तरपणी के डोरा जैसा हो जाय या रामस्नेही साधु जो कमर में कन्दोरा लगाते हैं वैसा कड़ा हो और फिर उसके ऊपर मोम लगावे और उस सूत के सदृश कूची को कर ले और वह वँधा हुआ सूत का डोरा सवा हाथ लम्बा होना चाहिये। उसको प्रातःकाल उष्ण पानी में भिगोकर गीला करके मुख में डाले, जब वह कागल्या के पास में आवे अर्थात् आगे को गले की और जावे तो उस समय थोड़ासा जोर देकर हाथके सहारे से नीचे को दवावे, फिर वह ब्रह्मदातन स्वयं ही नीचे को चली जाती है। और,उसको यहां तक ले जावे कि चार अङ्गुल वाकी रहे। तब उस वाकी चार अङ्गुल को हाथ की अङ्गुलियां से धीरे २ वैसे घुमावे जैसे कान में रुई फेरी जाती है, और वाद में उसे निकाल ले और साफ करके रख दें, उसे ब्रह्मदातन कहते हैं। इस ब्रह्मदातन करने का प्रयोजन यह है कि जमा हुआ कफ इससे ढीला पड़ जाता है, और ग्रन्थि आदि इसके फेरने से फूट जाती है। जिस पुरुष को ऐसे कफ की शिकायत हो वह ब्रह्मदातन के वाद धोती करे, क्योंकि ब्रह्म-दातन कफ को नहीं निकालता, कफ की गांठ को फोड देता है और धोती कफ को निकाल देती है।

४ गजकर्म।

अब गजकर्म के स्वरूप को कहते हैं—कि त्रिफला अथवा कोरा उष्ण पानी नाक से पीना शुरू करे और जितना पेट में समावे उतना पेट भर पी ले, फिर पेट को खूब हिलावे, और जिसको नौली याद हो तो नौली वेशक करे। इसके वाद जिसको वायु नीचे से उठाना याद हो वह पुरुष अर्धरेचन करके सर्व जल को वाहिर निकाल दे, किञ्चित् भी पेट

में न रखे। अथवा नीचे से वायु खींचकर निकालने की रीति न मालूम हो तो उत्कटासन (उकडू) से बैठकर दक्षिण हाथ की कूहणी घोटू (जानु-ढींचन) पर जमाकर अङ्गुठे को मुँह में गेरकर काकलल (तालु के पास लटकी हुई मांसग्रन्थि विशेष) की पूर्व तरफ की ऊपर तालवे को अङ्गुठे से मर्दन करे, अर्थात् धीरे २ मले। उस जगह एक नाड़ी—नस है, उस पर अङ्गुठा लगने से पानी वाहिर निकल आता है। यदि गुरु वतावे तो इसमें कोई परिश्रम नहीं है, और विना गुरु के अभ्यास करे तो दो या तीन दिन में उस नाड़ी को पा सकता है, क्योंकि अभ्यास भी वड़ी चीज है। जैसे हाथी सूंड से पानी पीकर मुँह से निकालता है यह भी वैसा होने से इसका नाम गजकर्म कहते हैं। जिसको सर्दी हो वह गरम पानी पीवे, वह भी अधिक गर्म न होना चाहिये, अधिक गर्म होने से खून विगड़ जाता है, और जिसको गर्मी हो अथवा खून विगड़ा हुआ हो वह वहुत ठण्डा जल हिम की जात (वर्फ की नाई) करके पीये तो चालीस दिन में उसको आराम हो जायगा, किन्तु खाने में भी पथ्य रखना आवश्यक है।

अव ऊपर वतलाई हुई जो चार क्रिया लिख चुके हैं उन्हें किसी को करते हुए देखकर मुग्ध न हो जाना चाहिये, क्योंकि वर्त्तमान मे कितने ही दुःख-गर्भित मोह-गर्भित वैराग्यवाले भोले जीवों को दिखाकर लोगों का माल ठगते हैं, लोगों में अपने को योगी वताते हैं, इन क्रियाओं में योग का लेश भी नहीं है, इस लिये हम पाठकगण को दिखाते हैं, इन ठगों के जाल से वचाते हैं।

५ नोलीचक्र।

अव नोलीचक्र का स्वरूप दिखाते हैं—पहले उत्कटासन (उकडू) वैठे, अथवा खड़ा होकर दोनों हाथ घुटनों पर रखे, अथवा नीचे से पिंडली को पकड़े, इन तीनों रीतियों में से किसी एक रीति से करे। फिर पेट को पीठ की तरफ खेंचे, जब वह पेट कमर में जाने लगे उस समय गुरु की वताई हुई जो रीति है, उससे वायु अर्थात् श्वास से उन दोनों नलों

को उठावे, कि जैसे दोनों हाथों को चौड़े करके अलग से मिलाते हैं और अञ्जलि से पानी खिंचते हैं, इस रीति से कुल पेट-भाग तो पीठ में लगा रहे, और जो नलों का भाग है सो उठ आवे, तव वीच में तो वह नल जेवड़ी के सदृश खड़े हुए होय और इधर उधर चारों ओर का जो पेट का भाग है वह पीठ से लगा हुआ रहे। जव इस प्रकार पुरुष के नल खड़े हो जाय, फिर उसमें प्राण और अपानवायु को इस तरह घुमाना चाहिये, जैसे कि कुम्हार का चाक घूमता है। यह नोलीचक्र कहलाता है। इस नोली के करने से जठराग्नि तेज होती है। और जो मलादिक पेट में कच्चा हो उसे पकाकर दस्त की राह वाहिर निकाल देता है, और आम आदि पैदा होने नहीं देता, इस नोली के होने से प्राण अपान दोनों को एक करने में भी सहायता मिलती है, वस्तिकर्म में मुख्यता इस नोली-चक्र को है, इस लिये इसको अवश्य ही करना चाहिये।

६ वस्तीकर्म।

वस्तीकर्म का स्वरूप यह है कि कूंड़े में त्रिफला का पानी अथवा उष्ण पानी भरे, परन्तु वह ज्यादा गरम न हो, गुनगुना (कवोष्ण) होय। और छः अङ्गुल की जस्त अथवा नरसल या वांस पोला पतला चिकना हो, उसकी नली वनावे, फिर उस नल को गुदा में चढ़ावे, वह चार अङ्गुल तो भीतर रक्खे और दो अङ्गुल वाहिर रखे। फिर उस कूंड़े के ऊपर वैठे और जो पहिले "नौलीकर्म" कह आये हैं, उस रीति से नलों को ऊठावे, फिर अपानवायु का ऊर्ध्व-रेचन करे अर्थात् ऊपर को खींचे। उस वायु के खींचने से जल ऊपर को चढ़ आता है; फिर उस नल को निकाल दे, और दो मिनट के वाद नौलीचक्र फिरावे। फिर कुछ देर के वाद प्राण वायु का जोर देकर अपान वायु से अधोरेचन करे, और उस जल को गुदा के रास्ते से निकाल दे। उस जल में जो कुछ पेट में मल आदि है, वह जल के साथ तमाम वाहिर निकल जाता है। कदाचित् थोड़ा वहुत जल पेट में रह जाय तो मयूरासन करे, फिर अधोरेचन

करने से बिलकुल जल निकल जाता है। इस बस्तीकर्म करने का तात्पर्य्य यही है, कि प्राण और अपान को एकत्र करने में सहायता मिले। विना पेट साफ किये प्राण-अपान की खबर ही नहीं पड़ती। इस लिये शरीर में मल आदि विगड़ा हो तो अवश्य ही इसको करे।

७ गणेशक्रिया।

यह गणेशक्रिया इस तरह की जाती है, कि जिस वक्त पाखाना को जाय उस वक्त मल अच्छी तरह से निकल जाय तब मध्यमा (बीच की) अथवा अनामिका, इन दोनों अङ्गुलियों में से एक पर वस्त्र का टुकड़ा रखकर उस अङ्गुली को गुदा में डालकर चारों तरफ फिरावे। इस रीति से दो तीन वार करने से गणेशचक्र साफ हो जाता है, चक्र के ऊपर मल नहीं रहता है। इस क्रिया के करने से गुदा की बीमारी नहीं होती है; और यह चक्र का ध्यान करने में सहायता देता है।

८ वागीकर्म।

इस वागीकर्म का स्वरूप यह है कि जिस वक्त मनुष्य आहार अर्थात् भोजन कर ले, उसके एक घण्टा या दो घण्टे के बाद ऐसा जाने कि आहार का रस तो मेरे शरीर में परिणत हो गया होगा अर्थात् पच गया होगा और फोकस बाकी रह गया होगा, उस वक्त गजक्रिया में जो रीति कही गई है, कि नीचे से वायु खींचकर या मुँह में उसी तरह अंगूठा डाल करके, उसको मुँह की राह निकालकर फेंक दें; ऐसा जो करे, उसका नाम वागीकर्म है। इस वागीकर्म के करने से पाखाना आदि जाने का काम नहीं रहता और स्वस्थ चित्त, अर्थात् पेटमें भार न रहने से ध्यान ठीक होता है। परन्तु यह वागीकर्म उसके वास्ते है कि जिन पुरुषों का दिमाग़ अन्न खाकर ठीक नही रह सकता, और पेट भरकर भोजन करते हैं, उसी पुरुष को वागीकर्म करना चाहिये, न कि थोड़ा खाने वाले को; क्योंकि वह जो कि थोड़ा ही खाने से सन्तुष्ट है, उसको तो किसी तरह की हानि नहीं, किन्तु जिनको विना पूर्ण भोजन किये चित्त की चञ्चलता ही रहती है उनके वास्ते वागीकर्म अच्छा है।

९ शङ्खपखाली।

शङ्खपखाली नाम उसका है, कि जैसे शंख में ऊपर से तो पानी भरता जाय और नीचे से निकलता जाय, वैसे ही मुख से पानी पीता जाय और गुदा से निकलता चला जाय। इस शङ्खपखाली को वह मनुष्य कर सकता है, कि जिसको नौलीचक्र अच्छी तरह से याद हो; क्योंकि जिस समय उसको मुँह से जल पीना पड़ता है, उसी वक्त नोलीचक्र फिराने से अपानवायु को अधोरेचन अर्थात् नीचे को निकाल करके उस जल को गुदा की राह से निकालता चला जाता है, इस लिये इसको शङ्खपखाली कहते हैं। इस शङ्खपखाली के करने वाले लोग केवल ठग और जड़ समाधि लगाने वाले होते हैं। इसके विषय में विशेष आगे बतलाया जायगा।

१० त्राटक-वर्णन।

इस त्राटक का स्वरूप यह है, कि दोनों नेत्रों की दृष्टिको किसी सूक्ष्म वस्तु पर स्थापन करे, और पलकों को न हिलाकर टकटकी लगाकर देखे, उस वस्तु से दूसरी जगह पर दृष्टि न जाने दे अथवा आंखों की पुतली को घुमाकर भों (भ्रू) के बाल को देखे, उनके ऊपर दृष्टि ऐसी ठहरावे, कि आँख और नाक दोनों में से जल गिरने लगे। इसका नाम त्राटक है। इसके करने वाले को निद्रा, आलस्य कम होता है, और नेत्रों की ज्योति विशेष बढ़ती है; इस लिये इसको हमेशा करे। इस रीति से यह दस क्रियाएं बतलाई हैं।

इन दस में से नोली, त्राटक, गणेशक्रिया, और बागी इन चारो में तो जल का खर्च नहीं है और बाकी की छः क्रियाओं में जल का खर्च होता है। सो गुरु से इन दस बातों को सीखे और सीखने के बाद कुछ दिन तक अभ्यास करे। जब अभ्यास ठीक हो जाय तब छोड़ दें, और फिर काम पड़ने पर किया करे। उसमें भी शङ्खपखाली क्रिया केवल जानने मात्र हैं, उसका कुछ फल नहीं। बागीकर्म को प्रतिदिन करना उसका काम है, कि जिसको पूरा आहार किये बिना न सरे। जो मनुष्य

परिमित भोजन करता है, उसको कोई जरूरत नहीं। यदि काम पड़े तो कर ले। और, गणेशक्रिया भी प्रतिदिन करना उसी के वास्ते है, कि जिसका मल अच्छी तरह से बंधा हुआ नहीं है और गुदा में लिपट जाता है। परन्तु जिसको दस्त वन्दूक की गोली की तरह लगे, और गुदा को लेपमात्र भी न लगे ; उसको गणेश क्रिया करने की कोई आवश्यकता नही। नोली और त्राटक सदा ही करे,क्योंकि नौली कुंभक-मुद्रा, प्राणायाम आदि में विशेष सहायता देने वाली है। इस लिये उसे अवश्य ही करे। वागी और त्राटक जब इच्छा होय तब करे ; परन्तु शेष क्रियाएँ भोजन करने के पहिले करे; भोजन करने के बाद करेगा तो नाना प्रकार के रोगों की उत्पत्ति हो जायगी।

अलबत्त, भोजन करने के दो प्रहर (पहर) अथवा डेढ़ पहर के बाद जो नोलीचक्र करेगा उसको कुछ हानि न होगी। इस रीति से यह दसो क्रियाओं का वर्णन कर चुके। इन दसों क्रियाओं में धर्म का लेश भी नहीं है। जो कोई इनमें धर्म बतलावेगा, वह महामूर्ख,धर्म ठग, भ्रष्टाचारी और दुर्गति में जाने वाला है। हां, यह परम्परा से धर्म का साधन जो शरीर उसमे रोगादिक की उत्पत्ति को दूर करने के लिये बिना ही वैद्य, हकीम अथवा धन-खर्च,रोग को निवारण करने का हेतु है। इस लिये गुरुपरंपरा से यथावत् याद हो तो रोगादि दूर करने का कारण है, न कि धर्म का।

प्रश्न:—आपने यह ग्रन्थ धर्म साधन के लिये रचा है या नहीं? यदि नहीं तो आपकी धर्म की प्रतिज्ञा करना ही वृथा हुआ। यदि कहो कि धर्म के वास्ते है, तो तुम ऊपर लिखी बातों में धर्म कहते ही नहीं हो ; तब व्यर्थ क्यों परिश्रम उठाया और इतना बड़ा यह ग्रन्थ क्यो लिखा? यह लिखना हमारी समझ में नहीं आया, इसी लिये हमने यह प्रश्न आपके सामने उपस्थित किया।

उत्तर—हे देवानुप्रिय, तूने जो प्रश्न किया है इससे तेरी बुद्धि हमने पाई, सर्वज्ञों के मत को न समझा रे भाई, जब ऐसा प्रश्न करने को तेरी इच्छा आई, इस लिये इसका कुछ अभिप्राय तुमको देते हैं सुनाई। जो

तुमने अपने प्रश्न में हमारी प्रतिज्ञा की हानि बतलाई, सो हमारी प्रतिज्ञा की हानि किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि हमने इस ग्रन्थ का प्रारम्भ त्रिभावी आत्मधर्म को आविर्भाव करने के लिये किया है। तो इस धर्म-साधन में परम्परा से भी जो उपादान या निमित्त कारण होंगे वे भी कहने ही पड़ेंगे। इस लिये परम्परा से शरीरादि का निमित्त कारण वह भी है। कारण-कार्य की चर्चा में ग्रन्थ बढ़ जाने के भय से यहां उसको नहीं लिखाते हैं। विशेष देखना हो तो हमारे रचे हुए "द्रव्य अनुभव रत्नाकर" में देखो। इस रीति से हमारी प्रतिज्ञा भङ्ग न हुई। दूसरा और भी सुनो कि हमने जैन धर्म का अङ्गीकार किया तो जिन नाम उसी का है, कि जिसने रागादिक को जीता है। जिसने रागादिक को जीता है वही सर्वज्ञ है, सर्वज्ञ कहते हैं सब को जानने वाले को, इस लिये जो सर्व जानने वाला है, उससे कुछ छिपा नहीं है, तो फिर क्योंकर किसी की बात बाक़ी रक्खेगा? और जो यह समझ कर बाकी रखेगा कि अधिक लिखने से मेरे को क्या लाभ है, तो उसके जिज्ञासु दूसरे के सामने बैठकर क्योंकर उसके घर की बात कहेगा? और जब तक उसके घर की बात न कहेगा तो उसको अपनी बात का अभिमान होगा, और वह मनुष्य कह देगा, कि तुम हमारे जिज्ञासु बनो, तब ये बातें मालूम हों। तब तो सर्वज्ञ-मतावलम्बी किस किस मतावलम्बी को जिज्ञासा करके पूछेगा? इस लिये हमको सर्व मतावलम्बियों का वर्णन करना ठीक है, क्योंकि जिसमें सर्वज्ञ मतावलम्बी जिज्ञासु को किसी मतवाले से पूछने की जरूरत न रहे, बल्कि जिस विषय का वह जिकर करे उसी विषय में से विशेष करके उसके घर की चीज़ का वर्णन करे, जिससे अन्यमतावलम्बी सुनकर चुप हो जाय, और कुछ बढ़कर विशेष बात न कर सके। इस हेतु से जो हमने लिखा है, वह व्यर्थ नहीं है; किन्तु सार्थक है। इस रीति से उत्तर जानों, गुलाम को पहचानों, सर्वज्ञ के मतको हृदय में आनों, झूठे प्रश्न कर हृदय को मत तानों। अस्तु।

बन्ध के प्रकार।

अब बन्ध का वर्णन करते हैं,क्योंकि जो पहले ही बन्ध का वर्णन न करें तो कुम्भक-मुद्रा-प्राणायाम आदि का वर्णन करना व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि विना बन्ध के लगाये कुंभक आदि कोई क्रिया नहीं होती। इस लिये बन्ध का पृथक् कहना आवश्यक है। वह बन्ध चार प्रकार से होता है १ मूलबन्ध, २ जालन्धरबन्ध, ३ उड्डियानबन्ध, ४ जिह्वाबन्ध।

१ मूलबन्ध।

इस मूलबन्ध की विधि यह है, कि एड़ी से योनिस्थान को दबाकर गुदाको संकोचित करे। फिर अपानवायु जो कि नीचे को जाने वाली है, उसको ऊपर चढ़ावे, उसका नाम मूलबन्ध है। अथवा एड़ी को गुदा के नीचे रखे, या एक गेंद बनाकर गुदा के नीचे रखे, और अपान-वायु का ऊर्ध्वगमन अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी में प्राप्त करे; इसी को मूल-बन्ध कहते हैं।

मूलबन्ध के गुण।

अधोगति (नीचे को जाने वाली) अपानवायु को तो ऊपर करे और दूसरी जो प्राणवायु ऊर्ध्वगमनी (ऊपर जाने वाली) है उसे नीचे करे। इन दोनों वायुओं को मिलाकर एक करे। उस एकता के होने से वायु का सुषुम्ना (नाड़ी) में प्रवेश होता है। उस वक्त जो करने वाले पुरुष हैं उनको नाद की प्रतीति होती है। उस नाद का वर्णन आगे करेंगे। दूसरा, प्राण और अपान के एक हो जाने से वायु विशेषकर पङ्खा के समान चलती है। इस लिये उससे जठराग्नि के कुण्ड के ऊपर जो मल रूपी छार (राख) है, वह उड़ जाती है, और उसके उड़ जाने से जठराग्नि तेज होती है। उस तेजी की गरमी से कुण्डलिनी अर्थात् बालरण्डा चमककर खड़ी हो जाती है। उसके चमकने से ही योगियों के योग सिद्ध हो जाते हैं। इत्यादि जो अनेक गुण इसमें हैं वे लिखे नहीं जा सकते। जो मनुष्य करते हैं वे योगीश्वर होते हुए आनन्द लूटते हैं,

जिज्ञासु को योग्य जानकर उपदेश भी देते हैं, आत्मा को अपने आनन्द रूपी रस में ही भिगोते हैं।

२ जालन्धर वन्ध।

इस जालन्धर-वन्ध का स्वरूप यह है, कि कण्ठ को नीचे झुकाकर हृदय से चार अंगुल अलग ठोड़ी को यत्न से दृढ़ स्थापित करे, इसका नाम जालन्धरवन्ध है। परन्तु इसमें पद्मासन लगावे। जालन्धर पद का अर्थ यह है, कि नाड़ियों का जाल (समूह) बांधे, और नीचे को गमन करे ऐसा जो कपाल का छिद्र उसको वान्धे। जालन्धरवन्ध के करने से कण्ठ के सर्व रोग नष्ट हो जाते हैं। फिर कण्ठ के सङ्कोचित करने से दोनों नाड़ियों (इडा और पिङ्गला) का स्तम्भन करे। इसी का नाम जालन्धर-वन्ध है।

३ उड़ियान वन्ध।

इस उड़ियान वन्ध की विधि कहने के पहिले उड़ियान शब्द का अर्थ करते हैं, कि जिस हेतु से अथवा जिस वन्ध करके रोकी हुई वायु सुषुम्ना नाड़ी में उड़ जाय अर्थात् प्रवेश कर जाय। सुषुम्ना के जोर से आकाशमार्ग में प्रवेश कर सकता है, इस वास्ते इसका नाम उड़ियान है। महान् खग अर्थात् आकाश में निकलकर प्राण जिसमें वन्ध करे, और जिसमे श्रम न हो और सुषुम्णा पक्षी की तरह गति करे, उसका नाम उड़ियान-वन्ध है।

उड़ियान वन्ध की रीति।

उड़ियानवन्ध की रीति यह है कि नाभि के ऊपर का भाग और नीचे का भाग इन दोनों को उदर समेत पीछे को खींचे, और पीठ में लग जाय ऐसा खींचे; इसका नाम उड़ियानवन्ध है। नाभि के ऊपर-नीचे के भागों को यत्न-पूर्वक पीछे को लगावे, अर्थात् पीठ की तरफ दोनों भागों को ले जाय। इस उड़ियानवन्ध का अभ्यास रोटी खाने के पहले वारम्वार करे तो छः महीने में इसके गुण आपसे आप प्रकट हो जाते हैं, अधिक कहने की कोई आवश्यकता नहीं है।

४ जिह्वाबन्ध।

जिह्वाबन्ध की विधि यह है, कि जालन्धरबन्ध अर्थात् कण्ठ को झुकाकर ठोड़ी को हृदय में स्थापित करें और दोनों राजदन्तों (मुख के सामने के ऊपर के जो दांत हैं उनके) पर जिह्वा को काढ़कर लगावे उसी का नाम जिह्वाबन्ध है। इस जिह्वाबन्ध से एक सुषुम्ना नाड़ी रहित जो सम्पूर्ण नाड़ियां हैं उनके ऊपर वायु की गति रुक जाती है, इस लिये इसको कोई जालन्धरबन्ध भी कहते हैं। जाल नाम नसों का है उनका जो बांधना उसी का नाम जालन्धर है। यह ऊपर लिखी हुई बन्धों की रीति के साथ जो पुरुष प्राणायाम करेगा, उसी को हठयोग की प्राप्ति होगी और हठयोग से ही राजयोग की प्राप्ति होती है। इस वास्ते आत्मार्थियों को इसमें भी परिश्रम करना चाहिये। परन्तु इन बन्धों मे गुरु की अपेक्षा जरूर है, क्योंकि गुरु यथावत् रीति करके दिखावे तो जिज्ञासु असल भेद पावे। जिह्वा-बन्ध, खेचरीमुद्रा से सम्बन्ध रखता है, वह खेचरीमुद्रा तो आगे दिखलावेंगे। उस खेचरीमुद्रा को भी कितने ही लोग जालन्धर-बन्ध कहते हैं।

कुम्भकों के नाम।

कुम्भकों के नाम ये हैं;—१ सूर्यभेदन, २ उज्जाई, ३ सीत्कारी, ४ सीतली, ५ भस्त्रिका, ६ भ्रामरी, ७ मूर्छा, और ८ प्लावनी।

१ सूर्यभेदन का वर्णन।

सूर्यभेदन की रीति यह है कि मूलबन्ध करके पूरक के अन्त में शीघ्र ही जालन्धरबन्ध लगावे। कुम्भक के अन्त में और रेचन की आदि में उड्डियानबन्ध लगावे।

इस रीति से सूर्यस्वर से प्राणायाम करे। जो बन्ध के साथ प्राणायाम करेगा उसको वायु-प्रकोप कभी नहीं होगा। और, इसमें इतना विशेष है, कि पूरक शीघ्रता से भी करे तो कुछ हर्ज नहीं, परन्तु रेचन धीरे से करे। यदि शीघ्रता करेगा तो कुम्भक की रुकी हुई वायु शीघ्रता होने से रोमादिक भेद कर निकलेगी और वह रोमादिक द्वारा

निकलने से शरीर में नानाप्रकार के रोग उत्पन्न कर देती है। क्योंकि देखो जैसे वन्धा हुआ हाथी मद में चढ़ जाय, और उसको एक सङ्ग वन्धनों से खोलो तो नानाप्रकार के उपद्रव करता है ; वैसे ही कुम्भक में वन्धी हुई वायु शीघ्रता से रेचन द्वारा वहार होने से उपद्रव करती है। इस लिये रेचन करते समय आदि से लेकर अन्त तक धीरज से करे। सूर्य-भेदन इसका नाम इसी लिये है, कि सूर्य से पूरक और चन्द्र से रेचन किया जाता है। इस कुम्भक के करने वाले पुरुष के मस्तक की शुद्धि होती है, उदर की शुद्धि होती है, तथा वात रोगादिक की उत्पत्ति नहीं होती। अर्थात् चौरासी प्रकार की वायु से जो रोगादिक होते हैं उनकी निवृत्ति होती है। और, चन्द्रस्वर से इसको करे तो चन्द्रभेदन हो जाता है, और चन्द्रभेदी से नेत्रों में ठण्डक होती है ; और गरमी आदि भी दूर हो जाती है। परन्तु यह कुम्भक किसी शास्त्रकार ने नहीं लिखा है, इस लिये इसका भेद गुरुगम से जानों, विकल्प कुछ दिल में न आनो, विना गुरुगम के जो करता है वह होता है दिवानो।

२ उज्जाई-कुम्भक का वर्णन।

इसकी विधि यह है कि मुख वन्द करके पवन को कण्ठ से ले कर हृदय पर्य्यन्त शब्द सहित इडा और पिङ्गला नाड़ी करके शनैःशनैः खींचकर पूरक करे, फिर केश और नख पर्य्यन्त कुम्भक करे, पीछे डायी (वाम) नासिका से रेचन करे। इस कुम्भक के करने से कण्ठ के कफादिक के रोग दूर होते हैं ; और जठराग्नि का दीपन होता है, और नाड़ियों में जो जलादिक की व्यथा हो उसको दूर करता है, और धातु आदि की पुष्टि करता है। परन्तु शब्दादिक के साथ पूरक करना, इस भेद को तो सिवाय गुरु के दूसरा कोई कुछ नहीं कह सकता, क्योंकि ग्रन्थकार ने तो शब्द लिख दिया, इस लिये हमने गुरु का नाम बताया, विना खोजे किसीने न पाया, पुस्तकों में लिखा देख जगत् को भरमाया, नगुरों के हाथ योग किञ्चित् भी न आया।

३ सीत्कारी कुम्भक।

मुख के अर्थात् होठों के बीच में जिह्वा लगाकर शीत करके पवन का मुख से पूरक करे, फिर दोनों नासिका के छिद्रों से शनैः शनैः रेचन करे, परन्तु मुख से वायु को न निकलने दे। अभ्यास करने के पीछे भी मुख से वायु को न निकाले, क्योंकि मुख से वायु निकलने से बल की हानि होती है। इसमें कुम्भक नही कहा तब भी कुम्भक अवश्य ही करे; इसके करने वाले पुरुष के रूप; लावण्य और शरीर की पुष्टि होती है; क्षुधा तृषा आदि भी कम लगते हैं; निद्रा और आलस्य भी नही होता है।

४ सीतली मुद्रा।

इसका विधान इस प्रकार है कि पक्षी की नीचे की चोंच के समान अपनी जिह्वा को होठों के बाहिर निकालकर वायु को खींचकर पूरक करे। और फिर मुख बन्द करके कुम्भक करे। फिर शनैः शनैः नासिका के छिद्रों से वायु का रेचन करे। इस कुम्भक करने वाले को गुल्म और प्लीहा अर्थात् तापतिल्ली और पित्त ज्वरादिक रोग नहीं होते हैं। यह मुद्रा भोजन या जल की इच्छा को बढ़ाने वाली है। और सर्प के विष की अथवा अन्य विष अर्थात् जहर की शान्ति करने वाली है।

५ भस्त्रिका कुम्भक।

भस्त्रिका नाम धौंकनी का है। इसका विधान यह है कि सतर (सीधा) बैठकर दोनों हाथ दोनों जङ्घाओं के ऊपर रखे और मुख अर्थात् होठों को ऐसा मिलावे कि जिससे हवा होठों में होकर न निकले; फिर नासिका के दोनों छिद्रों से पूरक करे, फिर रेचन करे, इसी प्रकार बारम्बार रेचन और पूरक शीघ्रता के साथ करे, और बीच में दम न लेने पावे। जैसे लुहार लोहे को गरम करता है, और जब लोहा ताव पर आता है उस वक्त अग्नि को इस कदर धौंकता है, कि बीच में दम न ले। वैसे ही जब तक शरीर में परिश्रम होकर थकावट न मालूम होवे तब तक पूरक रेचक करे। जब थक जावे तब सूर्यस्वर से पूरक

करे फिर कुम्भक करके बन्धपूर्वक चन्द्रनाड़ी से रेचन करे। परन्तु इस जगह कुम्भक करते समय जीमने (दक्षिण) हाथ के अंगूठे से सीधा नासिका का दक्षिण छिद्र बन्द करे, और अनामिका और कनिष्ठिका अङ्गुली से नासिका का वाम छिद्र बन्द करे। कुम्भक पूर्ण होने के बाद चन्द्रस्वर से रेचन करे, फिर चन्द्रस्वर से ही रेचक और पूरक बारम्बार करे। पिछली रीति के अनुसार पूरक रेचक करते करते थकने लगे तो डावे (वाम) स्वर से पूरक करे और अनामिका और कनिष्ठिका अंगुली से शीघ्र ही बन्द कर ले। कुम्भक पूर्ण होने के पीछे बन्धपूर्वक अंगूठा हटाकर जीमणे (दक्षिण) स्वर से रेचन करे। फिर उस जीमणी (दक्षिण) नासिका से बारम्बार पहिली तरह से रेचक-पूरक करे। जब थकने लगे तब पूरक करे, अंगूठे से छिद्र को बन्द कर ले, और ऊपर लिखी रीति से फिर रेचन करे। इस रीति से इस कुम्भक का वर्णन किया, गुरु बिन इसका भेद न लिया, पुस्तकों में सब ने लिख दिया, हमने भी इसको विशेष कर खोल दिया।

इसका गुण यह है कि वात, पित्त, कफ इन तीनों प्रकार के रोगों को दूर करे, और तीनों को समान रखे, और जठराग्नि को दीप्त करे, और कुण्डली नाड़ी सोती हुई को शीघ्र ही जगा दे। जो पुरुष इसको बारम्बार करेगा, उसको नानाप्रकार की सिद्धियां, और शीघ्रता से प्राणायाम की सिद्धि होगी। शरीर में जो अपानादि वायु हैं उनको बाहिर फेंकना उसका नाम रेचक है, और भीतर को ले जाना उसका नाम पूरक है। और यथाशक्ति जो प्राणों को रोकना उसका नाम कुम्भक है।

इन कुम्भकों के करने से कुण्डली जो आधारशक्ति वह जागृत होती है।

६ भ्रामरी कुम्भक।

इस भ्रामरी कुम्भक का विधान यह है कि (भ्रमरी) चौइन्द्री (चतुरिन्द्रिय) होती है। वह तेइन्द्रिय लट को लाकर अपने घर में बन्दकर शब्द सुनाती है। इस शब्द के सुनने से वह लट भ्रमरी हो जाती है, ऐसा

श्रीआनन्दघनजी महाराज कहते हैं। वे इक्कीसवें श्रीनमिनाथ भगवान् के स्तवन की सातवीं गाथा में लिखते हैं कि;—

"जिन स्वरूप थई जिन आराधे, वैसे ही जिनवर होवेरे।
भृङ्गी इलिका ने चटकावे, ते भृङ्गी जग जोवेरे ॥७॥"

जैसा उस भ्रमरी का शब्द है, वैसे ही शब्द-सहित पूरक करे, फिर कुम्भक करे, फिर रेचक करे, परन्तु भ्रमरीरूप गुञ्जार शब्द को तीनों जगह साथ में रखे। इस रीति की कुम्भक करने से नाद की खबर जल्दी से हो जाती है। जब नाद की खबर यथावत् हुई, तब चित्त नाद में लगा हुआ शीघ्रता से समाधि को प्राप्त होगा।

७ मूर्छा कुम्भक।

इस मूर्छा शब्द का अर्थ बेहोश, अर्थात् मुर्दे की भांति हो जाना है, और कुछ सुरत अर्थात् चेतना नही रहती, जिसको लोकमें गश भी कहते है। इसकी विधि यह है कि गले में जो नसों का जाल है, उस जाल की नाड़ीं, हंसली के ऊपर और गले की मणिया के नीचे अर्थात् दोनों के बीच में है, उसके दबाने से मूर्छा आ जाती है इसका नाम मूर्छा-कुम्भक है। इसमें पूरक रेचक करने का कोई काम नहीं। यह कुम्भक जड़ समाधि में काम आती हैं। सो इसका असली भेद तो गुरु नस दबाकर बतावे तब मालूम होगा। इस कुम्भक में कुछ सिद्धि नही। परन्तु इसका भेद नहीं लिखते तो पाठकगणों को ऐसा सन्देह होता, कि इस ग्रन्थकर्ता को सम्पूर्ण कुम्भक मालूम न था। इस लिये हमने इसको लिखा हैं। इसमें ज्ञानादिक का किञ्चित् लेश भी न आया, हमने भी बिना मन से पाठकगणों को दिखाया।

८ प्लावनी कुम्भक।

प्लावनी का अर्थ यह है कि जैसे जल के ऊपर लोग तैरते हैं, वैसे ही वायु शरीर में रोककर ऐसा कुम्भक करे, कि जिससे शरीर हलका होकर आपसे आप ऊपर को ऊठने लगे और किसी तरह का परिश्रम न पड़े। इस कुम्भक के करने से आकाशादि में चलने की शक्ति होती है।

और इसी कुम्भक से केले की पालकी में बैठकर श्रीस्वामी शङ्कराचार्य्य कुमारपाल राजा के पास गये थे। और कुमारपाल राजा को जैनमत से भ्रष्ट करना विचारा था। फिर श्री हेमाचन्द्राचार्य्य ने इसी कुम्भक से अधर होकर व्याख्यान उच्चारा, कुमारपाल को सम्हाला, शङ्कराचार्य को वहां से निवारा, इन रीतियों को न होने से जैनमत में हो गया अन्धियारा, दुःख-गर्भित मोह-गर्भित, वैराग्यवालों को माल खाने का मिल गया सहारा, गुरु-विनय को हटाय मन-कल्पना को चलाय किया पन्थ न्यारा न्यारा।

इस रीति से आठ कुम्भक कही, चन्द्रभेदादि नवमी कुम्भक भी हो गई सही, किञ्चित् गुरुकृपा से हमने अनुभव में बात लही। परन्तु 'हठ-प्रदीपिका' में पिछले तीनों कुम्भकों की जो रीति है, वह भी दिखाते हैं, कि जो पूरक वेग से करे तो भ्रमर की तरह नाद होता है, इस लिये पूरक वेग से करे, जिसमें भ्रमर की तरह नाद होय। उस रीति से नाद करता हुआ पूरक करे। फिर भ्रमरी कासा नाद होय, जिसमें मन्द २ रीति से रेचन करे, वह रेचन पूरक की विशेषता है। और पूरक पीछे रेचक तो भ्रमरी की तरह स्वभाव-सिद्ध है। इस वास्ते विशेष नहीं लिखा है। इस रीति से अभ्यास करे। इसके आनन्द को योगीश्वर भी कह नहीं सकते।

अब मूर्छा कहते हैं कि पूरक के अन्त में जालन्धरबन्ध बान्धक शनैः २ रेचन करे। इस कुम्भक का नाम मूर्छा है जो मन को मुर्च्छित करता है। प्लावनी कुम्भक यह है कि शरीर के भीतर भरी जो अधिक वायु, उस करके चारों तरफ से भर लिया है उदर जिसने, वह पुरुष अगाध जल में कमल पत्र के समान गमन करता है। यह रीति तीनों कुम्भकों की स्वयं आत्माराम योगी की बनाई हुई 'हठप्रदीपिका' में लिखी है।

मुद्राओं का वर्णन।

अब इसके आगे मुद्राओं का वर्णन करते हैं, सो पहिले जो 'हठप्रदी-

पिकादि ग्रन्थों में उनके नाम लिखे हैं उस रीति से यहां नाम दिखाते हैं ;—१ महामुद्रा, २ महाबन्ध, ३ महावेध, ४ खेचरी, ५ उड्डियान, ६ मूलबन्ध, ७ जालन्धर बन्ध, ८ विपरीतकरणी, ९ वज्रोली, १० शक्ति-चालन ।

इस तरह हठप्रदीपिका और गोरक्षपद्धति आदि ग्रन्थों में उड्डियान-बन्ध, मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध, इन तीनों को भी मुद्राओ में ही गिना है, सो इन तीनों बन्धों की रीति ऊपर लिख चुके हैं। इन मुद्राओं में कई मुद्रा निष्प्रयोजन भी हैं। इस वास्ते जो मुद्रा सप्रयोजन हैं उनको दिखाकर फिर अपनी भी युक्ति उसमें कहेंगे। इस लिये पाठकगण ध्यान रखें कि पीछे लिखी मुद्रा उनके ग्रन्थानुसार हैं।

१ महामुद्रा वर्णन।

इस महामुद्रा की विधि यह है कि वाम (बायां) पाद की एड़ी को योनि-स्थान में लगावे (योनि-स्थान का मतलब पहिले दिखा चुके हैं सो वहां से देखो) और दक्षिण चरण को लम्बा करके फैलावे, और एड़ी जमीन पर लगावे, और अगूठा, अंगुलियों को डंडे की भांति ऊँची खड़ी करे, फिर जीमने (दक्षिण) हाथ के अंगूठा और तर्जनी अंगुली से जीमने पग के अंगूठे को पकड़े, और बन्ध-पूर्वक सुषुम्ना नाड़ी में धारण करे, और मूलबन्ध भी बाँध करके योनिस्थान को पीड़न करे। फिर जिह्वा-बन्ध लगावे। जो कुण्डली सर्प के आकार सी डेढ़ी हो रही है ; वह, जैसे डण्डे के प्रहार से टेढ़ेपन को छोड़कर सर्पिणी सरल हो जाती है, वैसे ही, उस समय शीघ्र ही सरल हो जाती है। जब वह कुण्डली सरल हो गई तब कुण्डली के बोध से सुषुम्ना में प्राण का प्रवेश होता है। उस समय इडा और पिङ्गला को सहायता देने वाला जो प्राण है वह सहायता देने में समर्थ नहीं रहता। इस लिये इड़ा पिङ्गला यह दोनों नाड़ी मरण-प्राप्त होती है अर्थात् घर छोड़कर भाग जाती हैं। उस समय के आनन्द को तो उसके करने वाले जानते हैं, न कि लिखने, लिखाने या बांचने वाले। जो इस आनन्द को प्राप्त करेंगे, वे ही इनका अभ्यास करेंगे,

उनको करने वालों का ही मोह, राग, द्वेषादि मिटेगा, आत्मा में उन्हीं का दिल डटेगा, ज्ञान, दर्शन, चारित्र तीनों का मेल सटेगा, जब कर्मों के पुद्गल आत्मा से हटेगा। देखो, जिन्होंने इस आनन्द को पाया, उन्होंने ही पदोंमें गाया, हमको भी श्रीआनन्दघनजी का पद याद आया, इस जगह लिखाने का अवसर पाया, सब पाठकगणों को दिखाया ,—

"इडा पिङ्गला घर तज भागी, सुषुम्ना का घर वासी।
ब्रह्मरन्ध्र मध्यासन पूरो, बाबा अनहद नाद बजासी ॥१॥"

ऐसा श्रीआनन्दघनजी का फरमाना (कथन) है। इससे प्रतीत होता है कि वे इस मुद्रा के भी अभ्यासी थे। जिन्होंने ऐसा अभ्यास किया है, वे कब किसी के जाल में फसते हैं? आत्मा को भजते हैं, राग-द्वेष को तजते हैं, गच्छादिक के मद में नही धसते हैं। इसी लिये श्रीअभिनन्दन भगवान् के स्तवन मे श्रीआनन्दघनजी महाराज कह गये हैं कि ;—

"दरिशण २ रटतो जो फिरूं, तो रण-रोझ समान।
जेहने पिपासा हो अमृतपाननी, किम भाँजे विषपान ॥अभि०॥"

इसका अर्थ ज्ञानसागरजी ने गुजराती भाषा में किया है सो उसी के अनुसार यहां हिन्दी भाषा में कुछ दिखाते हैं ,—

"हे अभिनन्दन प्रभु! आपके दर्शन की, पूर्वोक्त कारण से अप्राप्ति समझकर, मात्र दार्शनिक अर्थात् बौद्ध, न्याय, वेदान्त, सांख्या, वैशेषिक, मीमांसा आदि मतावलम्बियों से पूछूँ तो वे एकान्त पक्ष ग्रहण करके आपका दर्शन यथावत् कह न सकेंगे। इस लिये उनकी उपेक्षा करके जो वर्तमान काल में स्याद्वाद-शैली के जानकार का नाम धराने वाले हैं, उनसे पूछूँ कि अहो उपकारियों! शुद्ध आत्मिक स्वरूपानुयायी, परम पद की प्राप्ति होने का हेतु ऐसा जो दर्शन है और वह जिस रीति से मेरे हाथ चढ़े अर्थात् प्राप्त हो ऐसी रीति बताओ। इस रीति से यदि इन जैनधर्म के मतभेदियों में पूछता हुआ भ्रमण करूँ अर्थात् जैनधर्म के गच्छ आम्नाय, अथवा दिगम्बरी, श्वेताम्बरी, सम्वेगी, ढूंढ़िया, तेरहपन्थी

इत्यादि फिरके वालो से बारम्बार पूछता भटकूं तो हे प्रभो! आपका दर्शन इस रीति से हाथ न लगे, किन्तु उलटा वे देखकर ऐसा कहेंगे कि यह आकार से तो मनुष्य है परन्तु जङ्गली रोझके सरीखा है अर्थात् मूर्ख शिरोमणि है। तिस पर भी यदि कोई ऊपर लिखे हुए जैन-मत-भेदियों मे उसकी शोध करे, तो कोई एक महावञ्चक उत्सर्ग, अपवाद, कारण, कार्य, नय के वहाने से ऐसी वात सुनावे कि जिससे जैनधर्म-प्राप्ति तो दूर रही, उलटे उन गप्पों को सुनकर जैनधर्म की श्रद्धा से भ्रष्ट होकर अन्य मत को अङ्गीकार करे और जैनमत की हंसी करने को लग जाय। इस लिये हे सुमते! जिस चीज की मुझे चाहना है, सो तो मिले नही, परन्तु जिस चीज को मैं नहीं चाहता, वह कदाग्रह रूप अज्ञान मेरी श्रद्धा में प्रवेश कर जाय। इस लिये इन मत-भेदियों से पूछने की इच्छा न रही, क्योंकि जिस पुरुष को अमृत की प्यास होय, और उसको जहर दिया जाय तो उस अमृत-पान को चाहने वाले की तृषा कैसे मिट सकती है?"

इस रीति से यदि आगे भी आत्मार्थी पुरुषो को इन जैनधर्म के मत-भेदियों ने आदर नहीं दिया, आत्मा का अर्थ भी नही किया, तो इस वर्तमान काल में जो उस काल से न्यून है, कौन किसको मानता है? दुःख-गर्भित मोह-गर्भित वैराग्य वाला अपनी विद्वत्ता को तानता है, वह अपने को पूजाने को ही जानता है। अस्तु।

महामुद्रा के अभ्यास का विधान।

इसकी विधि यह है कि चन्द्र अङ्ग अर्थात् वाम-अङ्ग से अभ्यास करे, फिर सूर्य अङ्ग अर्थात् दक्षिण अङ्ग से अभ्यास करे। परन्तु दोनों अङ्गों से अभ्यास बराबर करे, कमी वेशी न होने दे। फिर इसको विसर्जन कर दे। परन्तु इस बात का ध्यान रखे कि जब वाम अङ्ग से अभ्यास करे तो दक्षिण चरण को फैलावे, और ऊपर लिखी रीति से चरण के अंगूठे को दक्षिण हाथ से पकड़े। और जब दक्षिण अङ्ग से अभ्यास करे तब वाम चरण को फैलाकर वाम हाथ से चरण का

अगूठा पकड़े। इस रीति से दोनों अङ्गों में समान अभ्यास करे।

महामुद्रा के गुण।

जो पुरुष इसका अभ्यास करने वाले हैं, उन पुरुषों को पथ्य-अपथ्य का भय करने की कोई जरूरत नहीं, क्योकि सम्पूर्ण कटुक, खटाई आदि जो भोजन करेगा सो ही पच जायगा। ऐसी कोई चीज़ नहीं है कि उसको हज़म न होवे, क्योंकि साधु की गोचरी में गृहस्थ के घर से सब तरह की निरसादि चीज़ आती है। सो इन क्रिया करने वालों को हज़म हो जाती है, किसी रोगादि को उत्पन्न नहीं करती है।

२ महाबन्ध मुद्रा।

अन्य मतों की रीति का भी वर्णन कर देते हैं कि वाम चरण की एड़ी योनिस्थान में लगाकर फिर वाम चरण की जानु के ऊपर दक्षिण चरण को धरे, उसके बाद पूरक करे; फिर हृदय में ठोड़ी लगाकर जालन्धर बन्ध लगावे, और मूलबन्ध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक करके मन्द २ रेचन करे। इसका गुण हठप्रदीपिका या गोरक्षपद्धति में देखो।

३ महावेध मुद्रा।

इसका विधान यह है कि महामुद्रा में स्थित, जिसकी एकाग्र बुद्धि है ऐसा योगी नासिका पुट से पूरक करके कण्ठ की जालन्धर मुद्रा से वायु की ऊपर नीचे गमन रूप जो गति उसको रोककर कुम्भक करे, और पृथ्वी मे लग रहें हैं तालुआ जिनके, ऐसे दोनों हाथ समान करके, फिर योनि-स्थान में लगे हुए एड़ी वाले पांव के साथ हाथों के सहारे कुछ ऊपर उठकर फिर मन्द मन्द भूमि में ताड़न करे। इड़ा पिङ्गला दोनों को उलंघन करके सुषुम्ना के मध्य में वायु प्राप्त होय। सोम, सूर्य, और अग्नि में अधिष्ठित नाड़ी जो इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना, उनका सम्बन्ध मोक्ष के लिये होता है। निश्चय करके प्राण वियोग की अवस्था अर्थात् मृतसी अवस्था प्राप्त होती है। उसके पीछे वायु को नासिका-पुटन कर केधीरे धीरे रेचन करे। परन्तु इस जगह इतना विशेष है कि योनि

स्थान में एड़ी लगी रहने से जब वह हाथो के बल से ऊपर को उठेगा तो आसन भङ्ग हो जाने से मूलबन्ध यथावत् न रहेगा ; इस लिये इस मुद्रा के अभ्यास में पद्मासन लगावे। और मूलबन्ध को कम न होने दे। इतने पर भी इसकी असली रीति गुरुगम से जानों, पुस्तकों के लेख को मत मानों, पोथियों के लेख से कितनों ही का हो गया नुकसानों, हठ-प्रदीपिका वाले ने पद्मासन न लिखा सो तो उसकी इच्छा की बात है, परन्तु गोरक्षपद्धति में लिखा हुआ है।

४ विपरीतिकरणी मुद्रा।

विपरीत मुद्रा करने का प्रकार यह है कि पृथ्वी पर मस्तक टेककर हाथो से सिर को थामकर मयूर आसन की तरह पैर ऊँचे करके आकाश की तरफ सत्तर कर देवे। इस रीति से सिर के बल अधर खडा होना उसका नाम विपरीत-करणी मुद्रा है। इसके करने का प्रयोजन यही है, कि चन्द्रमा ऊर्ध्व भाग में है, और सूर्य अधोभाग में है, सो जो चन्द्रमा से अमृत झरता है वह सूर्य में पड़कर भस्म हो जाता है। इस लिये विपरीत-मुद्रा करने से चन्द्रमा अधोभाग में हो जाता है, और सूर्य ऊर्ध्व भाग में हो जाता है सो सूर्य को अमृत न मिलने से सूर्य निर्बल होकर इड़ा-पिङ्गला को जोर नहीं दे सकता। और, जो इसका अभ्यास करे वह पहिले दिन एक क्षण, दूसरे दिन दो क्षण, इसी प्रकार से प्रतिदिन बढ़ाता चला जाय। जब एक पहर की मुद्रा होने लगे तब आगे अभ्यास न बढ़ावे। और, इसके कारण से क्षुधा बहुत लगती है। जो कम खाने वाला है, और इस क्रिया को करता है, कम खाने से उसके शरीर को यह मुद्रा जला देगी। इस लिये इससे कुछ प्रयोजन-सिद्धि नहीं होती। न मालूम इन लोगों ने लिखकर क्यों इसकी इतनी महिमा की है?

खेचरी मुद्रा का कथन।

प्रथम खेचरी हो जाने की विधि लिखते हैं, इसके बाद इसके गुणादि और करने की विधि लिखेंगे। सो इसकी पहिली विधि यह है कि पहिले जिह्वा को होंठों के बाहिर निकाले, और दोनों हाथो के अंगूठा

और तर्जनी से पकड़कर शनैः शनैः वाहिर को खींचे। और गौ के थनों से जैसे दूध निकालते हैं उसी रीति से दोनों हाथों से खींचे, वह वढ़ते २ इतनी वढ़ जाय कि नाक पर होकर भृकुटी के मध्य में जा लगे। जव इस तरह का अभ्यास हो जाय तव उसका छेदन—साधन किया जाता है। वह दिखाते हैं कि जैसे थूहर के पत्र की धार तीक्ष्ण होती है, इस तरह का चिकना, निर्मल और तीक्ष्ण धार वाला शस्त्र लेकर उससे जिह्वा के नीचे जो नस है उसको पहिले लवमात्र छेदे, फिर उसके ऊपर सिन्धालूण और हर्रे दोनों को पीसकर उस छेदी हुई जगह लगावे। परन्तु इस क्रिया करने वाले को दोनों वक्त लवण खाना मना है, तो भी हर्रें और लवण को लग ले। फिर सात दिन के पीछे आठवें दिन कुछ अधिक छेदे। इस रीति से छः महीने पर्यन्त युक्ति से करे तो जिह्वा के मूल में जो नाड़ी है वह नाड़ी कपाल के छिद्र में जाने के लायक होगी। इस रीति से पहिले साधन करे। यह रीति ग्रन्थों में लिखी है। परन्तु इसकी असल रीति तो यह है कि जिसमें शस्त्रादि से छेदने का कुछ प्रयोजन नही है, किन्तु वह रीति गुरु की कृपा के विना मिलनी कठिन है। और, वह रीति शास्त्र द्वारा लिखी भी नहीं जाती,क्योंकि गुरु आदि तो योग्य अयोग्य देखकर युक्ति-क्रम वताते हैं, शास्त्र में लिखें तो योग्य-अयोग्य की कुछ खवर न पड़े। और विना योग्य के असल वस्तु नही दी जाती। हमने अपने गुरु की वताई रीति आजमाई, विना छेदन के जिह्वा अलग कराई, एक दो जिज्ञासुओ को वताई, उलटकर जिह्वा छिद्रो में पहुँचाई, इतनी वात हमने अपनी तरफ से लिखाई।

खेचरी मुद्रा के गुण और प्रयोजन।

जव जिह्वा की नस अलग हो जाय, तव जिह्वा को तिरछी करके गले में ले जाय। और, तीनों नाडियों के जो मार्ग अर्थात् नासिका के जो छिद्र, जिसमे इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना नासिका के वाहिर निकलकर मालूम होती हैं, उनके वन्द करने के वास्ते छिद्रों के ऊपर जिह्वा लगाकर छिद्रों को वन्ध कर दे, जिससे इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना इन तीनों

नासिका के वाहिर न निकल सकें। इसका नाम खेचरी मुद्रा है। इसको कितने ही व्योम-चक्र भी कहते हैं, परन्तु यह व्योम-चक्र नहीं है, क्योंकि व्योम-चक्र भृकुटी के ऊपर है। इसके करने से यह गुण हैं कि यदि तालु के ऊपर के छिद्रों में लगी हुई जिह्वा, एक घड़ीमात्र भी उस जगह स्थित रहे, तो सर्प विच्छू आदि के जो जहर है वह उसको असर नहीं करता। अथवा सर्प को लेकर जितने ज़हरीले जानवर हैं उनका ज़हर दूर करने की शक्ति उस पुरुष को प्राप्त हो जाती है। उसको किसी जानवर का ज़हर (विष) नहीं चढ़ता। और, इस मुद्रा के करने वाले पुरुष को आलस्य, निद्रा, क्षुधा, तृषा, मूर्च्छा आदि विशेष नही होते हैं। और, तालु के ऊपर के छिद्रों के सन्मुख जिह्वा लगाये हुए जो स्थित होय, वह गले के छिद्रों में से पड़ता हुआ चन्द्र-अमृत का पान करता है, और सर्व कार्य की सिद्धि हृदय में धरता है, राग द्वेष को परिहरता है, कर्मों से झगड़ता है, अपने समान सर्व जीवों को जान किसी से न लड़ता है, मध्यस्थभाव में प्रवृत्त रहता है। परन्तु इसकी पूर्ण रीति विना गुरु के नहीं प्राप्त होती, क्योंकि शास्त्र द्वारा अथवा पुस्तक लिखने, लिखाने, वांचने से या अन्य पुस्तकों की रीति देखकर अपनी वुद्धि मिलाकर पुस्तक वनाने से नहीं होती। जो पुस्तक देखने से वह प्राप्त होती तो वर्तमान काल में छापा होने से हठयोगादि की पुस्तकें वहुत प्रसिद्ध हैं, इससे कई योगी हो जाते। परन्तु इन पुस्तकों को देखकर कई भद्र लोग अपनी जान तक खो वैठे हैं। इसलिये यदि आत्मार्थी वनकर योगाभ्यास करने की इच्छा हो तो सद्गुरु की विनय, प्रतिपत्ति, शुश्रूषादि करो। जिससे तुम्हारे पर गुरु अनुग्रह करके उसे वतावे, और आशीर्वाद देवे, जिससे तुमको यथावत् प्राप्ति हो जाय, तुम्हारा भ्रम सो जाय, दुःख-गर्भित मोह-गर्भित वैराग्य वालों का वैराग्य भी खो जाय, सुमति की सेज पर चेतन जाकर सो जाय, शुद्ध चेतना के स्वरूप चिदानन्द मोह जाय। इस खेचरी मुद्रा के विषय में 'हठप्रदीपिका' आदि ग्रन्थो में जो प्रक्रिया लिखी है, वह प्रक्रिया यहां नहीं लिखी है। क्योंकि, उसमें

गोमांस और अमर-वारुणी (मदिरा) का भक्षण करना और पीना लिखा है। फिर उन्होंने गो शब्द करके तो जिह्वा को लिया है, और वारुणी शब्द करके चन्द्र-अमृत-स्राव लिया है। सो केवल जिज्ञासुओं को बहकाने की जाल है। सो इस जाल के फैलाने में गोरक्ष नाथ के सम्प्रदाय के आत्माराम का हाथ दीखता है, न कि गोरक्षनाथ का, क्योंकि गोरक्षनाथ ने 'गोरक्षपद्धति' में इसको अङ्गीकार नहीं किया है। क्योंकि, छापे की उन पुस्तकों में लिखा है, कि ग्रन्थान्तर की खेचरी मुद्रा। इससे प्रतीत होता है कि गोरक्षनाथ की ऊपर लिखी बातों में सम्मति नहीं थी। परन्तु वज्रोली मुद्रा जो हम आगे कहेंगे, उनमें दोनों ग्रन्थकारों की सम्मति है। और कनफटा योगियों की परम्परा देखने से भी मालूम होता है, कि कनफटा योगी लोग मांस खाते हैं और मदिरा पीते हैं, अपना इष्ट बताते हैं, और लोगों को जाल में फँसाकर खवाते हैं। इससे प्रतीत होता है कि गोमांस, अमरवारुणी का अर्थ जाल से बनाया, योग का नाम ले लोगों को भरमाया, इस लिये हमने इस ग्रन्थ मे जिह्वा-छेदन की प्रक्रिया उनके ग्रन्थानुसार लिखाया, सो उसका भी पीछे से खण्डन कर बिना शस्त्र-छेदन गुरु के पास बताया।

इसका कुछ खुलासा भी देते हैं कि छोटी हर्ड़ को बारह पहर अथवा सोलह पहर तक कुंवारी गौ की अर्थात् आठ दश महीने की बछिया की पेशाब में भिगोवे। जब वे दो दिन में भीजकर फूल जायें, फिर उनको छाया में सुकावे, सूर्य की धूप न लगने दे, फिर उनको कोरे बर्तन मे डालकर अग्नि पर सेके। उसे इस तरह सेके कि जल न जायें और कच्ची भी न रहे। उन हर्डों में सेंधा लवण अन्दाज़े से मिलाकर चूर्ण बनावे। उससे सायं और प्रातः दोनों वक्त जिह्वा की जड़ में मालिश करे। और दस २ मिनट ऊपर लिखी रीति से जिह्वा को शनैः शनैः खैंचा करे, बाहिर की तरफ ही ले जाया करे, फिर तीन महीने के बाद उलटकर गले की तरफ ही ले जाया करे, छः महीना इस रीति से करेगा तो जिह्वा कागल्या से आगे निकल जायगी। नव महीनों में

छिद्रों के पास में पहुँच जायगी। जिसकी इच्छा होवे वह विश्वास सहित इस काम को अङ्गीकार करे तो, हमारे लिखे अनुसार प्राप्ति हो जायगी। विशेष गुरुओं के पास जाकर उनसे जिज्ञासा पूर्ण करनी चाहिये, क्योंकि जो आत्मार्थी योगाभ्यास की इच्छा वाले हैं, उनके वास्ते सङ्केत (इशारा) लिखाया। अन्यमतावलम्बियों का खण्डन भी कर दिखाया।

वज्रोली मुद्रा।

प्रथम 'हठपद्दीपिका' और 'गोरक्षपद्धति' की प्रक्रिया दिखाकर पीछे किञ्चित् अपनी रीति, जो गुरु कृपा से मैंने पाई है, उसको लिखेंगे। प्रथम मूल का श्लोक लिखेंगे पीछे टीका के अनुसार जो भाषा है उसको लिखेंगे। कदाचित् भाषा में न्यूनता होगी, तो टीका के उतने ही अक्षर दिखाकर पीछे भाषा लिखेंगे। सो प्रथम 'हठप्रदीपिका' का श्लोक लिखते हैं।

"स्वेच्छया वर्तमानोऽपि, योगोक्तैर्नियमैर्विना।
वज्रोलीं यो विजानाति, स योगी सिद्धिभाजनम् ॥८३॥
तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये, दुर्लभ यस्य कस्यचित्।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु, नारी च वशवर्तिनी ॥८४॥
मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत्।
पुरुषोऽप्यथवा नारी, वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥८५॥
यत्नतः शस्तनालेन, फूत्कारं वज्रकन्दरे।
शनैः २ प्रकुर्वीत, वायुसंचारकारणात् ॥८६॥
नारी भगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत्।
चलितञ्च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥८७॥
एवं संरक्षयन् बिन्दुं, मृत्युं जयति योगवित्।
मरणं बिन्दुपातेन, जीवनं बिन्दुधारणात् ॥८८॥
सुगन्धो योगिनां देहे, जायते बिन्दुधारणात्।
यावद्बिन्दुः स्थिरो देहे, तावत्कालभयं कुतः ॥८९॥

चिन्तायत्तं नृणां शुक्रं, शुक्रायत्तञ्च जीवितम्।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव, रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥६०॥
ऋतुमत्या रजोऽप्येवं, बीजं विन्दुञ्च रक्षयेत्।
मेढ्रेण कर्षयेदूर्ध्वं, सम्यगभ्यासयोगवित् ॥६१॥"

भाषा टीका।

"अब वज्रोली के आदि में इसका फल कहते हैं जो योगाभ्यासी वज्रोली मुद्रा को विशेषकर अपने अनुभव करके जाने, सो योगी जो योगशास्त्र में कहे हुए ब्रह्मचर्यादि किये विना अपनी इच्छा करके वर्तमान रहे, अणिमादि अष्ट सिद्धि को भोगने वाला होय ॥८३॥ वज्रोली के अभ्यास में दो वस्तु कही है, एक तो दूध पीना दूसरी आज्ञाकारी वशवर्तिनी स्त्री ॥८४॥

वज्रोली मुद्रा का प्रकार यह है कि स्त्री-सङ्ग के पीछे विन्दु को क्षरण कहां पड़नो, जिसको पुरुष अथवा स्त्री यत्नपूर्वक इन्द्रिय को ऊपर आकुंचन करके वीर्य को ऊपर खींचने का अभ्यास करे, तो वह वज्रोली सिद्ध होती है ॥८५॥ अब वज्रोली की पूर्वाङ्ग क्रिया कहते हैं। चांदी की बनी हुई नाल की शनैः २ जैसे अग्नि सुलगाने को फूंक मारते हैं,वैसे ही फुङ्कार से इन्द्रिय के छिद्र में वायु का सञ्चार बारम्बार करे।

वज्रोली की साधन क्रिया।

वज्रोली की साधन प्रक्रिया यह है कि सीसे की बनी हुई चिकनी होय, इन्द्रिय में प्रवेश करने के योग्य होय, ऐसी चौदह (चतुर्दश) अङ्गुल की शलाका करा करके उसको इन्द्रिय में प्रवेश कराने का अभ्यास करे। पहिले दिन एक अङ्गुल प्रवेश करे। दूसरे दिन दो अङ्गुल प्रवेश करे। तीसरे दिन तीन अङ्गुल प्रवेश करे। इस रीति से क्रम से बारह अङ्गुल प्रवेश हो जाय तो इन्द्रिय मार्ग शुद्ध होवे। अथवा चौदह अङ्गुल की शलाका बनवावे, जिसमें दो अङ्गुल टेढ़ी और ऊँचे मुँह वाली होनी चाहिये, वह दो अङ्गुल बाहिर स्थापन करे। इसके पीछे सुनार की अग्नि सुलगाने की नाल के सदृश नाल ग्रहण करके उस नाल का जो अग्रभाग

उसको इन्द्रिय में प्रवेश की हुई नाल के दो अङ्गुल बाहिर निकले हुए भाग के मध्य में प्रवेश कर फूत्कार करे। इस प्रकार भली भांति इन्द्रिय मार्ग शुद्ध हो जाय, तब पीछे से इन्द्रिय द्वारा जल को ऊपर चढ़ाने का अभ्यास करे। जब जल का आकर्षण होने लग जाय, तब पहिले श्लोक में लिखी हुई रीति के अनुसार वीर्य के आकर्षण करने का अभ्यास करे। जब वीर्य का आकर्षण करना सिद्ध हो जाय, तब वज्रोली मुद्रा सिद्ध होती है। जिस मनुष्य को खेचरी मुद्रा, और प्राण-जय यह दोनों सिद्ध होंय उसको वज्रोली मुद्रा सिद्ध होगी, दूसरे को नहीं ॥८६॥

जब इस प्रकार वज्रोली मुद्रा का अभ्यास सिद्ध हो जाय, उसके आगे साधन बतलाते हैं। नारीभगे इति। रतिकाल में स्त्री की योनि में वीर्य गिर पड़ा यह मालूम होवे लेकिन गिरे नहीं, उससे पहले जो वीर्य उसको वज्रोली के अभ्यास द्वारा ऊपर को आकर्षण करे। यदि गिरने के पहले बिन्दु को आकर्षण न कर सके तो स्त्री की भग में गिरा हुआ जो अपना वीर्य और स्त्री का रज इन दोनों को ऊपर खींचकर स्थापित करे॥ ८७॥

वज्रोली के गुणवर्णन।

"एवमिति। इस रीति से जो वीर्य्य को स्थिर करता है, वह योग-वेत्ता होता है, और मृत्यु को जीत लेता है। परन्तु जो वीर्य का पतन करता है, वह मरण को प्राप्त होता है। इस रीति से वीर्य को धारण करने वाला जीवित होता है। इसलिये बिन्दु को इस रीति से स्थित करे॥ ८८॥

सुगन्धेति। वज्रोली के अभ्यास करने वाले देह में वीर्य को धारण करते हैं, उससे बहुत सुन्दर सुगन्ध पैदा होती है। और जब तक बिन्दु स्थित रहता है, तब तक काल का भय नहीं होता है॥ ८९॥

चित्तायत्तमिति। निश्चय जो चित्त चलायमान होय, तो मनुष्य का वीर्य चलायमान होता है। और जो चित्त स्थिर होय तो वीर्य भी स्थिर रहता है। इस लिये चित्त के अधीन वीर्य है, और शुक्र जो स्थिर हो

तो जीवन स्थिर हो, जो शुक्र नष्ट हो तो मरण होय, इस लिये शुक्र के अधीन जीवन है, इस वास्ते शुक्र और विन्दु इन दोनों की अवश्य रक्षा करनी चाहिये ॥ ९० ॥

ऋतुमित्यादि। ऋतुमती स्त्री का रज, और अपना विन्दु इन दोनों को इस रीति से स्थिर करे। इन्द्रिय करके यत्नपूर्वक रज और विन्दु को ऊपर आकर्षण करे। वह वज्रोली-अभ्यासवेत्ता योगी जानो ॥ ९१ ॥"

यह हठ प्रदीपिका का लेख लिखानो, अब 'गोरक्ष-पद्धति' का भी करते हैं वखानो।

गोरक्ष-पद्धति की रीति से वज्रोली वर्णन।

"स्वेच्छया वर्त्तमानोऽपि, योगोक्तैर्नियमैर्विना।
वज्रोलीं यो विजानाति, स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ १ ॥
तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये, दुर्लभं यस्य कस्यचित्।
क्षीरं चैकं द्वितीयन्तु, नारी च वशवर्तिनी ॥ २ ॥
मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत्।
पुरुषोऽप्यथवा नारी, वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥ ३ ॥
यत्नतः शस्तनालेन, फूत्कारं वज्रकन्दरे।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत, वायुसञ्चारकारणात् ॥ ४ ॥
नारीभगे पतद्विन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत्।
चलितं च निजं विन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ५ ॥
एवं संरक्षयन् विन्दु, मृत्युं जयति योगवित्।
मरणं विन्दुपातेन, जीवनं विन्दुधारणात् ॥ ६ ॥
सुगन्धो योगिनो देहे, जायते विन्दुधारणात्।
यावद् विन्दुः स्थिरो देहे, तावत्कालभयं कुतः ॥ ७ ॥
चित्तायत्तं नृणां शुक्रं, शुक्रायत्तञ्च जीवितम्।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव, रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ८ ॥
ऋतुमत्या रजोऽप्येवं, बीजं विन्दुञ्च रक्षयेत्।
मेढ्रेण कर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥ ९ ॥

इन श्लोकों का अर्थ इस वास्ते नहीं दिखाते कि जैसा अर्थ 'हठप्रदीपिका' में है,वैसा ही इनका भी है। श्लोकों का लिखना तो ठीक समझा, कुछ भेद होता तो अर्थ अवश्य ही लिखते, क्योंकि निष्प्रयोजन ग्रन्थ को बढ़ाना ठीक नहीं समझा। थोड़े ही से प्रयोजन निकले तो बहुत क्यों बढ़ावें ?

अब ऊपर लिखी हुई जो रीति है उससे योग करनेवाले को ही योगीन्द्र हम समझते हैं यह उसका लिखना और ऐसे ही योगीन्द्र समझना असम्भव सा है, क्योंकि प्रथम ही योगाभ्यास के आरम्भ में अपथ्यभोजनादि अथवा स्नानादि क्रियाएं, और स्त्री का सङ्ग बिलकुल न करे, क्योंकि धर्मशास्त्रों में वा स्मृतियों में भी अनेक ऋषियों ने ऐसा लिखा है कि जिस जगह स्त्री का चित्र वा मूर्त्ति होय, उस मकान में योगी, संन्यासी यति, ब्रह्मचारी आदि का नहा ठहरना चाहिये। और जो कि स्त्री-विषय के आलङ्कारिक काव्य हे उनका भो यति, ब्रह्मचारी, योगी, सन्यासी न बांचे, क्योंकि बांचने से विकार उत्पन्न होता है। और उस मकान में ठहरने से भा उस चित्र-मूर्त्ति का देखने से चित्त की चञ्चलता हो जाती है। जब काव्य बाचने से और चित्र-मूर्त्ति के देखने से चित्त की चञ्चलता आर विकार उत्पन्न होता है, तो स्त्री के पास में रहने से क्योंकर चित्त स्थिर रह सकता है ? और यानि में लिङ्ग को देकर क्रिया करना, और वार्य का निकालना, और उसको भग में न पड़ने देना, अथवा न रुक सके और पड़ जाय ता उसका वायु के जोर से आकर्षण करके फिर स्तम्भन करना, इससे तो पहले ही न करना श्रेष्ठ है, क्योंकि पहले शरीर को कीचड़ मलकर फिर पानी से धोना, इससे तो कीचड़ न मलना ही श्रेष्ठ है। इस लिये यदि आदिनाथ, मच्छन्दरनाथादि योगियों ने इस बात को अङ्गीकार किया है, तो उनके योगीन्द्र होने में वा अमर होने में विवेक-सहित बुद्धि से विचार करने वाले को सन्देह होता है। सम्भव है कि स्त्री-सङ्ग करने से मोक्ष मानना, "कवलक" (कौलक) मतावलम्बियों के बिना और कोई मतावलम्बी स्वीकार

न करेगा। कौलक मत वाले पांच मकार से मोक्ष मानते हैं। वे पांच मकार ये हैं ;—मांस, मदिरा, मछली, मैथुन, मुद्रा। वे इनको अङ्गीकार करते हैं। उनके भी दक्षिणी, वामी, उत्तरादि, काचलियापन्थ, कूंड़ापन्थ, अधरवीर्य, आदि अनेक भेद हैं। यहां पर प्रसङ्ग से इनके भेदों का थोड़ा हाल कहते हैं।

१ वाम मार्ग का स्वरूप।

सब से प्रथम वाम मार्गियों का कुछ विचार दिखाते हैं कि वमन (उलटी) किये हुए को ग्रहण करने से उसका नाम वाम-मार्गी है। इनमें जो मुख्य आचार्य होता है, वह चक्र की जगह में सर्व सामग्री रख कर, शिष्यादिकों को भी वहीं पर बैठाता है और आप मन्त्र पढता हुआ जिस जगह चाण्डाल अर्थात् मेहतर लोग रहते हैं उस जगह उनके मकान की दीवार के पीछे खड़ा रहकर मन्त्र जपता रहता है, जब मन्त्र की सख्या पूरी होती है उस वक्त चाण्डालनी (मेहतरानी) अपने घर से नग्न होकर निकलती है और जिस जगह चक्र की सामग्री रखी जाती है उस स्थान पर रखे हुए सिहासन पर जाकर बैठ जाती है। फिर जो आचार्य उसको लाता है वह कुछ सामग्री उस मेहतरानी के सामने रखता है और मदिरा के प्याले भर २ कर उसके हाथ में देता जाता है। सो वह इस कदर पीती है कि पीते २ वमन हो जाता है उस बमन को वह आचार्य पात्र में लेता है और उसमें और शराब मिलाकर उसका प्याला सब को पिलाता है। इसी लिये इसको वाम मार्ग कहते हैं।

२ दक्षिणी भेद का वर्णन।

इनके मत में मेहतरानी के आने का कुछ काम नही। किन्तु एक ब्राह्मण की स्त्री चक्र में सम्मिलित होती है। सो पहले उसको मदिरा का प्याला दिया जाता है, वह औरत उसमें से थोड़ा सा पी लेती है। और उस प्याले को लौटा देती है। उस प्याले को लेकर आचार्य, जितने उस चक्र में बैठे हुए हैं, उनके जितने प्याले हैं, उन सब में एक २ बूद डालता है, फिर वे प्याले सर्व जिज्ञासुओं को देता है। कदाचित् वह

स्त्री एक बार के सिवाय दूसरी बार प्याला न ले तो पहले प्याले की उच्छिष्ट मदिरा ही सब बोतलों मे मिला दी जाती है।

३ उत्तर मार्गियों का वर्णन।

इसमें ब्राह्मण की स्त्री का कुछ नियम नही। किसी जाति की स्त्री हो, और वह स्त्री भी प्याला पीने में निपुण हो। अन्यथा ऐसा भी इनमे एक भेद है कि जो जो पुरुष हो उसकी स्त्री साथ होय और बारी २ से अछूता एक प्याला स्त्री को दिया जाय। उसकी जो उच्छिष्ट बचे, वह कुल प्यालों में डाली जाती है। और जितनी स्त्रियां होंगी उतने ही प्याले सब को पीने पड़ेगे। कदाचित् उस समय किसी को मैथुन की इच्छा होय तो अपनी स्त्री के साथ अलग जा कर करे।

४ कूडापन्थियों का मार्ग।

इन कूंडापन्थियों का मार्ग यह है कि ये लोग जङ्गल में जाकर पुरुष और स्त्री सब जमा होते हैं। और खाने की सब सामग्री एकत्रित करके जो कुछ इनकी विधि है उसको करते हैं। उसे करने के बाद एक कपड़े पर सब चीज़ रखकर सब स्त्री पुरुष एकत्रित हो भोजन करते हैं, और मद्रिरा आदि पीते हैं, और जिससे जिसकी इच्छा हो उससे मैथुन भी करते हैं।

५ कांचलिया मार्ग।

इनके मार्गानुयायी सब स्त्री पुरुष एकान्त स्थान में जाकर एकत्रित होते हैं, और एक मटके में उन स्त्रियो की कांचली (चोली—अँगिया) भरकर रख दी जाती है। फिर उस मटकी के आगे सर्व सामग्री रख कर पूजनादिक करके तम्बूरा के ऊपर अध्यात्म-गीता गाते हैं, और खाना पीना भी करते हैं। उस वक्त जिसको मस्ती अर्थात् मैथुन करने की इच्छा हो, वह मनुष्य उस मटके के अन्दर से आंख मीचकर एक चोली निकालता है, और जिसकी वह चोली होगी उसी स्त्री को हाथ पकड़कर ले जाता है और उसके साथ मैथुन करता है। जिस पुरुष के हाथ जो चोली लगती है, यदि उस चोली वाली उसकी माता हो, वा

पुत्री हो, अथवा भगिनी हो, अथवा फूआ (पितृस्वसा) हो, अथवा स्त्री हो, उसी के साथ उसको मैथुन करना पड़ता है।

६ अधर वीर्य लाने वाले का मार्ग।

यह अधर वीर्य वाले भी जैसे कांचली वाले एकत्रित होते हैं, वैसे ही एकत्रित होते हैं और मटकी में कांचली (चोली) जमा करते हैं, और कांचली पहले निकालते हैं, और जिसकी चोली निकले; उसी स्त्री को ले जाकर उससे मैथून करते हैं। जिस समय वीर्य निकलता है उस समय वीर्य को योनि में नहीं पडने देते हैं, बाहर एक कटोरी में निकालते हैं। कदाचित् वीर्य भग में पड़ जाय और कटोरी में न निकल सके तो उस पुरुष को उसी समय चक्र से बाहर निकाल देते हैं, और फिर उससे दण्ड लेते हैं। इस रीति से कटोरियों में जो वीर्य इकट्ठा हुआ है, उसको मिलाकर मदिरा के साथ गिलाते हैं, कोई स्त्री पुरुष शेष नही छोड़ा जाता है।

इस रीति से प्रसङ्गवश अनेक कौलिकादि मत दिखाये गये। अब इस जगह कोई ऐसा कहे कि तुमने जो यह भद लिखाये हैं, तो क्या तुम सर्व मतों में फिर आये हैं? इसका समाधान इस प्रकार है कि जिसने सर्वज्ञ मत को अङ्गीकार किया है उसको सब हाल मालूम है। जो उसको सब हाल मालूम न होगा, और उसके घर की सब यथावत् रीति न जानेगा, तो फिर उसके मार्ग की असत्यता कैसे बतावेगा? और जो भव्य जीव उसके जाल में फंसे हुए हैं, उनको क्योंकर बचावेगा? उनको सच्चा मोक्षमार्ग कैसे दिखावेगा?

ये सब सन्देह तब तक उत्पन्न होते हैं कि जब तक सद्गुरु यथावत् आत्म-अनुभव और अध्यात्म के आत्मार्थी न मिलें। इस लिये नम्रता-पूर्वक पाठकगणों को दिखाता हूँ, कि जैसा गुरु मेरे को मिला, और उन्होंने बातें सुनाईं, और अनुभव कराया, दो मिनट में मानो अमृत का प्याला पिलाया, शासनपति श्री वीरभगवान् के निर्वाण-भूमि पर ध्यान करना फरमाया, मैंने भी उस जगह आकर चौंतीस की साल में आसन

जमाया, ध्यान के प्रारम्भ से ग्यारहवें दिन अनुभव का आनन्द पाया, कर्म-हीनपन से सम्पूर्ण हाथ न आया, उसी के किञ्चित् स्वाद से इतना लेख लिखाया।

ऊपर की बात से अब हम को यह विचार करना चाहिये कि जब योनि मे लिङ्ग देकर क्रिया करना, और वीर्य न पड़ने देना, अथवा पड़े हुए को ऊपर चढ़ाते जाना ही यदि 'हठप्रदीपिका' आदि के मत से योगीन्द्रपन हो तो पूर्वोक्त अधर वीर्य वाले भी योगवेत्ता हो जायंगे।

दूसरी बात यह है कि जो चीज पहले साबुत बनी हुई है, उस चीज में से थोडी निकाल कर फिर उसमें मिलावे तो मिलाने से जो घाट पहले था वह घाट न रहेगा। जैसे दही किसी बरतन में जमा हुआ है, उसमें से कुछ निकाल कर फिर पीछे से उसमे मिलावे तो पहले जैसा यथावत् स्वरूप था वैसा कदापि न होगा। यही हाल वीर्य का भी है। इस लिये पहले उस वीर्य को कदापि न निकालना चाहिये।

तीसरी बात यह भी है कि योनि में लिङ्ग देने से यदि योगवेत्ता होता हो, तो यम, नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा, प्रत्याहार, समाधि, आदि साधन व्यर्थ हो जायंगे।

चौथा कारण यह है कि गोरक्षपद्धति के सातवे और हठप्रदीपिका के ८९ वें श्लोक में लिखा है, कि चित्त के स्थिर होने से वीर्य स्थिर होता है। इससे आत्म-अनुभव—अध्यात्म वाले इसी बात को अङ्गीकार करेगे कि चित्त को स्थिर करना कि जिससे वीर्य आप ही स्थिर हो जायगा।

पांचवां कथन यह है कि योनि में लिङ्ग देकर क्रिया करना, और वीर्य को न देना, यह बात शौकीन जार पुरुष भी कर सकते हैं। अथवा दवाई आदि से भी हो सकता है। परन्तु ऐसी क्रिया अर्थात् वज्रोली से कदापि चित्त स्थिर न होगा। उलटी विशेष करके चित्त की चञ्चलता हो जायगी, और चञ्चलता होने से व्यभिचारादि विशेष करने लगेगा। क्योंकि देखो अग्नि में ज्यो २ घृत काष्ठादि पड़ेगा, त्यों २ अग्नि विशेष करके प्रज्वलित होगी इस रीति से जो योनि में लिङ्ग देकर

क्रिया करेगा, उसका चित्त विषयासक्त होगा और जिस समय वह वीर्य निकलता है सो रुकना भी कठिन है; क्योंकि वीर्य निकलते समय जो विषयानन्द होता है, उस विषयानन्द में जगत् फँस रहा है, और जरा-मरण करता है, और फिर वह वीर्य भग में पड़ा हुआ पीछे खींचकर ले जाय तो वह वीर्य दही के दृष्टान्त के अनुसार कदापि एकरस न होगा। इसलिये वर्त्तमान काल में कितने ही लोग इन ग्रन्थों के अनुसार वज्रोली में प्रवृत्त होते हैं और अपने दिल में विचारते हैं कि इस क्रिया के करने से हम योगवेत्ता होकर योगीन्द्र वन जायें। किन्तु वह तो होता नही है, उलटे लोग भ्रष्ट और पतित हो जाते हैं। इस लिये इन ग्रन्थों की रीति आत्मार्थियो के वास्ते उपयुक्त हमारे समझ में न आई, इस कारण से हमने विशेष खोलकर दिखाई, कितने ही वेषधारी इस क्रिया को कर के साधुत्व से भ्रष्ट हों गये रे भाई, इसकी प्रवृत्ति अन्य मत में ही छाई, जैनमत के साधु भ्रष्ट न हुए क्योंकि उन्होंने यह क्रिया न पाई, अन्य मत के साधुओं इन बातों की प्रवृत्ति कर आपस मे करते हैं बडाई, इस लिये प्रसङ्ग से हमने भी इतनी वात सुनाई।

वज्रोली की रीति और प्रयोजन।

अव हम वज्रोली का प्रयोजन और रीति गुरु की कृपा से वतलाते हैं, आत्मार्थी पाठकगणों को सुनाते हैं, कुछ अनुभव भी दिखाते हैं, वीर्य को वचाते हैं,स्त्री का विलकुल त्याग कराते हैं, अपने स्वरूप को मिलाते हैं। सो पाठकगण वुद्धि पूर्वक विवेक सहित ग्रहण कर और श्रद्धा सहित परिश्रम करेगा तो स्वरोदय-साधन में सहायता देगा, और कुछ इससे विशेष सिद्धि नहीं है। हां, विषयी पुरुषों के वास्ते स्त्रियों को प्रसन्न करना, और आप आनन्द लूटना होता है, परन्तु यह काम योगियों का नहीं। इन्द्रिय में गज डालकर छिद्र बढ़ाना भी निष्प्रयोजन है। क्योंकि लघुनीति विना साफ मार्ग के कदापि न निकलेगी। और फूकनी लगाकर उसमें वायु को फूंक से भरना भी निष्प्रयोजन है। यद्यपि लघुनीति होना, अथवा विषय करने से भी वीर्य का निकलना,

इन दोनों बातों का अनुभव जगत् को हो रहा है। परन्तु ख्याल न रखने से उसका रहस्य समझते नहीं हैं। विवेक के साथ विचार करें तो प्रत्यक्ष अनुभव होता है। यही दिखाते हैं कि, जिस समय पुरुष अठारह अथवा बीस वर्ष की आयु में हो, और स्त्री तेरह या चौदह वर्ष की आयु में हो और जब वह लघुनीति करने को बैठे, उस समय गुदा को ऊपर आकुञ्चन करने से लघुनीति (पेशाब) की धार बन्द हो जाती है। और जब आकुंचन छोड़ते हैं तब धार निकलती है। इस रीति से जो मैथुनादि क्रिया करते हैं, तब वीर्य निकलते समय गुदा ऊपर को स्वयं ही आकुञ्चित हो जाती है, और वीर्य रुक जाता है, जब गुदा नीचे को होती है तब वह वीर्य निकलता है। यह सब प्राणवायु का ख्याल है। परन्तु वीर्य और पेशाब रुकने और निकलने का अनुभव सब को है। बलिक कितने ही मनुष्य श्वास को रोक कर वीर्य को रोकते हैं, और किसी समय उसे रोकने से वीर्य रुककर घाव (क्षत) कर देता है, जिस घाव के होने से सुजाक की बीमारी कहलाती है। यह अनुभव साधारण पुरुषों को भी हो रहा है।

और, जो योगी जन हैं उनको यदि कभी कोई कारण (गर्मी आदि) से वीर्य चलायमान हो जाय, तो उसको प्राण अपान की एकता, और नोली चक्र से कुंभक करके लिङ्ग के ऊपर रोक लेते हैं,क्योंकि जिसको नोली-चक्र यथावत् याद है वह पुरुष लिङ्ग से और गुदा से द्रावण (पिघला हुआ घृत, दुग्ध, जल और तेल) चढ़ा सकता है। सो घृत, दुग्ध, शहद आदि लिङ्ग से चढ़ाना केवल लोगों को तमाशा दिखाना है, क्योंकि वीर्य निकल गया वह खराब हो गया, उसके चढ़ाने से सिवाय हानि के और कुछ लाभ नहीं होगा। इस लिये इस वज्रोली का मुख्य तात्पर्य यही है कि स्वर-साधन करने वाले ऐसा कहते हैं कि लघुनीति चन्द्रस्वर में करे और वृद्धनीति (पाखाना) सूर्य स्वर में। लघुनीति को वज्रोली रोक सकती है, यही इसका प्रयोजन है। क्योंकि जब पुरुष वा स्त्री पाखाना आदि को जाते हैं उस समय दोनों ही स्वर होते हैं। इस बात को सर्व

साधारण जानते हैं। कदाचित् गज डाल कर उसमें फूंकादि लगाकर लिङ्ग को साफ करे, परन्तु जब तक उसको नोलीचक्र न आता होगा, तब तक उससे वस्तीकर्म और वज्रोली कदापि न होगी।

और, जो इन ग्रन्थकारों ने ऐसा लिखा है, कि "जिसको वज्रोली होगी, उसी को खेचरी होगी और खेचरी होगी तो वज्रोली होगी" यह बात भी ठीक नहीं है। क्योंकि इन दोनों का आपस में कुछ सम्बन्ध नहीं, बल्कि बिना वज्रोली के खेचरी मैंने कराई है, और बिना खेचरी के वज्रोली करते हमने कितने ही मनुष्यो को देखा है। हां, बिना नौली के वज्रोली कदापि न होगी, क्योंकि नौलीकर्म जिसको सिद्ध होगा, वह पुरुष नल उठाकर बाहर की वायु को खींच सकता है, बिना नोली के कुम्भक वायु नहीं खिंचती, इस लिये जिसको नोली याद होगी उसको वज्रोली जब करेगा तब ही याद हो जायगी। इस रीति से किञ्चित् वज्रोली की प्रक्रिया दिखाई।

जोली, अम्रोली क्रियायें भी इस वज्रोली का ही भेद हैं ऐसा 'गोरक्ष-पद्धति' आदि में लिखा है। और इसका असल भेद ओघड़मत या अघोरियों का आचरण है परन्तु इसके करने से कुछ आत्मा की सिद्धि नहीं। हां, किसी कदर साधन करने से लोगों को चमत्कारादि सिद्धि दिखाने का कारण है। सो इसके लिखने के लिये चित्त तो नही चाहता। परन्तु जिज्ञासुओं को ऐसा भ्रम होगा, कि इनको सम्पूर्ण प्रक्रिया मालूम न थी ; परन्तु मेरे गुरु ने मुझको बताने में किसी प्रकार सङ्कोच नहीं रखा। यदि वे कुछ सङ्कोच रखते तो मैं भी सङ्गति पाकर उनके (अघोरियों) के जाल में फँस जाता। सो उन गुरु की चरण-कृपा से और सब हाल जानने से उनके जाल में न आता हूँ, उनके घर के हाल को कहकर सर्वज्ञ मत पुख्ता बताता हूँ। इस प्रकार लिखे हेतु से किञ्चित् दिखाते हैं कि लघुनीति का पीना और वृद्धनीति का खाना, उसका नाम जोली है।

अम्रोली।

वृद्धनीति को और लघुनीति को मिलाकर कपड़े से छानना, और उसको गरम करके पीना, और उसके बोदर (फोकस) को शरीर पर मालिश करना उसका नाम अम्रोली है।

वे लोग एक मन्त्र का जाप भी करते हैं, उस जाप से उनको सिद्धि प्राप्त होती है। इस काम के करने वाले इस संसार को दिखाते हैं तमाशा, क्रिया करने में रखते हैं सिद्धि की आशा, नहीं है आत्मा के स्वरूप का किञ्चित् भी वासा, हमको उन लोगों के परलोक सुधरने में हो गया सांसा।

अब इस प्रपञ्च को छोड़कर प्राणायामादि दिखाते हैं, प्रथम मल-शुद्धि का उपाय कराते हैं, क्योंकि प्राणायाम से भी मलशुद्धि होती है।

प्राणायाम के तीन भेद।

एक तो पूरक, दूसरा कुम्भक, तीसरा रेचक। पूरक उसको कहते हैं कि वायु को ऊपर अर्थात् बाहर से पेट में ले जाना।

कुम्भक उसको कहते हैं कि श्वास को बन्द रखना अर्थात् न तो भीतर ले जाना न बाहर निकलना।

और रेचक नाम उसका है, कि जो वायु रोकी हुई है, उसको बाहर निकालना।

तीनों प्राणायाम करने की रीति।

इनकी रीति यह है कि प्रथम पद्मासन लगावे, फिर चन्द्र अर्थात् डावी (बाम) नासिका से वायु को खींचे—अर्थात् पूरक करे। फिर अंगूठा और अनामिका अङ्गुली से दोनों नासिका के छिद्रों को बन्द करे, जितनी जिसको शक्ति हो उतने समय पर्यन्त इस माफिक करना चाहिये। और मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध, उड्डियानबन्ध, इन तीनों को करे।

फिर सीधे (दक्षिण) स्वर से वायु का धीरे २ रेचन करे। परन्तु इस रीति से धीरे २ रेचन करे, कि जिसमें किसी तरह का शरीर को जोर न पड़े।

फिर दक्षिण स्वर से धीरे २ पूरक करे—अर्थात् प्राणवायु को खींचता रहे। फिर दोनों नासिका के छिद्रों को वन्द करके यथाशक्ति कुम्भक करे।

वाद चन्द्रस्वर (वाम) से वन्धपूर्वक धीरे २ रेचन करे। फिर जिस नाड़ी से रेचन करे, उसी से ही पूरक करे। फिर यथाशक्ति कुम्भक करके वन्ध-पूर्वक दूसरी नाड़ी से रेचक करे। जब तक पसीना और कम्प होय तब तक पूरक और रेचक करता ही रहे। परन्तु जिस नाड़ी से पूरक करे, उससे रेचक न करे, परन्तु जिससे रेचक करे, उससे पूरक करले तो कोई हानि नही है। इस रेचक को जल्दी २ न करे—अर्थात् एक साथ न छोड़े; क्योंकि जोर से रेचक करने से वल की हानि होती है।

इस रीति से जो अभ्यास करता है, उसकी नाड़ी तीन या पांच मास में शुद्ध हो जाती है।

प्राणायाम के काल तथा नियम का वर्णन।

इसको प्रातःकाल सूर्य उदय होने के समय (वादलों में लाली मालूम पड़ने लगे तब) से प्रारम्भ करे, और तीन घड़ी तक करे।

और मध्याह्न को भी तीन घड़ी तक करे। इसी प्रकार सायंकाल में तीन घड़ी करे। इन तीनों कालमें अस्सी २ वार कुम्भक, रेचक, पूरक करे। तीनों काल के ये दो सौ चालीस प्राणायाम हुए।

जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट प्राणायाम।

जघन्य प्राणायाम में पसीना होता है। और मध्यम में कंप होता है और उत्कृष्ट प्राणायाम में ब्रह्मरन्ध्र होता है। व्यालीस विपल से कम कुम्भक रहे तो जघन्य प्राणायाम होता है। चौरासी विपल से कुछ अधिक कुम्भक रहे तो मध्यम प्राणायाम होता है। और वन्धपूर्वक १२५ विपल कुम्भक रहे तो उसको उत्कृष्ट प्राणायाम काल कहते हैं।

जब प्राणायाम स्थिर हो जाता है, तब प्राण ब्रह्मरन्ध्र को प्राप्त होता है। और ब्रह्मरन्ध्र में गया हुआ प्राण जब पच्चीस पल तक स्थित रहे

उसको प्रत्याहार कहते हैं। ऐसे ही धारणा भी है। और जब छः घड़ी तक स्थिर रहे, तब ध्यान होता है। और बारह दिन तक स्थिर रहे तब समाधि होती है।

प्राणायाम के अभ्यास से जो पसीना होय, उसे शरीर पर तैल की तरह मालिस करे। उस मालिस के होने से शरीर मे दृढ़ता—अर्थात् पराक्रम बढ़ता है, शरीर नरम होता है और जड़ता दूर होती है।

जो मनुष्य इस प्राणायाम को करे, वह पहिले ऊपर लिखे हुए जो तीन बन्ध हैं उनका अभ्यास करे; क्योंकि जो विना बन्ध के अभ्यास करेगा, उसके बल वीर्यकी हानि होगी, और श्वास-कासादिक की बीमारी भी। इस लिये बन्ध-पूर्वक प्राणायाम करे।

बन्ध लगाने की रीति।

बन्ध लगाने की रीति इस प्रकार है कि जिस समय में पूरक करे, उस समय से ही मूल-बन्ध को लगावे। अथवा, पूरक के अन्त और कुम्भक के आदि में अवश्य करके मूलबन्ध को लगावे। और अर्द्ध-कुम्भक में जालन्धर बन्ध को लगावे। कुम्भक का अन्त और रेचक की आदि में उड्डियान बन्ध लगावे।

जो इन बन्धों में से कोई एक भी बन्ध को न लगावेगा, उसको अनेक तरह की बीमारी उत्पन्न होगी। परन्तु हमारा अनुभव ऐसा भी है कि यदि जालन्धर बन्ध न लगावे तो उसमें कोई हानि न होगी, परन्तु मूलबन्ध और उड्डियान बन्ध यत्न पूर्वक अवश्य ही लगावे।

इस प्राणायाम के लिये हमने तीन काल लिखे हैं। परन्तु रात के बारह बजे का चौथा काल भी लिया जाता हैं। इस लिये चारों काल की संख्या के तीन सौ बीस प्राणायाम होते हैं।

यहां पर हम इतना बता देना आवश्यक समझते हैं कि पूरक कुछ शीघ्रता से भी करेगा, तो उसको किसी प्रकार की हानि न होगी। परन्तु रेचक करने में यदि शीघ्रता करेगा तो वायु रोमां द्वारा निकलकर कुष्ठादि रोगों को उत्पन्न करेगी। जैसे बन्धा हुआ हाथी रस्सी आदि अनेक

से, वा शृङ्खला आदि खोलने से भागता है, और अनेक तरह के उपद्रव करता है, वैसे ही कुम्भक की रुकी हुई वायु शीघ्रता से रेचक करने में उपद्रव करती है। इस लिये प्राणायाम करने वाले को यत्न-पूर्वक धीरज के साथ सब काम करना चाहिये।

एक बात और भी बताते हैं कि पूरक में दस अक्षरों का जाप है, कुम्भक में सोलह अक्षरों का जाप है और रेचक में भी दस अक्षरों का जाप है। जाप में कोई तो 'प्रणव' (ओंकार) का स्मरण करता है और कोई "राम" का,कोई "सोऽहं" का,और कोई "अर्हम्" का। इस रीति से अपनी २ उपासना वाले अपने २ इष्ट अक्षर का जाप बताते हैं, लोगों को अपने जाल में फंसाते हैं, परन्तु असल भेद नहीं पाते हैं। इस लिये हमारा यह कथन है कि यदि सद्गुरु मिल जाय तो वह कृपा करके आप ही सर्व भेद जिज्ञासु को बतला देगा। कदाचित् सद्गुरु का संयोग न मिले, और जिज्ञासु को उत्कट जिज्ञासा होय तो प्रणव (ॐ) का ध्यान करे, सर्व के जाल को परिहरे, क्योंकि इस प्रणव अक्षर में उसके शब्दार्थ जानने वाले सब मतावलम्बी अपने २ इष्ट को मिलाते हैं, और उसकी महिमा सब कोई गाते हैं, परन्तु गाने वाले पन्थाई इसको उड़ाते हैं, अपने मनःकल्पित शब्द की रटना लगाते हैं, इस ही लिये वह अपना गुरु आदि से जुदा पन्थ चलाते हैं।

इस लिये प्रणव का ध्यान करना ठीक है। इस प्राणायाम के सिद्ध होने से शरीर नीरोग हो जाता है। और शरीर नीरोग होने से बुद्धि आदि की प्रकृति स्वच्छ अर्थात् निर्मल रहती है। और प्राणायाम करने वाले की चेष्टा पर अन्य पुरुषों को ओजस्विता प्रतीत होती है। जिसका प्राणायाम अच्छी तरह हो गया है, वा चल रहा है, उस मनुष्य को दस्तादि इस प्रकार होगा कि जैसे बन्दूक से गोली निकलती है, लेपादि न लगेगा। और जिसका प्राणायाम बिगड़े अथवा कमी होय तो उसके पेट में से दस्त में बकरी कीसी मेंगनी जाती है, और दुर्गन्धि भी हो जाती है। इस लिये जो प्राणायाम की रीति

लिखी है, उस रीति से साधन करे तो यथावत् फल मिलेगा, योगाभ्यास में चित्त चलेगा। इस रीति से प्राणायाम का किञ्चित् भेद दिखाया, जिन्होंने इसका अभ्यास किया उन्होंने ही इसका फल पाया, केवल लिखने लिखाने वाले अथवा बांचने वाले के हाथ कुछ न आया, पुस्तक बनाकर अपनी विद्वत्ता को दिखाया, नाहक लोगों में गाल बजाया, अपना आडम्बर बताया, इसी के नाम से लोगों का माल ठगकर खाया, जिन्होंने किया उन्होंने ही अध्यात्म पद पाया।

अब हम इस प्राणायाम के अनन्तर जो कहेंगे, वह सब ध्यान और समाधि के मतलब की बात होगी। यहां तक ध्यान और समाधि के पूर्व-कारण बताये गये, क्योंकि आसनों से लेकर प्राणायाम-पर्यन्त जो बातें लिख आये हैं वे आत्म-धर्म नहीं, किन्तु आत्मधर्म-साधन के पूर्व-कारण हैं।

इन बातों को जो कोई अज्ञानी धर्म जानकर ग्रहण करेगा, अथवा ऊपर लिखी बातों को धर्म जानेगा, उस पुरुष को आत्म स्वरूप न मिलेगा, जन्म-मरण मे ही वह पिलेगा, कर्म-बन्धन से न टलेगा। इस रीति से जानो, अब चक्रों का सुनों बखानों।

चक्रों के नाम।

१ मूलाधार, २ स्वाधिष्ठान, ३ मणिपूरक, ४ अनहद, ५ विशुद्ध, ६ आज्ञा, ७ सहस्रदल।

१ मूलाधार चक्र का वर्णन।

इसका प्रकार यह है, कि गुदा से दो अङ्गुल ऊपर मूलाधार चक्र है, इसको गणेश चक्र भी कहते हैं। इसकी चार पँखड़ी हैं। इस चक्र का रङ्ग लाल है—जैसे सूर्य के उदय वा अन्त के समय में बादल लाल होता है, इस तरह का इसका रङ्ग है और उन चारों पँखड़ियों के ऊपर ये चार अक्षर हैं ;—वं, शं, षं, सं। ये चारों पँखड़ियों में इस कदर दमकते हैं कि जैसे अंगूठी आदि में नगीना लगने से वह दमकता है।

स मूलाधार के पास में कन्द है। वह कन्द चार अङ्गुल विस्तार

वाला है। सो मूलाधार से दो अङ्गुल ऊँचा, और लिङ्ग चक्र से एक अङ्गुल नीचा और चार अङ्गुल विस्तार वाला है, तथा अण्डे के समान गोल आकार वाला है, और गुदा ऊपर मेढ़ें अर्थात् कन्द के पास बीच में योनि है उसका त्रिकोण आकार है। और यह पश्चिम-मुखी है--अर्थात् पीछे को मुख है। बंकनाल अथवा ऊर्द्ध्व गमन उसी में होकर है।

कुण्डलिनी नाड़ी ।

उसी स्थान में सर्वदा कुण्डलिनी की स्थिति है। यह कुण्डलिनी, सब नाड़ियों को घेरकर साढ़े तीन आँटे (फेर) देकर कुटिल आकृति से अपने मुख में पूंछ को दवाकर सुषुम्ना विवर मे स्थित है और सर्प के सदृश है तथा बालक के केश से भी सूक्ष्म, और तप्त किये हुए सुवर्ण के सदृश देदीप्यमान है।

और, लाल रङ्ग का काम-बीज उसके शिर पर घूमता है। जिस स्थान में कुण्डली स्थित है, उसी स्थान में काम बीज के साथ सुषुम्ना नाड़ी भी स्थित है। यह कुण्डली नाड़ी महातेजवान् सर्व-शक्ति-संयुक्त है और शरीर में भ्रमण करती है। कभी ऊर्ध्व गामिनी, कभी अधो-गामिनी और कभी जल में प्रवेश करने वाली है।

इसको जगाने की रीति, और कुछ नाड़ियो का वर्णन आगे करेंगे। इस जगह प्रसङ्ग-गत किञ्चित् चिन्ह बताया, इस देदीप्यमान काम-बीज सहित मूलाधार चक्र का ध्यान करने वाले पुरुष को बारह महीने के भीतर जो शास्त्र कभी श्रवण नही किये हैं उन शास्त्रों के रहस्य-सहित भावार्थ समझने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि जो जिस भाषा में अक्षर बांचना जानेगा, उस भाषा का ग्रन्थ कैसा ही क्लिष्ट (कठिन) हो उसके बांचने की और समझने की शक्ति हो जायगी। कदाचित् अक्षर न बांच सके तो दूसरे से श्रवण करके कर्ता के अभिप्राय को ठीक २ समझ सकेगा। और, कुछ दिन पर्यन्त निरन्तर इसका ध्यान करे तो उसके सामने सरस्वती नृत्य करती है और कवितादि निर्द्वन्द्वता से करता है।

२ स्वाधिष्ठान का वर्णन।

इस स्वाधिष्ठान चक्र को लिङ्ग के मूल में छः पाँखड़ी हैं। उनके ऊपर ये छः अक्षर है ;—वं, भं, म, यं, रं, लं। इन्हीं अक्षरों से पाँखड़ी शोभायमान है, और इसका रक्त वर्ण है जो कुछ पीला सा झलकता है। शरत्पूर्णिमा के सर्वकला-पूर्ण चन्द्रमा की तरह सफेद वर्ण का चमकीला (वं) वीज सहित जो कोइ इस चक्र का ध्यान करे, उसको कविता करने की शक्ति होगी, और सुषुम्ना नाड़ी चलाने की शक्ति को प्राप्त होकर नाद को श्रवण करता हुआ आनन्द को प्राप्त होगा।

३ मणिपूरक चक्र का वर्णन।

यह पद्म नाभि की जड़ में है, सुवर्ण के सदृश दस पांखड़ी करके संयुक्त और दसों पांखड़ियों के ऊपर "डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, नं, पं, फं, ये दस अक्षर हैं। इन अक्षरों से संयुक्त, शोभायमान, देखने वाले को आनन्द देने वाला, सूर्य के समान वह्नि वीज है, और उसके आगे स्वस्तिक (साथिया) है, इस अग्नि वीज का सूर्य के समान प्रकाश है। इस मणिपूरक चक्र का वीज-सहित जो कोई पुरुष ध्यान करता है, उसको सुवर्ण आदि सिद्धि करने की शक्ति हो जाती है, और देवताओं के दर्शन होना सुलभ हो जाता है।

४ हृदय कमल-अनहद का वर्णन।

यह अनहद नामक कमल वारह पांखड़ी का है। और वारह अक्षर करके संयुक्त है। वे अक्षर ये हैं—कं, खं, गं, घं, ङं, चं, छं, जं, झं, ञं, टं, ठं। इस पद्म का लाल वर्ण है, और इसका वायु वीज है। इसकी पाँखड़ी (कली) के वीच में विजली के समान चमकती हुई त्रिकोणी एक शक्ति है, उसके वीच में सुवर्ण के समान एक कल्याण रूप लिङ्ग-अर्थात् स्वस्वरूप अनेक अक्षरों करके संयुक्त त्रैलोक्य स्वामी, निर्वाणी, निरञ्जन, अनाथों का नाथ, साक्षात् विराजमान दर्शन देता है। इसके मस्तक के ऊपर छिदी हुई मणि चमकती है। उस वीज-सहित जो कोई इस पद्म का ध्यान करता है, उसको साक्षात् उस कल्याण-रूप मूर्ति का दर्शन होता है और नाना प्रकार की सिद्धि, और ज्ञानादि उत्पन्न होते हैं।

सो इसकी पूर्ण विधि तो नाड़ियों का वर्णन और शक्ति-संचार का वर्णन करने के बाद मानसिक पूजन में कहेंगे। परन्तु इस जगह तो उस कल्याण रूप-मूर्ति देखने के वास्ते परमत, और स्वमत वाले बहुत कुछ कह गये हैं; जिसमें स्वमत वालों का किञ्चित् हाल सुनाते हैं। श्रीआनन्दघनजी महाराज अपनी 'बहत्तरी' में कहते हैं कि ;—

"आशा मारी आसन घर घट में, अजपा जाप जपावे।
आनन्दघन चेतनमय मूरति, नाथ निरञ्जन पावे ॥१॥"

ज्ञानसारजी में भी वे कहते हैं ;—

"हृदय कमल किरण के भीतर, आत्म रूप प्रकाशे।
वाको छोड़ दूरतर खोजे, अन्धा जगत् खुलाशे ॥१॥"

इस वास्ते जो कोई आत्मार्थी होगा, वह ही इन बातों को जानेगा और करेगा।

५ विशुद्ध चक्र का वर्णन।

इस विशुद्ध चक्र का स्थान कण्ठ में है, और इस पद्म की सोलह पांखड़ी (कली) हैं। और इन सोलह पाँखड़ियों पर सोलह अक्षर हैं, वे ये हैं ;—

अँ, आँ, इँ, ईँ, उँ, ऊँ, ऋँ, ॠँ, लृँ, लॄँ, एँ, ऐँ, ओँ, औँ, अँ, अँः। इन अक्षरों करके संयुक्त यह चक्र स्वर्ण के समान चमकता है। परन्तु पद्म का रङ्ग धूएँ का सा है, और इसका आकाश बीज है। जो कोई पुरुष बीज-सहित विशुद्ध चक्र का ध्यान करेगा, वह पण्डित और योगियों में शिरोमणि और सर्व शास्त्रों के रहस्य को जानने वाला होगा। और अनेक तरह की लब्धि प्रकट हो जायगी, और मन की चञ्चलता भी मिट जायगी।

६ आज्ञा चक्र का वर्णन।

यह आज्ञा चक्र नामक पद्म भृकुटी स्थान में है। और इस पद्म की दो पांखडी (कली) हैं। और चन्द्रमा के समान उज्ज्वल शोभायमान है। उन दोनों पाँखड़ियों पर, 'हं क्षं' ये दो अक्षर हैं।

इस पद्म का श्वेत वर्ण है, और शरद पूर्णिमा के चन्द्रमा के सदृश देदीप्यमान, परम तेजस्वी, चन्द्रबीज-अर्थात् (ठं) विराजमान है। इस बीज के साथ उक्त पद्म का जो कोई पुरुष ध्यान करे वह जो इच्छा करे वह ही उसको प्राप्त होता है। और जो कोई इस पद्म का निरन्तर ध्यान करे उसको पहिले तो दीपका धूम्राकार (धुंधला) सा प्रकाश मालूम होता है। फिर चमकता हुआ दीपक के सदृश प्रकाश मालूम होता है। और फिर सूर्य का सा प्रकाश हो जाता है। और परमानन्द-मय होकर मन की चञ्चलता मिटाकर आत्म-समाधि मे प्राप्त होता है।

इन छः चक्रों का वर्णन तो बहुत पुस्तकों में है, परन्तु सातवें सहस्र दल कमल का ज़बानी वर्णन दिखाते हैं।

७ सहस्र-दल कमल चक्र का वर्णन।

यह सहस्र-दल कमल नाम का पद्म कपाल में है। और इसकी हज़ार पांखड़ी (कली) हैं। कितने ही मनुष्य इसको कोरी कल्पना भी कहते हैं। परन्तु गुरुगम से इसका यथावत् हाल मालूम होता है। और जो कुल चक्रों को भेदकर इसमें आकर स्थिति करे वह जड़ समाधि का भेद और जो इसका ध्यान करे वह आज्ञाचक्र, और अनहद चक्र इन दोनों को छोड़कर बाकी चक्रों की प्राप्ति कर सकता है। परन्तु यह अनुमान सिद्धि है। मुख्यता करके इस पद्म अर्थात् चक्र से जड़ समाधि वालों का प्रयोजन है।

इस रीति से षट् चक्र का ध्यान लिखाया, सातवें का प्रयोजन बताया, अब नाड़ियों का वर्णन किञ्चित् दिल में आया। इस लिये उनका भी कुछ वर्णन करते हैं।

नाड़ियों का वर्णन।

नाड़ियों का विस्तार तो तन्दूलव्रयालिया सूत्र में वर्णित है। और अन्य मतावलम्बी कुल शरीर में ७२००० हज़ार नाड़ी मानते हैं, और वे अहोरात्र के इक्कीस हज़ार छः सौ (२१६००) श्वास-प्रश्वास मानते हैं। परन्तु यह मानना ठीक नहीं हो सकता। सर्वज्ञ मतावलम्बी 'तन्दू-

लवयालिया सूत्र' में करोड़ों नाड़ियां शरीर में कही है। परन्तु साढ़े तीन करोड़ रोमावली सर्व मतावलम्वी अङ्गीकार करते हैं, सो यह सब सूक्ष्म नाड़ियो के भेद हैं।

और वज्रऋषभनाराच आदि जो सङ्घयण गिनाएँ हैं सो नाड़ियों के वन्ध हैं। इसको यदि 'तन्दूलवयाली' सूत्र के अनुसार लिखावें तो एक ग्रन्थ पृथक् ही वन जाय। इस लिये जो मुख्य वातें हैं उन्हीं को गिनाते हैं कि छांटते २ अन्त में मुख्य चौवीस ही नाडियां हैं। नाभी के पास में जो कन्द है, उसमें से दस नाडी ऊपर को गई हैं। वे जड़ में से दो २ मिली हुई निकली हैं। सो उसमें भी चार नाड़ी जुड़ी हुई आगे से फटकर और एक विलकुल अलग हैं। ये पांच नाड़ियाँ डावी तरफ से ही जीमणी तरफ और इसी तरह और पांच नाड़ियां जीमनी तरफ से डावी तरफ ऊपर को गई हैं। इस माफिक दस नाड़ियां नीचे गई हैं। और दो २ नाड़ी दोनों तरफ तिरछी (तिर्यक्) गई हैं। इस रीति से चौवीस नाड़ियों का वर्णन किया।

इसमें भी दस नाड़ी मुख्य हैं। कितने ही मतावलम्बी इनको दस वायु भी बताते हैं। प्राण अपानादि दश प्राण पृथक् हैं। और दश नाड़ी मुख्यता करके दशों द्वार में रहती हैं।

और, जिससे ये नाड़ियां वल खींचती हैं, उसी को ऊपर लिखी दस वायु ठहराते हैं। इन दस नाड़ियों के निर्वल होने से इन्द्रियादि भी निर्वल हो जातीं हैं, क्योंकि यह अनुभव की वात है कि जन्म के वाद अन्धा, काना, वहरा हो जाना या नासिका का विषय न रहना, इसी प्रकार जिह्वा का स्वाद कम हो जाना, यह सव नाड़ियों का खेल है।

इस प्रकार नाड़ियों के अनेक विचार हैं। परन्तु हमको तो इस जगह समाधि-प्रभृति योग का वर्णन करना है। इस लिये जिन नाड़ियों से मुख्य प्रयोजन है उन्हीं का वर्णन करते हैं।

इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू, शङ्खिनी, ये दश मुख्य नाड़ियों के नाम हैं। और

भी दो चार नाड़ियाँ योगियों के देखने की हैं सो भी इनके बीच में कहेंगे।

नाड़ियों की उत्पत्ति।

यह इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाम वाली नाड़ियाँ तो आज्ञा-चक्र से उत्पन्न हुई हैं और सहस्र दल कमल के पास में होकर मेरु के बराबर में चलती हुई पश्चिम मुख से निकलकर गुह्य स्थान में होकर कन्द को भेद कर नाभि में जो कन्द है उसमें मिल गई हैं। फिर आगे को नासा द्वारा अन्य चक्रों का भेदन करती हुई निकलती हैं।

और, गुह्यद्वार से ऊपर जो मूलाधार चक्र है उसमें व्याप्त सुषुम्ना नाड़ी के बीच में लिंग देश से निकलकर शिर तक पहुँची हुई वज्र-नाम की एक नाड़ी है वह देदीप्यमान - चमकने वाली है। यह नाड़ी योगीश्वरों को ध्यान में प्रतीत होती है, जो मकड़ी के तार से भी सूक्ष्म है। और सुषुम्ना नाड़ी उक्त छओं पद्मों की नाल का भेद कर गई है। वैसे ही चित्रनाड़ी भी उसी छिद्र से ऊपर को चली गई है। और इसी के बीच में एक ब्रह्मनाड़ी बिजली के समान देदीप्यमान है। और वह नाड़ी सुषुम्ना से भी मोहनीय स्वरूप वाली है। जिनको शुद्ध ज्ञान प्राप्त हुआ है और जिनका आचरण शुद्ध है उनके देखने में यह नाड़ी ठीक ठीक आती है, न कि प्रत्येक मनुष्य इसको देख सकता है।

कुण्डली चलाने का उपाय।

इस कुण्डली के, कुण्डलिनी, नागन, बालरण्डा, शक्ति, आदि कई नाम हैं। यह कुण्डलिनी नामक नाड़ी सब नाड़ियों के ऊपर स्थित होकर मणिपूरक चक्र कर्णिका में आवृत करके ब्रह्मरन्ध्र के द्वार का रोक कर सर्वदा रहती है, और सुषुम्ना को नही जाने देती है। इस लिये प्राण-वायु और अपानवायु को धोंकने वाला—अर्थात् उत्तेजित करने वाला जो पुरुष है वह उस प्राण और अपान वायु की एकता से उत्तेजित हुई

जो अग्नि उससे जागृत होकर मन और प्राणवायु सहित सुषुम्ना को सूचीतंतु न्याय से ऊपर ले जाता है। जैसे सूई में तन्तु पोया हुआ हो तो वह सुई कपडे के अनेक सूतों को भेदकर तन्तु-सहित ऊपर को निकल जाती है। वैसे ही वह करनेवाला पुरुष मन और प्राण वायु के साथ सुषुम्ना नाड़ी को ऊपर ले जाकर अपने आनन्द को प्राप्त होता है।

अथवा, सोते हुए सर्प के समान कुंडली नाड़ी है। उसको जागृत करने के वास्ते पहिले अपानवायु और प्राणवायु से विधिपूर्वक बीच की अग्नि के स्वरूप को तेज करे। अग्नि की तेजीसे उसे जगाकर जैसे अति वेग से चलता हुआ सर्प समान गति को छोड़कर कुटिल गति से जाता है, वैसे ही वह करनेवाला ज्योतिमयस्वरूप होकर सुषुम्ना मार्ग से लय हो जाता है।

जैसे ताले में कुञ्जी लगाने से ताला खुल कर कपाट (किवाड़) खुल जाते हैं वैसे ही कुंडली करके सुषुम्ना रूप कुञ्जी (ताली) से आत्म-स्वरूप कपाट खुल जाता है।

दूसरी रीति से शक्ति-चालनादि का वर्णन।

दूसरा प्रकार यह है कि वज्र-आसन लगाकर हाथों से पगों (पैरों) की एड़ी पकड़ कर कन्द स्थान को दृढ़ता से पीडन करे। और उस वक्त में वज्रासन से ही धोंकनी-कुंभक करके वायु को प्रचलित करे, उस वायु के प्रचलित होने से अग्नि प्रज्वलित होती है, उस प्रज्वलित अग्नि की गर्मी से वह बालरंडा मुख फाड़ देती है। उस समय भी सुषुम्ना करके योगीश्वर अपने स्वरूप का आनन्द पाता है।

अथवा, नाभि स्थान में सूर्य को आकुञ्चन कर कुंडली को चलावे, या चार घड़ी पर्यन्त निर्भय होकर शक्ति चालन करे तो कुंडली कुछ सुषुम्ना में ऊपर को उठे तब प्राणवायु आप ही सुषुम्ना में प्रवेशकर जाती है।

इस शक्ति के चलाने में नोलीचक्र, और भस्त्रिका, कुंभक, और महा-

मुद्रा ये तीनों बहुत उपयोगी हैं। जो पुरुष इनका विशेष रूप से अभ्यास करेगा वही इस बालरंडा को जगाकर सुषुम्ना के संग होकर अपने आत्म-स्वरूप आनन्द को प्राप्त होगा। परन्तु ये सब बाते वायु के साधन से होती हैं। इसलिये वायु के नाम दिखाते हैं:- १ प्राण २ अपान ३ समान ४ उदान ५ व्यान ६ नाग ७ कूर्म ८ कृकल ९ देवदत्त १० धनञ्जय। ये दस वायु सर्व शरीर में रहती हैं।

वायुओं का स्थान

प्राणवायु हृदय में रहती है और श्वास-प्रश्वास को बाहिर-भीतर निकालती है, और जठराग्नि से अन्न पानादि को परिपक्व करती है। अपानवायु मूलाधार से मल मूत्र को बाहिर निकालती है। समानवायु नाभि में रहकर सब नाड़ियो को यथास्थान रखती है। उदानवायु कण्ठ में रहकर शरीर की वृद्धि करती है। व्यानवायु सर्व शरीर में व्याप्त है। वह लेना छोड़ना (आदान-उत्सर्ग धर्म) करती है। नागवायु उद्गार अर्थात् डकार कराती है। कूर्मवायु नेत्रो के पलकों को ऊपर-नीचे लाती है। कृकलवायु नासिका से छींक कराती है। देवदत्तवायु जंभाई (जृम्भा) कराती है। धनञ्जय सर्व शरीर में रहती है। इनको दश प्राण भी कहते हैं। परन्तु मुख्यता जो कुछ है वह श्वास-प्रश्वास की है। जो कुछ काम जगत में हो रहा है वह सब इसकी कृपा है।

इस आर्यावर्त से कितने ही मनुष्योंने योगाभ्यास का भेद पाया है। अरबस्थान वाले मुसलमानों ने यहाँ से योगाभ्यास को पाकर इसका नाम अपने संकेत मे (हबसेदम) रख लिया है, और अङ्गरेज लोगों में 'मैस्मेरिज़म' कहते हैं। ये सब खेल मन-वायु के साथ होने से यथावत् सिद्ध होता है। क्योंकि मन-वायु की एकता होगी, तब चित्त को एकाग्र कर जिस काम में लगावेगा, उस कार्य्य में अवश्य प्रवृत्त होगा। क्योंकि चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है ऐसा भगवान् पतञ्जलिने योग-दर्शन में लिखा है "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २॥" इसका अर्थ यह है

कि 'युज्यतेऽसौ योगः' जो युक्त किया जाय उसको योग कहते हैं। 'चित्तवृत्तिनिरोधः, चित्तस्य वृत्तयः चित्तवृत्तयः चित्तवृत्तीनाँ निरोध इति चित्तवृत्तिनिरोधः' चित्त की वृत्तियों को रोकने को—चित्त की वृत्तियों के निरोध को—योग कहते हैं।

इसलिये इस जगह मनका ठहराना अवश्य ही है। जब तक मन की चंचलता न मिटेगी तब तक योगाभ्यास या और कार्य नहीं हो सकता है। अंगरेज लोगों ने योग के पुस्तकों की देखादेखी और स्वदेश में अनुभवी गुरु के न मिलने से अपनी बुद्धि से परिश्रम करके इस विषय में 'जागतीकला' 'मृतक-मिलाप' आदि कितनी ही पुस्तके छाप कर प्रकाशित की हैं। परन्तु उन पुस्तकों में यथावत् मन ठहराने की रीति न होने से ठीक २ कार्य नही हो सकता और पुस्तक मंगवाने वा बाँचने वालों को ठीक २ फल न मिलने से इस विषय में अविश्वास होता है। और सर्व पुस्तक वाले योगशास्त्र अथवा योगविद्या की साक्षी देकर अपनी २ बनाई हुई पुस्तको के विषय को सिद्ध करते हैं। योगविद्या की जो साक्षी देना है वह तो ठीक है, परन्तु इन पुस्तको के बनानेवाले सज्जन, यदि किसी योगाभ्यास के अनुभवी या अभ्यासी पुरुषों से मन ठहराने की विधि को ठीक २ जानकर इन पुस्तकों में उसे लिखते, तो उनके लिखने का परिश्रम यथावत् सफल होता।

इसलिये प्रसगवश मन ठहराने का दृष्टान्त दिखाते हैं, जिसका बुद्धि-मान् पुरुष बुद्धि से विचार करें। वह दृष्टान्त इस तरह है,—

मन ठहराने पर एक दृष्टान्त।

एक ब्राह्मण कण-भिक्षा अर्थात् अन्न माँग कर खाता था। उसके पास में और कुछ नही था। वह ब्राह्मण प्रतिदिन जङ्गल में दिशा (पाखाना) फिरने जाता था। वहाँ से उठकर एक आक के वृक्ष के नीचे आकर जो कुछ पानी हाथ धोने से बचता वह आक के पेड़ के ऊपर डाल देता और उस जगह लोटा शुद्धकर आप हाथ साफ कर चला जाता था।

इस रीति से पानी डालने २ चिरकाल हो गया था। उस ब्राह्मण को एक कन्या थी। वह विवाह के योग्य हुई थी, परन्तु उस ब्राह्मण के पास इतना धन नहीं था कि अपनी पुत्री का विवाह कर सकता।

एक दिन उस कन्या को बड़ी देखकर वह चिन्तित होता हुआ दिशा फिरने के लिये गया और उस स्थान पर विचारने लगा कि हाय! मेरी बेटी इतनी बड़ी हो गयी और मेरे पास एक पैसा नहीं, इसका विवाह किस प्रकार करूँगा? यह विचार करते २ अपनी गुदा को धोने लगा तो धोते २ जितना पानी लोटे में था वह सब गिरा दिया। और वहाँ से उठकर जिस आक के वृक्ष के समीप सदा लोटा माँजता था, वहीं माँजने लगा। परन्तु जल न बचने से उस आक पर पानी नहीं डाला। तब उस आक के वृक्ष पर रहने वाला एक भूत बोला, कि अरे विप्र! मुझको सदा जल पिलाता था, आज क्यों न पिलाया? उस समय ब्राह्मण बोला कि अरे भाई तू कौन है? जब उसने जवाब दिया कि मैं इस जगह का रहने वाला भूत हूं। तब ब्राह्मण बोला, मैंने तुझको इतना दिन पानी पिलाया, उसका फल आज तक कुछ न पाया। तब वह भूत कहने लगा, तुझे क्या चाहिये? उस समय वह ब्राह्मण कहने लगा कि मेरी बेटी विवाह के योग्य हो गई है, और मेरे पास कुछ द्रव्य नहीं है, क्योंकि मैं भिक्षा मांगकर खाता हूं और भिक्षा भी उतनी ही लाता हू, कि जितनी से मेरा पेट भरे, इसलिये मेरे पास धन एकत्र नहीं हुआ और विना धनके कन्या का विवाह किस प्रकार कर सकता हूं? इस चिन्ता में तुझको जल न मिला।

इस वचन को सुनकर भूत कहने लगा कि, हे विप्र! तू किसी प्रकार सोच न कर। मैं तेरे वास्ते पांच हज़ार रुपये का उपाय करता हूं, वन्दर रूप धरता हूं, तेरे साथ चलता हूं, परन्तु तू अपने मुख से मेरी कीमत न कहना। जो कोई तुझसे पूछे तो कहना कि यह वन्दर अपनी कीमत कह देगा। इतना कहकर वह भूत वन्दर वन गया, और ब्राह्मण

के साथ बातें करता हुआ नगर में पहुंचा। और वह ब्राह्मण जहाँ सेठ साहुकारों की दुकानें थीं, वहाँ उसको ले गया।

अब जो कोई साहुकार उस वन्दर को बातें सुनता वही उसको लेने के लिये तय्यार होने लगा। जब यह वन्दर अपनी बात को प्रगट करता, तब उसे सुनकर सब चुप हो जाते थे, और वन्दर को मोल न ले सकते थे।

इस रीतिसे वह ब्राह्मण घूमता २ एक बडे सेठ के पास पहुंचा, जो कि उस नगरी मे सबसे बड़ा था और जिसकी देश देशान्तरों में जगह जगह पर दुकानें थीं। उस जगह वह वन्दर नाना प्रकार की अच्छी २ बातें करने लगा। वह साहूकार उस वन्दर की बातें सुनकर खुश हुआ और ब्राह्मण से पूछा कि तुम इसको बेचते हो? तब ब्राह्मण बोला, कि हां, बेचता हूं। तब सेठने कहा कि इसकी कीमत क्या है? तब ब्राह्मण ने जवाब दिया कि, कीमत इस वन्दर ही से पूछ लो। तब सेठने वन्दर को पूछा कि हे वन्दर! तेरी क्या कीमत है? तब वन्दर बोला कि सेठ-जी पहले मेरे से एक बात की प्रतिज्ञा कर लो तो पीछे मैं अपनी कीमत कहूंगा। तब सेठ बोला कि तू किस बात की प्रतिज्ञा कराना चाहता है? तब वह वन्दर बोला कि मैं बेकाम नही बैठूंगा, निरन्तर काम करता रहूंगा, यदि तुम मुझको काम न बताओगे तो मैं तुम्हारा भक्षण कर लूँगा। पहिले इस बात की प्रतिज्ञा करो तो मैं अपनी कीमत आप को बताऊं। इस बात को सुनकर सेठने विचार किया कि मेरे यहाँ सैकड़ों हज़ारों आदमी काम करते हैं। तो यह अकेला बिचारा वन्दर कितना कार्य करेगा, इसको बैठने को कब फुरसत मिलेगी? इतना बिचार करके हँसा। और कहने लगा, कि हे वन्दर! मैंने तेरी बात स्वीकार की, अब अपनी कीमत कह दे। तब वह वन्दर कहने लगा कि पाँच हज़ार रुपया इस ब्राह्मण को दे दो, मैं तुम्हारा हो चुका। उसी समय सेठने उस ब्राह्मण को पांच हज़ार रुपया देकर बिदा किया।

जब सेठ उस वन्दर को काम कराने लगा तब वन्दर भी आज्ञा के

अनुसार चलने लगा, तत्काल उस काम को बजाकर आने लगा, और दुसरे काम की इजाज़त माँगने लगा। इस प्रकार सेठजी ने दो तीन दिन काम चलाया।

परन्तु अन्त में परेशान होकर अपने चित्त में विचारने लगा, कि मैंने बन्दर क्या मोल लिया अपना काल मोल लिया। इस प्रकार विचार करता हुआ उस बन्दर को बैठा कर अपने घर चला गया। और घर में बैठकर अपना प्राण बचानेका विचार करने लगा, कि इस बन्दर से प्राण कैसे बचाऊँ, किस जगह जाऊँ, क्या उपाय लगाऊँ, इत्यादि सोच में बैठा हुआ विचार कर रहा था।

उसी समय कोई ज्ञानी गुरु परोपकारी भिक्षा के वास्ते रटन करते हुए उसके घरमें चले आये ; और उस सेठको देख कहने लगे कि भो देवानुप्रिय! ऐसी तुझको क्या चिन्ता है जो उग्र सोच में बैठा हुआ है?

तब वह सेठ खड़ा होकर गुरु महाराज से प्रणाम करके प्रार्थना करने लगा, कि हे स्वामिन्! मैंने एक बन्दर मोल लिया था, वह बन्दर इतना चञ्चल और ऐसी मीठी-मीठी बातें करता था, कि उसको देखते ही मेरा चित्त उस पर मोहित हो गया। तब मैंने उसके मालिक से क़ीमत पूछी। उस समय बन्दर बेचनेवाला कहने लगा, कि मैं इसकी क़ीमत नहीं कह सकता। जो तुमको लेना हो, तो इस बन्दर से पूछो, यह बन्दर आप अपनी क़ीमत कहेगा। जब मैंने बन्दर से क़ीमत पूछी, कि तेरी क्या क़ीमत है? उस समय वह बन्दर कहने लगा कि हे सेठ! पहिले मेरी एक बातकी प्रतिज्ञा करो, उसके बाद क़ीमत पूँछना। जब मैंने कहा कि हे भाई! किस बातका इक़रार करता है? तब बन्दर कहने लगा, कि काम सदा करता रहूँगा, कभी निकम्मा न रहूँगा, जो तुम मुझको काम न बताओगे, तो मैं तुम्हारा भक्षण कर लूँगा। पहले इस प्रतिज्ञाको मंजूर करो तो मैं अपनी क़ीमत कहूँ। जब मैंने इस बातको सुना, तब दिलमें विचारा कि मेरे यहाँ हज़ारों मनुष्य काम

करते हैं, इस बेचारे को निकम्मा रहने का कब समय मिलेगा? ऐसा विचार कर उससे कहा कि मैंने तेरी प्रतिज्ञा स्वीकृत की, अब तू अपनी क़ीमत कह। तब उसने अपनी क़ीमत कही, मैंने उसके कहनेके अनुसार उसके मालिक को क़ीमत देकर बन्दर को मोल ले लिया। उसको जो २ काम बताया, सो वह तत्काल कर लाया, इस रीति से दो चार दिन मैं काम बताता रहा, जब कि वह हर एक कामको करने लगा, तब मैं उसके कामको देखकर घबराया, कि मैं इससे जिस कामको कहता हूँ, उसको तत्काल ही कर लाता है। इसको मैं क्या काम बताऊँ? जब मैंने उसके करने के योग्य कोई काम न देखा तब उस बन्दरको दूकान पर छोड़कर घर पर चला आया। जो मैं दूकान पर जाऊँ, और उसको काम न बताऊँ तो वह मुझे खा जायगा। इस सोचमें बैठा हूँ, सो हे भगवन्! उस बन्दरसे मुझको प्राण बचाना कठिन हो गया है।

इस बातको सुनकर गुरु महाराज कहने लगे, कि भो देवानुप्रिय! वह बन्दर नहीं है, किन्तु भूत है, उसको काम करने में अथवा आने जानेमें देर नहीं लगती। सो हम अब तुझको उपाय बताते हैं, जिससे तू उससे बच जायगा, जो तू वह उपाय करेगा, तो वह बन्दर तेरा कुछ नहीं कर सकेगा। और जो तू न करेगा तो तेरा प्राण उस बन्दर से कदापि न बचेगा।

उपरोक्त वचनोंको सुनकर सेठके मनको धैर्य हुआ और हाथ जोड़ कर विनती करने लगा कि हे भगवन्! कृपा करके शीघ्र ही ऐसा उपाय बताइये, कि जिनसे मैं इस फन्दे से छूटूँ।

तब गुरु महाराज कहने लगे, कि भो देवानुप्रिय! तू अपनी दुकानके आगे एक बांस गड़वा दे, और उस बन्दर के गले में जञ्जीर डालकर उस बाँसमे अटका कर उस बन्दरको हुक्म दे दे, कि तू इस बांस पर चढ़ और उतर, यही तेरेको काम बताया। और तेरा कोई काम होगा तो शृङ्खलासे (जञ्जीर से) खोलकर अपना काम करवा

लूंगा। इतना उसे कहकर फिर जञ्जीर से बाँधकर चढ़ना उतरना बता देना। इस उपाय से वन्दर तेरेको नहीं खायगा, तावेदार वनाही रहेगा। यह दृष्टान्त कहा।

अब इसका दार्ष्टान्तिक अर्थ उतार कर दिखाते हैं, कि यह मन रूपी वन्दर इस जीवके साथ में लगा हुआ है। सो यह कभी स्थिर अर्थात् खाली नहीं वैठता। इस मन रूपी वन्दरके वास्ते जो कोई सद्गुरु मिले, और योग्य समझकर यथावत् आलम्बन रूप वाँसका गाड़ना बताकर मन रूपी वन्दर को शृंखला से वाँधकर इस वाँसपर चढ़ना उतरना बतावे, तो यह मन रूपी वन्दर भव्यजीवके वश में आवे, दुर्गति से रुक जावे, आत्माका स्वरूप यथावत् पावे, इसमे अनेक प्रकारके चमत्कार दर्शावे, जो जिज्ञासा वाला चाहना करके लावे। क्योंकि ऊपर लिखे दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकके अनुसार मैंने कितने मनुष्योंको वतलाया था, और अनुभव भी कराया था, परन्तु जिज्ञासा अर्थात् चाहना विना आगेको कुछ न पूछा। उतने ही में तृप्त होकर कर्त्तव्य छोड़ वैठे।

सो यह वात जातिकुल के जैनियो के सिवाय और भी कितने ही मतावलम्वियोंको ऊपर लिखेके अनुसार वताया, अवलम्वन वताकर मनको ठहराया, मैंने उनमें आत्मार्थ न पाया, क्योंकि उन्होने मेरेको चमत्कार देखनेको सुनाया, इसलिये मेरा भी चित्त घवराया, अपात्र जानकर जो कुछ वताया उससे भी पछताया, आगेको वताने में मेरा दिल न हुलसाया, क्योंकि शास्त्रोंमें ऐसा लिखा है, कि जो जिज्ञासु आत्मार्थी, विशेष चाहने वाला, शील, सन्तोष, क्षमादि गुणों करके सहित, विनय-सम्पन्न और श्रद्धा अर्थात् वचनके ऊपर विश्वास करनेवाला हो और यदि गुरु परीक्षाके लिये अनेक प्रकार से दुर्वचनादि, ताड़ना, अथवा विपरीत आचरण करके उसके चित्तको विक्षिप्त करे, तो भी वह जिज्ञासु गुरुकी चरण-सेवा, भक्ति, विनय, आदि से न्यून न हो; उसको हो वस्तु वताना। सर्वमतावलम्वी इस वातको अङ्गीकार

करते हैं। और अपने अपने जिज्ञासुओं को इस रीतिसे सुनाते भी हैं।

परन्तु उन जिज्ञासुओंको अपने गुरुके वाक्य पर यथावत् विश्वास नहीं होता, क्योंकि वर्त्तमान कालके उपदेशक लोग, चाहे वह साधु हो या गृहस्थ, अपनी स्वार्थ-सिद्धिके वास्ते झूठ, छल, कपट, करते हैं और अपने २ मतवाले जिज्ञासुओंको विश्वास दे दे कर उनका माल ठगते हैं, क्योकि जो आजकल विरक्त बनते हैं, उनमे अधिकांश दु:खगर्भित वैराग्यसे घरको छोडे हुए होते हैं, या छोटपन से मात-पिताने वेंच दिये होते है, अथवा वेषधारियोंके बहकाये हुए होते हैं, या करजा आदि के डर के मारे या ऐसे ही कोई कारण से सिर मुण्डवाये होते हैं, इन लोगों का ज्ञानगर्भित वैराग्य न होने के कारण, साधु बननेका तात्पर्य्य यही होता है कि - अपनेको पूजाना, लोगोमे आडम्बर दिखाना, उत्तम साधु बन जाना, न्याय-व्याकरणादि पढ़कर अपना मनःकल्पित अर्थ लगाना, जगत् में झगड़ा मचाना, आप उत्तम साधू महात्मा बन जाना, जिनसे भिक्षा मांग कर लाना उन्हीको पीछे फिर किसी रीति से खिलाना, उलटी गङ्गाको बहाना।

दूसरे गृहस्थ उपदेश दाता भी इसी रीति से धन इकट्ठा करते हैं, क्योंकि उनको लुगाई, लड़का, बहिन, बेटी आदिका पोषण और अनेक तरह का संसारी कृत्य करना पड़ता है, जो विना धन के नही होता है। इसलिये उन्होने भी ऐसा जाल फैलाया, अपने सिवाय दूसरेको देना भी नहीं बताया, अपने लेनेमें ही स्वर्ग-मोक्ष ठहराया, अतिथि-अभ्यागत आवे तो सूखा, बासी, टुकडा देना सिखाया, अच्छा माल निजको खिलानेको समझाया, बल्कि संन्यासी वैरागी आदि मरे तो उनके चेलों से भी भण्डार कराया, अपने खानेको फरमाया, इत्यादि बातोसे सर्व मतावलम्बियों का विश्वास उठ गया। क्योंकि सर्व मतावलम्बियोंके आचार्य्योंने जातिकुलके धर्मका बाड़ा बनाया। उस बाडेमें से निकलना जिज्ञासुओंको कठिन हो गया।

इस लिये जो कोई सद्गुरु उपदेश-दाता निर्लोभी आत्माका अर्थ बतानेवाला हो, तो उसका भी संग, ऊपर लिखे जालियोंसे डरे हुए जिज्ञासु लोग, नहीं करते हैं। जैसे उनसे डरे वैसे ही सच्चे से भी डरते हैं, इस लिये परिश्रम नहीं करते हैं,इस लिये वे सच्चे उपदेश-दाता भी उनके आगे दूसरा उपदेश नही धरते हैं, चमत्कार देखनेवालोंसे अलग भागते हैं। किसीने यह ठीक ही कहा हैं कि—

"पानी पावत क्या फिरो, घर २ सायरवारी।
तृषावन्त जो होवेगा, पीवेगा झख मारी॥"

इसका मतलब यह है कि वर्त्तमान कालमें उपदेश-दाता लोग गृहस्थियों के घर २ मे जाकर उनको बुलाते है, और उपदेश सुनाते-है, परन्तु गृहस्थ लोग उस उपदेशको विना चाहनाके ग्रहण नहीं करते और वह आत्म रूपी जल तिरोभावसे सबके घटमें बन रहा है। परन्तु इच्छा अर्थात् प्यास के विना उस जलको कोई अङ्गीकार नहीं करता, जिसको आत्मरूप जलकी पिपासा होगी, वह पुरुष उस जलकी खोज करके आपसे आप पीवेगा। इस प्रकार उक्त पद में दुःखगर्भित और मोहगर्भित वैराग्यवालोंको टकोरके साथ शिक्षा दी गई है।

पहिले के उपदेश-दाताओंमें आजकलकी तरह छल, कपट, धूर्त्तता न थी, इसीसे वे जिज्ञासुओंको विश्वास दिलाते थे, आर्यावर्त के मनुष्य उनके ऊपर विश्वास लाते थे, अपनी मुराद पार पाते थे।

विलायत वाले भी यहाँ ही से इस योगाभ्यासकी रीतिको ले जाकर अपनी बुद्धिके अनुसार अपनी अपनी कल्पनाओंको साथमें जोड़कर नाम बदल कर इसको फैलाते थे।

इस लिये पाठक गणसे यही कथन है कि जो इस आर्यावर्त देशमें, दबी हुई अग्निकी तरह योगाभ्यास की रीति है, वह दूसरी जगह नहीं। इस लिये इस आर्यावर्त्त देशमें ही अन्वेषण (खोज) करो, क्यों मेस्मेरिज़मके झगड़े में पड़ते हो? क्योंकि जिस पुरुषने वायुको स्थिर करनेकी और उसमे मन मिलाने की रीति यथावत् पायी है, वह

पुरुष सब काम कर सकता है, उसके लिये मेज (टेबल) का बिछाना, और चार या आठ कुरसी (चेयर) का बिठाना, बिना मन-वायुकी एकतासे चित्त को स्थिर करना, यह बात कदापि न बनेगी, और इस मन-वायुके मिलनेको ही अङ्गरेज लोगोंने विद्युच्छक्तिका नाम दिया हैं। परन्तु वे मन-वायुको स्थिर करनेकी यथावत् कुञ्जी न मिलनेसे कहते हैं, कि अभ्यास करनेसे विजुली तेज होती है। परन्तु यह कहना उनका ठीक नही, क्योंकि देखो जिस योगीमें योगाभ्यास द्वारा मन-वायु को एक करके श्वास बढ़ाना—अथवा घटाना ये दोनो प्रकारकी शक्तियाँ हैं, उस पुरुषकी सामर्थ्य है कि जिस जगह चाहे उस जगह पर पहुँच जाय। इस विषयका एक दृष्टान्त दिखाते हैं;—

जिस समय स्वामी शङ्कराचार्यने मडनमिश्रको जीतकर सन्यास दिया। उस समय उसको स्त्री सरसवाणी आकाश में जाती थी, उस समय शंकराचार्य्य ने उसको रोककर कहा कि तू मुझ से जो प्रश्न करेगी उसका मैं उत्तर दूँगा। उस समय सरसवाणी ने शंकराचार्य्य का तिरस्कार करने के लिये नायिका के भेद पूछे। इस प्रश्न को सुनकर शकराचार्य्य को उत्तर न आया, तब सरसवाणी से छः महींने के वास्ते उत्तर देने को प्रतिज्ञा कर अन्यत्र गए। तब एक नगर में राजा का मृतक देखकर उसके शरीर में प्रवेश कर गए। यह परकाय (दूसरे के शरीर) में प्रवेश करनेका अर्थ यही है, कि वे उस मन-वायु की एकता करके श्वास के मार्ग से अपने तैजस शरीर को उस राज-मृतक शरीर में ले गए। यह हाल शंकर-दिग्विजय में लिखा है, वहां से देखो। हमको तो इतना परिचय देना था कि इस मनोवायु को एकता से जो कोई श्वास को बढ़ाकर जो काम करेगा सो सिद्ध कर लेगा।

दूसरा, श्री जैनमत के सिद्धान्तों में भी ऐसा कहा है, कि जो तेतीस सागर की आयुवाले देवता हैं, उनको यदि द्रव्यानुयोग के सूक्ष्म सिद्धातों में कही षट्द्रव्य की चर्चा में सदेह उत्पन्न होवे, तो जिनेन्द्र भगवान् इस क्षेत्र में बैठे हुए ही मन वायु की एकता से इन, देवताओं के सशय दूर

कर देते हैं। इस तरह मन-वायु की एकता से श्वास का खेल सद्‌गुरुओं ने बताया, इसका अनुभव इस अधम, अभागी, जिनधर्मका दास चिदानन्द ने भी पाया।

योगशास्त्र मे हेमाचार्य ने भी ऐसा लिखा है कि जो मनुष्य मन-वायु की एकता कर लेता है वह मनुष्य हजार कोस पर बैठे हुए मनुष्य के शरीर को अपने श्वास-बल से वश कर डालता है। इस रीति से मेश्मेरिज़म वाले भी किसी सद्‌गुरु से मन-वायु की एकता करनी सीखे, और फिर इस मेश्मेरिज़म को करें, तो जिसके शरीर मे जिस रूह (जीव) को बुलाना चाहें, उसी को बुला और जितना काम लेना चाहें उतना ही ले सकें, और जो साधन का परिश्रम करते हैं उसको छोड़ दें तथा बिजुली का कहना भी भूल जायँ।

हमने इस जगह किंचित् परिचय लिखाया, सद्‌गुरुओं ने अपने जिज्ञासुओ को विशेष कर दिखाया, जो उन गुरुओ ने अनुभव कराया, वह लेखनी से लिखने में न आया, गुंगे का गुड़ खाना जताया, उसने खाकर स्वाद लिया, पर जिह्वा से कहने न पाया, जिसने पाया उसने छिपाया, गुरुओं ने ऐसा ही फरमाया, निगुरो ने रास्ता न पाया, केवल अपना गाल बजाया, उलटा वेषको लजाया, साधु नहीं, नाम साधु का धराया, गृहस्थियों का माल खाय उन्ही को लड़ाया, आप डूबे और उनको डुबाया।

मेश्मेरिज़म की आलोचना के बाद किंचित् 'मृतक-मिलाप' नामक पुस्तक बनाने वालेका भी हाल लिखते हैं :—

इस 'मृतक-मिलाप' नामक पुस्तक बनानेवाले ने इस पुस्तक में अपनी बुद्धि का परिश्रम तो बहुत किया, परन्तु सद्‌गुरु के न मिलने से मनमाना लिख दिया। किसी जैनी अध्यात्म-अनुभवी आत्मार्थी का संग न हुआ, इसलिये उसको संदेह उत्पन्न हो गया। क्योंकि देखो जैन सिद्धान्तों में पांच प्रकार का शरीर कहा है, जिनके नाम ये हैं :—कार्मण, तैजस, औदारिक, वैक्रिय और आहारक। इन पांच प्रकार के शरीरों में चौरासी लक्ष योनियों का समावेश है। इन पांच

शरीरों से रहित संसारी जीव तो कोई नहीं है। और जो इन पांच शरीरों से रहित है, वह है सिद्ध भगवान्, जो निराकार, निरञ्जन, ज्योति-स्वरूप, परमात्मा, परब्रह्म, सच्चिदानन्दमय, स्वरूप-भोगी, स्वस्वरूप रमण, अव्यावाध, अनवगाही, अमूर्ति, अनाहारी, अव्यवहारी, अचल, अविनाशी, अलख-स्वरूप हैं। बाकी कुल जीव इन पांच शरीरों से सहित हैं। वैक्रिय शरीर नरक-गति और देवगति वाले का होता है। आहारक शरीर १४ चौदह पूर्वधारी किसी कारण से धारण करता है और औदारिक शरीर सर्व मनुष्य और तिर्यञ्च योनिवालों को मिलता है।

वैक्रिय वाले देवों की चार निकाय है—१ भवनपति, २ वानव्यतर, ३ ज्योतिषी, ४ वैमानिक। इन चारों निकायों में अनेक जातियाँ देवताओं की हैं। जैसे मनुष्यों में चार वर्ण छत्तीस कौमें प्रसिद्ध हैं, परन्तु जाति-भेद नाना हो रहे हैं, जैसे ब्राह्मणों में पांच गौड़, और पांच द्राविड़, इन दश को मुख्य कहते हैं, परन्तु सैकड़ों तरह की ब्राह्मणों में जातियाँ प्रसिद्ध हैं। यदि सब जातियों के नाम लिखावें तो एक ग्रन्थ पृथक् ही बन जाय। वैसे ही क्षत्रियों में सोमवशी, सूर्यवंशी प्रसिद्ध हैं, परन्तु इनमें भी अनेक तरह के भेद हैं; उसी प्रकार वैश्यों में साढ़े बारह न्यात बाजती हैं, परन्तु अनेक जातियां हैं, ऐसे ही शूद्रों में भी अनेक तरह के जैसे शूद्र हैं, वैसे ही चार निकाय के देवताओं में मनुष्यों की तरह अनेक प्रकार की जातियाँ जानो; भूत, प्रेत, पिशाच, खवीश, जिन्द, मसान, राक्षस, झोटिंग, काचाकलुआ, आदि को नीच जाति में मानो, इन सब के वैक्रिय शरीर पहिचानो, भैरव-वीरादि इनसे उत्तम मन आनो, यक्ष यक्षणी उनसे उत्तम मानो, इसी रीति से देवताओं की जाति पहिचानो। ये सब वैक्रिय शरीर वाले हैं।

वह वैक्रिय शरीर औदारिक शरीर वाले की दृष्टि में नहीं आता। इसलिये यदि वे इच्छा करें तो प्रत्येक औदारिक शरीर वाले के शरीर में घुसकर इच्छानुसार बातें करें, अथवा अपने मनुष्य-जन्म के औदारिक

शरीर के अनुसार वैक्रिय शरीर को बनाकर प्रत्यक्ष दिखाई दें, तो कोई आश्चर्य की बात नही हैं।

यह आश्चर्य उन्ही को उत्पन्न होता है जिनको यथावत् सद्गुरु का योग नहीं मिला। उन भूत-प्रेतादि की बातों में अन्तर भी पड़ता है, इसका कारण यह है कि जैसे मनुष्यों में क्षुद्र मनुष्य, अपनी तारीफ़ अनभिज्ञों (अनजानों) के सामने अनेक प्रकार से करता है, अपनी शक्ति से बाहिर की बात सुनाता है, चित्त में विचार कुछ नहीं लाता है; उसी प्रकार वे भूत-प्रेतादि भी अपनी तुच्छ शक्ति को बिना विचारे अनजान मनुष्यों के सामने अनेक तरह के झूठ-सत्य दर्शाते हैं, कोरे गाल बजाते हैं, अपनी शक्ति से बाहिर बात कर झूठे बन जाते हैं। इसलिये उनके वचन में असभवता होनी ठीक है। जिस रीति से इस मर्त्यलोक में जैसे २ मनुष्यों की जाति, कुल, उत्तम २ होते हैं और उनके बल, बुद्धि, प्रभाव भी अधिक २ होते हैं वे पुरुष वैसा ही वचन निकालते हैं कि जिस काम को कर सकें। वे अपने वित्त से बाहिर वचन को न निकालेंगे, अपनी प्रतिज्ञा को पालेंगे, ऊँच नीच को सभालेगे, लोगों के चित्त में कदापि भ्रम न डालेंगे। वैसे ही देवता भी जिस २ निकाय मे जैसी २ जाति में उत्पन्न हुए हैं, उसी प्रकार अपनी जाति के अनुसार जिस मनुष्य का तीव्र पुण्य होगा, उसके पास वे आवगे, अपने कहने के अनुसार कर दिखावेंगे, जरा भी विलम्ब न लगावेंगे, काम कर तत्क्षण अदृश्य हो जावेंगे।

इसका विशेष वर्णन तो समाधि के भेद में समाधि-स्थित पुरुष के वर्णन में कहेंगे। इस जगह तो प्रसग से इतना लेख 'मृतक-मिलाप' नामक पुस्तक बनाने वाले के सन्देहों को दूर करने के लिये लिखते हैं कि इस जीव का मरना तो कोई भी मतावलम्बी अंगीकार नहीं करता। परन्तु प्राण का वियोग और शरीर का छूटना और दूसरे शरीर में पहुंचना इस व्यवहार को मरना निश्चित किया है। इस लिये जो जीव पुण्य-पाप करता है, उस पुण्य-पाप के बल से जिस गति में जायगा उस गति का

शरीर अंगीकार करेगा, उस गति के आचार को आचरण में धरेगा, अपनी आयु पर्यन्त उसी गति में सुख-दुख भरेगा, आयु पूर्ण होने से फिर दूसरी गति वरेगा। इसलिये उन भूत-प्रेतादि का बुलाना आश्चर्य जनक नहीं, परन्तु उन बुलाने वालोंने टेबल के ऊपर बैठकर मृतक को बुलाना बताया, यह शून्य जाल फैलाया, मन-वायु की स्थिरता के बिना किसी के हाथ असल मतलब न आया। इसलिये हम कहते हैं कि उन्होंने सद्गुरु न पाया, पुस्तक छपाकर जैन यंत्रालय को लजाया, भगवान्दास ने जैनी बनकर क्यों लोगों को हसाया? नाम के जैनी बने परन्तु जैन धर्मका रहस्य न पाया, अच्छा; हमने इस झगड़े को छोड़कर आगे का लिखाना प्रारम्भ कराया, अब मानसी पूजा कहने का समय आया।

मानसी पूजा की रीति।

पुरुष मानसी पूजा के योग्य तब होता है, जब कि वह आधार और भावना को यथावत् धारण करे। इसलिये हमको इस जगह आधार और भावना अवश्य ही लिखनी पडी। क्योंकि जो पुरुष धारणा धारण करने के योग्य नहीं, वह मानसी पूजा के भी योग्य नहीं हो सकता। इसलिये पहले मानसी पूजा के अन्तर्गत 'हठ-प्रदीपिका' के अन्दर जो १६ सोलह आधार लिखे हैं उनको बतलाते हैं:—१ अङ्गुष्ठ, २ गुल्फ, ३ जानु, ४ ऊरू, ५ सीवनी, ६ लिंग, ७ नाभि, ८ हृदय, ९ ग्रीवा, १० कठदेश, ११ लम्बिका, १२ नासिका, १३ भ्रूमध्य, १४ ललाट, १५ मूर्धा, १६ ब्रह्मरन्ध्र। इतने नाम गिनाकर इस ग्रन्थवालेने गोरक्ष सिद्धान्त का नाम लिया है। और 'गोरक्षपद्धति' में मूल में तो ये नाम खुले लिखे नहीं हैं, उसकी भाषा करनेवालों ने मूल श्लोक को लिख कर अन्य ग्रन्थों से वे नाम लिखे हैं। सो मुझे अनुमान से मालुम होता है कि, उस भाषा करने वाले ने 'गोरक्षसिद्धान्तादि' अथवा किसी गुरु से जानकर वे नाम लिखे होंगे। वह मूल श्लोक इस प्रकार है:—"षट्चक्रं षोडशाधारं, द्विलक्ष्यं व्योम-पञ्चकम्। स्वदेहे ये न जानन्ति, कथं सिध्यन्ति योगिनः ॥१३॥"

भाषा—छः चक्र, और सोलह आधार, दो लक्ष्य, और पांच आकाश इन चीजों को जो योगी स्व-देह में नही जानता, उसको सिद्धि क्यों कर होगी? अर्थात् विना जानने वाले को योगसिद्धि कदापि न होगी। इस श्लोक का अर्थ तो इतना ही है।

अब जो भाषा बनाने वाले ने सोलह तरह के आधार लिखे हैं वे दिखाते हैं। उन सोलह आधारों का प्रयोजन तो उस पुस्तक से देखो, क्योंकि उस सब को लिखने से ग्रन्थ अधिक बढ़ जायगा, इसलिये नाम मात्र ही दिखाते हैं;—१ पगका अंगुठा, २ मूलाधार, ३ गुह्याधार, ४ वज्रोली, ५ उड्डीयानबन्ध, ६ नाभिमण्डलाधार, ७ हृद्याधार, ८ कण्ठाधार ९ क्षुद्रकंठाधार, १० जिह्वामूलाधार, ११ जिह्वा का अधोभागाधार, १२ अर्द्धदन्तमूलाधार, १३ नासिकाग्राधार, १४ नासिकामूलाधार, १५ भ्रूमध्याधार, १६ नेत्राधार। ये सोलह आधार हैं।

दूसरी रीति के आधारों का वर्णन।

१ मूलाधार, २ स्वाधिष्ठान, ३ मणिपूर ४ अनाहत ५ विशुद्ध, ६ आज्ञाचक्र ७ विन्दु ८ अर्धेन्दु, ९ रोधिनी, १० नाद, ११ नादान्त, १२ शक्ति, १३ व्यापिका, १४ शमनी, १५ रोधिनी, १६ ध्रुवमण्डल। ये १६ आधारोंके नाम हैं। ब्रह्म तथा अपने में अभेद समझ कर भावना करनेसे सिद्धि होती है।

अब दो लक्ष्य कहते हैं—एक तो बाह्य दूसरा अभ्यन्तरीय है। देखने के उपयोगी भ्रूमध्य तथा नासिका, इत्यादि बाह्य लक्ष्य हैं। मूलाधार चक्र, हृदयकमल, इत्यादि आभ्यन्तरिक लक्ष्य हैं।

पांच प्रकार के आकाश।

पहिला श्वेतवर्ण ज्योतिरूप आकाश है, इसके भीतर रक्तवर्ण ज्योतिरूप प्रकाश हैं, इसके भीतर धूम्रवर्ण ज्योतिरूप महाआकाश हैं, इसके भीतर नीलवर्ण ज्योतिरूप महातत्वाकाश है, इसके भीतर विजली के वर्ण का ज्योतिरूप सूर्याकाश है। ये पांच आकाश हैं। ये ६ चक्र

१६ आधार, २ लक्ष्य, ५ आकाश शरीर में हैं। इनको जो योगी नहीं पहिचानता, उसको योग सिद्धि नहीं होती।

इस रीति से आधार का वर्णन किया, 'गोरक्षपद्धति' का लेख लिख दिया, हमने फिर दिल से विचार किया, अनुभव से आधार-लक्ष्य-भावना कहने को हुलसा मेरा हिया। अब जो २ मुख्य प्रयोजन, आधार लक्ष्य और भावना के हैं, उनका वर्णन करते हैं, आधार नाम उसका है कि जो आधेय को रक्खे। इसका तात्पर्य यह है, कि जैसे स्तम्भ पट्टी को धारण करता है वैसे ही जो जिसको धारण करता है, वह उसका आधार है, सो आधार संसार में अनेक हैं। सो इस योगसिद्धि में आधार ये २ हैं :—१ एक उपादान आधार, दूसरा निमित्त आधार, १ मुख्याधार और गौणाधार; १ द्रव्याधार और भावाधार; १ स्वाधार, २ पराधार, १ बाह्याधार २ आभ्यन्तराधार, १ उपचरित और अनुपचरित आधार। इस रीति से इन आधारों के अनेक भेद हैं। विशेष गुरुगम से जानो, हमने ग्रन्थ बढ़ जाने के भय से न लिखानो, नाम मात्र से ही पहिचानो, गुरुचरण सेवा से विशेष समझो ज्ञानो।

लक्ष्यार्थ कथन।

लक्ष्य वह है, जो लक्षण से पहिचाना जाय। अथवा लक्ष्य नाम वस्तु दिखाने का भी है। और लक्ष्य नाम निशान का भी है, सो इस योगाभ्यास में वस्तु का देखना वही लक्ष्य है।

भावनार्थ का वर्णन।

भावना का अर्थ इस प्रकार है कि 'भावयतीति भावना'। तात्पर्य यह है कि विचार करना। उस विचारी हुई वस्तु में सत्य को ग्रहण करे असत्य को छोड़े।

'गोरक्षपद्धति' में जो पांच आकाश लिखे हैं सो पञ्चतत्त्वादि पांच पद, अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु ये हैं। क्योंकि आकाश एक है, पांच नहीं हैं, परन्तु तत्त्वों की अपेक्षा से पाँच आकाश

ग्रान कर कहा है। इस रीति से इतना अर्थ कहा। अब मतलब बतलाते हैं कि ऊपर लिखे आधारों को समझ कर जानें, हमारे लिखे चारों भेदों को पहिचानें, तो योग-सिद्धि यथावत् घट में आने, बिना इनके योगाभ्यास में न लगे ठिकाने।

प्रश्नः—आपने ऊपर लिखे आधारों को अङ्गीकार न किया, और दूसरे ही आधार बताये, तो क्या बुद्धिमानोंने ऊपर लिखे आधारों को व्यर्थ ही कहा है?"

उत्तर—भो देवानुप्रिय! ऊपर लिखे आधार जो बुद्धिमानों ने लिखे हैं, वे आधार नहीं, किन्तु कर्तव्य हैं। कर्तव्य उसको कहते हैं कि जो करने के योग्य हो। और आधार वह है, कि जिसके आश्रय रहे। इसलिये बुद्धिमान् बुद्धि-पूर्वक पक्षपात को छोड़कर विचार करेगा, तो हमारे लिखने के अनुसार ही अङ्गीकार करेगा और जो बुद्धिमानों ने सोलह आधार बतलाये हैं, वे गौणाधार के अन्तर्गत हो जावेंगे, कुछ अनुपचरित में मिल जायंगे।

आधारों का स्वरूप-वर्णन।

उपादान आधार तो अपनी आत्मा है, क्योंकि सर्व गुणादि आत्मा में हैं; इसलिये आत्मा आधार है, अथवा योगसिद्धि तिरोधान भाव से आत्मा में ही है, इस कारण से भी उपादान आधार आत्मा ही है। यह मनुष्य-शरीर निमित्ताधार है, क्योंकि जब तक मनुष्य का शरीर न मिलेगा, तब तक कदापि योग-सिद्धि न होगी, इसलिये शरीर निमित्ता-धार है। इस शरीर रूप निमित्ताधार में बुद्धिमानों के लिखे १६ आधार भी अन्तर्गत हो जावेंगे। तीसरा मुख्याधार शरीर है। और चौथे गौणाधार में पाद, गुल्फ, जानु आदि शरीर के अवयव जानो, इनका विशेष अर्थ गुरु से पहिचानो। पांचवां द्रव्याधार—हम ऊपर बन्ध, आसन, मुद्रा और कुंभादिक जो कह आये हैं, उनको यथावत् करना वह द्रव्या-धार है। जिस द्रव्य को करे उसका भाव प्रकट हो कर लय हो जाना

भाव आधार कहलाता है। सातवाँ स्वाधार आत्मा ही है, उसके अतिरिक्त और दूसरा नही। आठवाँ पराधार-गुरु और देव का आधार है। ९ वां बाह्याधार वह है कि जो ऊपर लिखी बातें हैं, उनको करके प्रत्यक्ष में हर एक मनुष्य को दिखाना। अन्तरङ्ग की रुचि से जिसके वास्ते जो क्रिया कही है, उस समय करे, वह १० वां आभ्यन्तराधार है। देव के अभाव में, देव की प्रतिमा, चित्र, विंब, आदि को देखकर शान्त-ध्यानारूढ जो आधार है वह उपचरिताधार है। इस आधार से अन्तरङ्ग हृदय कमल में शान्तिरूप आकार वाले आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है, इसलिये इसको उपचरिताधार कहते हैं। मूलाधार से लेकर आज्ञा-पद्म तक देखना, और नाड़ी आदि को देखकर यथावत् उनमें स्थित होना; वह अनुपचरिताधार कहलाता है। इस रीति से सब आधारों का वर्णन किया।

लक्ष्य का वर्णन।

लक्ष्य वह है कि श्री वीतराग सर्वज्ञदेव की प्रतिमा को यथावत् बहुमान से देखकर उस लक्षण के अनुसार अपने हृदय कमल के ऊपर जो लक्ष्य है, उसको अभेद करके जानना, वा देखना, इसी के वास्ते श्री वीतराग सर्वज्ञदेव ने दो निक्षेपों से ही भव्य जीव का उद्धार बनाया, तीर्थंकरों का द्रव्य-भाव किसी जीव के काम न आया। इस प्रकार लक्ष्य का वर्णन करने के बाद अब भावना का स्वरूप बतलाते हैं।

ये भावना चार हैं, १ मैत्री भावना, २ प्रमोद भावना, ३ मध्यस्थ भावना, ४ करुणा भावना।

१ मैत्री भावना।

सब जीव मेरे मित्र हैं, किसीका बुरा न हो, अर्थात् किसीका बुरा न विचारना, और अपने समान जानकर मित्रता रखना, यह मैत्री भावना है।

२ प्रमोद भावना।

दूसरे गुणि-जनको देख कर, उसके गुणोंके ऊपर राग प्रगट करना,

उस राग से जो अपने चित्तमें आनन्द होता है, उसी का नाम प्रमोद भावना है।

३ मध्यस्थ भावना।

मध्यस्थ भावना यह है, कि जो अपने को माने, पूजे, भक्ति आदि करे; और अन्य कोई अपनी निन्दा करे, और न मान करे, न पूजन-भक्ति करे, उन दोनोंके ऊपर मध्यस्थ रहे अर्थात् समान भाव रक्खे। यदि किसी मिथ्यात्वि पर राग नहीं, तो द्वेष भी न करना चाहिए, क्योंकि जो उत्तम पुरुष हैं, उनको हिंसा करनेवाले जीवों पर भी करुणा उत्पन्न होती है, उस करुणा के बलसे उपदेश देते हैं, उस उपदेशसे जो वह जीव-हिंसादि छोड़कर अच्छे मार्ग पर आवे, तब तो उनको शुद्ध मार्ग दिखलाना, कदाचित् मार्गमें न आवे, तो उनके ऊपर द्वेष भी न करना, अपने दिलमें ऐसा विचारना कि यह जीव अजान है, और इसके कर्म-परिणाम ऐसा ही है; ऐसा जो भाव उसका नाम मध्यस्थ भावना है।

४ करुणा-भावना।

इस संसारमें सर्व जीवोंको अपने सदृश समझ कर किसी जीव की हिंसा न करे, अथवा धर्म हीन जानकर उसके ऊपर करुणासे उसका दुःख दूर करे, या ऐसा विचार करे कि यह जीव किस समय में धर्म पावेगा; इसको करुणा भावना कहते हैं। इन भावनाओं को भावें।

अब जिन पाँच तत्त्वों को अभेद करके आधार करे, उनको दिखाते हैं;—

जिस समय में आत्म-साधनमें प्रवृत्त हो, उस समय समझे कि मैं साधु हुआ, उस समय उसका साधुत्त्व से अभेद होगया। जब उपाधि को दूर किया और आत्माका अध्ययन करने लगा, तब उपाध्यायपद से अभेद होगया, और उपाध्याय से अभेद होकर साधन का जो कालापन वह दूर होकर हरापन हो गया।

जिस समयमें ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप आचार मे प्रवृत्ति हुई, उस समय आचार्य पदमें अभेद हुआ। जब चार अरि (दुश्मन) अर्थात् ज्ञानावरणादि वैरियोंको मारा, उस समय अरिहत तत्त्व से अभेद हुआ, और अरिहंत तत्त्व मे मिला। जिस समय तेज-रूप प्रताप बढ़ा, और कुल पुद्गलादि को तेज रूप अग्निमें जलाया, तब सिद्धरूप तत्त्व में अभेद हो गया।

इस रीति से आचार आदि चार भेदोंका वर्णन लिखाया, जिन पर गुरूकी कृपा हुई, उन्होंने इसका अनुभव पूरा पाया, सर्वज्ञोंने सिद्धान्तों में अनेक रीति से दर्शाया, हमने तो यहां ग्रन्थ विस्तृत हो जानेके भयसे किञ्चित् स्वरूप दिखाया।

मानसी पूजाकी विधि।

मानसी पूजाका विधान इस प्रकार है, कि जो ऊपर लिखी बातोंसे युक्त होगा, वही पुरुष मानसी-पूजन कर सकता है; क्योंकि देखो, जिन कमलादि चक्रोंका प्रथम वर्णन किया है, उनको देखनेके वास्ते तैयार होवे तो उसके बाद मानसिक पूजन करे; उसीका नाम मानसिक पूजन है। उस जगह जो वस्तु अर्थात् कुल सामग्री जो कि मन से बनाई हुई है, मनसे ही उसकी शुद्धि करना और जो द्रव्य जिस आकार का है उसी आकारका उसको मनसे बनावे, और जिस रीति से मन्दिर में प्रतिमाका या यन्त्रोंका पूजन करते हैं, उसी रीति-पूर्वक मनसे उस जगह पूजन करे, फिर स्तुति आदि करे, फिर उसका ध्यान करे, तब यथावत् फल पावे, उस रीतिसे अपनेको गुण प्रकट करावे, दूसरी ओर कहीं चित्तको न ले जावे, तो यथावत् स्वरूपको पावे।

समाधि के भेदोंका वर्णन।

समाधिके मुख्य दो भेद हैं—

१ जड समाधि, २ चेतन समाधि।

चेतन समाधि के भी दो भेद हैं ;—

१ पिपीलिका मार्ग, २ विहङ्गमार्ग। विहङ्गमार्गके भी दो भेद हैं;— सुज्ञान योगी, २ युक्त योगी। ये छः भेद समाधिके हैं।

जड़ समाधि के भेदोंका वर्णन।

पाषाण, लक्कड़ अथवा मुर्दे (शव) के शरीर के समान चेष्टा करके रहना, सुषुप्ति से भी जड़ हो जाना जड़-समाधिका लक्षण है ; क्योंकि सुषुप्तिसे जागे तव ऐसा भान रहता है कि मैं ऐसा सोया कि कुछ खबर नहीं रही, सो सुषुप्तिमें तो इतना ज्ञान भी है, परन्तु जड़ समाधि में इतना भी ज्ञान नहीं रहता हैं। वैसे ही जड़ समाधिवाला प्राणवायु को साधन कर श्वासको कपालमें ले जाता है, और जितने दिवसका नियम करे, और जो अपने साधक हैं उनको कह रखे कि मेरी समाधि उस दिन खुलेगी, तो वे मनुष्य आकर उसीके अनुसार यत्न करके साव-धान कर लेते हैं।

जड़ समाधिका साधन।

इसके साधनकी विधि यह है कि पहिले जो हमने षट्कर्मादि लिखाये हैं उसमें से कितनी एक क्रिया करते हैं, पीछे उसके प्राणायाम करते है और कुम्भकको बढ़ाते है, सो बढ़ाते-बढ़ाते घण्टोंके कुम्भक होने लगे, फिर उससे भी बढ़ाते-बढ़ाते दिनोंकी कुम्भक करने लगे, इस रीतिसे करते-करते महीनोंकी कुम्भक हो जाती है।

फिर उस कुम्भक वालेका ऐसा हाल हो जाता है कि वह जबतक बन्द मकानमें रहे तव तक जड़ समाधिमें बना रहे। जब कि वह बन्द मकान खुले, और बाह्य पवन उसके रोमकी नाड़ियों द्वारा पहुँचने लगे तब उसको चेतनता होती है, और जो साधक लोग पासमें हैं, वे भी उपचार करते हैं, जिससे बहुत सावधान होकर बातचीत करने लगता है।

क्योंकि जिस समय में जो पुरुष जड़ समाधि लगाता है, उस समय श्रोत्र, चक्षु, नासिका और मुखादि सर्व द्वारोंको रूई आदि लगाकर ऊपर से मोम लगाया जाता है। फिर उस समाधिवाले पुरुषको चाहें तो किसी स्थानादि वा सन्दूकादि में वन्द करके रख दो, अथवा पृथ्वी में गाड़ दो, जितने दिनकी प्रतिज्ञा हो, उतने दिनके वाद जो वह निकाल लिया जाय तव तो उसका जीवन है, नही तो कुछ दिनों में उसी जगह नष्ट हो जायगा। इसलिये प्रतिज्ञा पर साधक पुरुष निकाल लेते हैं। इस समाधिके लगाने वाले नटादिक भी होते हैं और प्रायः करके वैरागी साधुओंमें इसका प्रचार विशेष रूप से है, क्योंकि कुछ दिनके पहले एक हरिदास जी साधुने राजा रनजीत सिंहके समय में राजाजी के सामने भी कई वार समाधि लगाई थी। और 'हरिदास समाधि' नामकी एक पुस्तक भी छपी है, उसमें हरिदास जी का समाधि वगैरह लगानेका सर्व वृत्तान्त लिखा है।

हमने तो एक नमूना दिखाया है, दूसरा एक मनुष्य जड़ समाधि लगाने वाला हमने भी देखा है। यह संवत् १९३७ या ३८ की वात है। आज भी [ग्रन्थ लिखने के समय] शायद वह मनुष्य जीवित हो तो आश्चर्य नहीं। यह समाधि वाला पुरुष, जोधपुर के राज्य में नागोर से ८-९ कोस पर मुदाड़ ग्राम में दो ढ़ाई मास रहा था, जिस ग्राम का जमीदार वाण्टे है। वह समाधि वाला पुरुष पाँच दस वार मेरे पास भी आया था और मैंने जव उससे पहले पूँछा तव तो नट गया, परन्तु फिर उसने अपना समाधि लगानेका सर्व वृत्तान्त वता दिया।

फिर मैंने उससे पूछा कि तुम जो समाधि लगाते हो उस समाधि में किन किन चिह्नों से शरीर का हाल मालूम होता है ? और तुमको क्या आनन्द आता है ?

तव वह मनुष्य वोला, कि शरीर में कुछ नहीं दीखता; केवल शून्याकार अर्थात् अन्धकार मालूम होता है और जितना मैं समाधि में

चढ़ रहा हूँ, उससे विशेष विलम्ब लगने से भीतर से बेचैन हूँ। सो अभी तो मेरा थोड़ा ही अभ्यास हुआ है, अधिक होने से बेचैनी बन्द हो जायगी। और एकवार मैंने उससे कहकर अपने सामने समाधि लगवाई, उस समय वह मनुष्य जड़ रूप हो कर शून्याकार हो गया, और उसके शरीर के अवयव कुछ कठोर प्रतीत होने लगे। यह बात मेरे प्रत्यक्ष देखने में आई, सो मैंने भी पाठकगण को लेखकर दिखाई, जड समाधि की रीति बताई, इसमें कुछ मतलब न देखा भाई, इस जड़ समाधि ने तृष्णा भी न मिटाई। यदि किसी को संदेह हो कि भला वह समाधि लगाता है तो तृष्णा क्यों न मिटी? तो हम कहते हैं कि वह राजपूत जिसको हमने समाधि लगाते देखा था, प्रातः कालसे लेकर खेती तथा अन्य इतना काम करता था कि शाम तक उसमें लगा ही रहता था, और रात्रिको समाधि लगाता था। और हरिदासजी की समाधि नामक पुस्तक देखकर संदेह मिट जायगा, क्योंकि रणजीतसिंहके सामने दो तीन अङ्गरेज लोगोंने समाधि देखने की इच्छा प्रकट की, उस समय हरिदासजी ने कहा, कि मैं समाधि लगाऊँ तो तुम मुझको क्या दोगे? उस समय अङ्गरेजोंने जो उत्तर उसको दिया, उस पर वह क्रुद्ध होगया और समाधि न लगाई।

इस रीति से इस जड़ समाधि की प्रक्रिया बताई, यह समाधि हमारे मन न भाई, इस समाधि से तो ईश्वर-भक्ति करके करो चित्तकी सफाई, अन्तःकरण शुद्ध होने से ज्ञान-वृद्धि हो जाई, जिससे चेतन-समाधि मिलेगी आप से आई।

प्रश्नः—आपने इस समाधिकी प्रक्रिया बताकर बिलकुल श्रद्धा को दूर कर दिया, क्योंकि मनुष्योंमें प्रसिद्ध है कि समाधि लगाने वाला तो काल को जीत कर अपनी आयु बढा लेता है और अमर हो जाता है, फिर आपने ऐसा क्यों लिखाया, समाधिको नट-विद्या कैसे बताया, तुम्हारे चित्त में कुछ ख्याल न आया?

उत्तरः—भो देवानुप्रिय! यह तुम्हारा कथन शास्त्र और बुद्धि से प्रतिकूल है, क्योंकि देखो, प्रथम तो अवतारादि हुए, जिन्होंने कुल सृष्टिकी रचना की, और सांसारिक और योगी आदि सब जगत् में परिचय कराया, फिर उन्होंने जिस शरीरको धारण किया उस शरीर की आयुको न बढ़ाया, काल को क्यों न हटाया?

और भी एक दूसरी बात सुनो, कि आदिनाथ से लेकर मच्छन्दर, जलन्धर नाथ, गोरक्षनाथादि अनेक योगीन्द्र योगाभ्यास कर-करके ग्रन्थ रच गये, समाधि मे पच गए, हठयोगमें नाम अपना कर गए, शरीर को छोड़कर हंस ले उठ गए। तो कहो यदि समाधि में आयु बढ़ती है तो उन्होंने अपनी आयु क्यों न बढ़ाई? उनकी शरीर मूर्त्ति अब देखने में न आई, तेरी आयु बढ़ाने की बात क्यों कर विश्वास करे भाई?

अब इस जगह पर कोई ऐसा कहे कि गोरक्षनाथ, गोपीचन्द, भर्तृहरि आदि योगीन्द्र अमर हैं, परन्तु संसारी लोगोंको दिखाई नहीं देते और कभी कभी किसीको मिलते भी हैं, और परचा भी बता देते हैं, ऐसी लोगों में प्रसिद्धि है।

इसका समाधान यह है कि गोपीचन्द्र, भर्तृहरि, गोरक्षनाथादि अमर हैं, वे नाम करके अमर हैं, परन्तु शरीर करके नहीं हैं। यहाँ पर मुझे दोहा का स्मरण हुआ है, वह इस स्थान पर उपयुक्त जान लिखता हूं:—

दोहा।

'सुत नहीं अबला जन मके मन नहीं सिन्ध समाय।
धर्म न पावक में जले, नाम काल नहीं खाय॥ १॥"

इस लिये जिन जिन पुरुषों का नाम बाल-गोपालादि जानते हैं और लेते हैं, लोग उनकी महिमा गाते हैं, और पिता, पितामह, प्रपितामह,

अथवा उनके भाई बेटोंका नाम कोई नहीं लेता, इस लिये उनका नाम अमर है। यदि वे शरीर करके वर्त्तमान हैं, तो सब मनुष्योंको दर्शन क्यों नही देते हैं? जो तुम ऐसा कहो कि संसारिक लोग उनको बहुत सतावें इसलिये दर्शन नहीं देते हैं। तो हम कहते हैं, कि जिस समय में वे घर छोड़ कर योगी बने थे, उस समय योग साध कर भिक्षा लाते थे, और घर घर फिरते थे, और मनुष्यो से मिलते थे, उपदेश भी देते थे, तो अब यदि उनका शरीर है तो भिक्षा के बिना किस प्रकार रहते होगे? यदि तुम कहो कि वनमें रहते हैं, कन्द-मूल-फल खाते हैं, आत्म-ध्यान लगाते हैं, घर घर पर भिक्षा के वास्ते आवाज नहीं लगाते हैं, दुनियादारीके झगड़ों से अपनेको छिपाते हैं।

यह कहना भी तुम्हारा अयुक्त है, क्योकि जिन उपाधियोंका नाम अब लिया, वे पहिले भी थीं, क्योंकि जब उन्होंने योग लेकर आत्म-साधन किया, तब मनुष्योंने उनके गुण से उनको पहचाना था, उस समय मे भी वह वन था, और कन्द-मूल-फलादि भी जैसे तब थे, वैसे अब नही हैं, तो फिर उस समय में भिक्षा माँगना, और इस समय न माँगना, किस प्रकार सम्भव हो सकता है?

दूसरा, अब जैसे सांसारिक लोग स्वार्थ सिद्धि के वास्ते योगियों को सताते हैं, उसी ही प्रकार उस समय में भी स्वार्थ सिद्धि के वास्ते खोजते फिरते थे। बल्कि जैसा उस समय में लोगों का योगियों पर विश्वास था, वैसा इस समय में योगियो के वचन पर नही रहा। क्योंकि दुःखगर्भित और मोहगर्भित वैराग्य वाले शिर मुण्डा कर बाह्य-क्रियादि दिखाते हैं, मिल्लत-हथफेरी आदि करके लोगोंको चमत्कार दिखाते हैं, आख़िर मे झूठ, कपट, धूर्त्तताके फन्द खुल जाते हैं, फिर मनुष्यों को प्रत्येक के ऊपर से विश्वास उठ जाते हैं। और जो पहलेके योगी महात्मा थे, वे ऐसा नही करते थे। इसलिये आपके कथना-नुसार वे योगी जगत् में पहिले की तरह भ्रमण करें तो बहुत लोगों

का उपकार हो, और मनुष्योंको विश्वास हो जावे, और उन साधुओं को अदत्ता-अर्थात् चोरी भी न लगे, और आरम्भ-समारम्भ से भी वच जाये।

इस लिये जैसा उपकार उनके प्रत्यक्ष फिरने में है, वैसा गुप्त रहने में नही, वल्कि जगत् और उनकी दोनोंकी हानि है। और जो मनुष्य लोगो में प्रसिद्धि करते हैं कि हमको भर्तृहरि आदि योगी, और शुक-देवादि महात्मा मिले थे, और उनसे जब हमने दण्डवत् प्रणामादि किया, चरण कमल पकड़ कर प्रार्थना की, तब उन्होंने हमारे ऊपर कृपा करके योग वताया, उससे हमने यह फल पाया, ऐसा कहनेवाले पुरुष महा असत्यवादी, कपटी, अपनी आत्माको डुवोने वाले हैं, वे लोग उन महात्माओं का नाम लेकर लोगोंको वहकाते हैं, अपने को पूजाते हैं, लोगोंको ठगनेका जाल फैलाते हैं। हाँ, कितने ही आत्मार्थी मनुष्य पर्वतादि वनोमें रहते हैं ओर आस पासके ग्रामो में मौक़ा पाकर भिक्षा ले जाते हैं, फिर अपना आत्म-ध्यान जमाते हैं।

ऐसा कोई महात्मा भाग्यसे किसीको मिल जाय, तो आश्चर्य नही, क्योंकि प्रायः करके यह वात कितने ही मनुष्यों को हुई है, परन्तु जिन को ऐसे महात्माओंका समागम हुआ है, वे पुरुष ऊपर लिखे महात्मा-ओंको न वतावेंगे, क्योंकि यह वात अनुमानसे सिद्ध होती है कि कवीर आदि अनेक पुरुषोंने जिनको गुरु किया था, उनके समीप तो उनको आत्मार्थ यथावत् न मिला और कोई वनवासी महात्मा उनको मिल गया, और आत्माकी लटक वता गया। उस लड़केसे उन्होंने पहिले गुरु से पृथक् अपने नामका पन्थ चलाया, साखी आदि दोहा कवित्त कह कर ग्रन्थ भी वनाया। सो इनका विचार तो आगे कहेंगे।

मैंने भी राजगृही के पर्वत पर रात्रि के समय एक महात्माका दर्शन पाया, उन्होंने मेरेको उपदेश सुनाया, और कई तरह के संदेह उठाया, उन्होंने मेरे चित्तके संदेहको ऐसा मिटाया कि फिर मुझे किसी तरहका विकल्प न आया, ऊपर लिखे योगी महात्माओं का भी मैंने

शरीर-सहित होनेका प्रश्न उठाया, उस प्रश्न के उत्तर में उनके न होनेका अनुभव कराया, उसी ही अनुभव से मैंने भी पाठकगणको समझाने के वास्ते लेख लिखाया।

दूसरी वात यह है कि जो शास्त्रों मे ऐसा लिखा है कि जितनी आयु लिखी है, उसमे कमी वेशी करनेको कोई समर्थ नहीं है, और यह वात लोक में प्रसिद्ध है कि विधाताके लेखको कोई नहीं मिटा सकता। तब जो समाधि वाला अपने लिखे से अधिक आयु कर लेगा तो विधाता से भी अधिक विधाता हो जायगा, विधाताका लेख सब खो जायगा।

इसलिये समाधि लगाने वाले शरीर से अमर नही होते। किन्तु उस दशामें जीव शरीर छोड़कर सिद्धावस्था में अमर हो जायगा, अपनी आत्मा मे से मोह भगा जायगा, जन्ममरण को खो जायगा, तिरोभावसे आविर्भाव हो जायगा। इसलिये समाधिवाला शरीर-सहित कभी अमर न होगा। तीसरी वात जो कि स्वरोदयमें लिखी है, वह यह है कि:—

"चार समाधि-लीन नर, षट् शुभ ध्यान मंझार।
तूष्णीभाव वेठा जु दस, वोलत द्वादश धार॥
चालत सोलस सोवतां, चलत श्वास बावीस।
नारी भोगवतां जानजो, घटत श्वास छत्तीस॥"

श्री चिदानन्दजी-उपनाम कपूरचन्दजी कृत स्वरोदयमें ये ऊपर लिखे दोनों दोहे हैं। दूसरे स्वरोदय के ग्रन्थोंमे तो विशेष श्वासों का जाना कहा है। अब हम इस जगह पर विचार करते हैं, कि जब इस रीति से स्वरोदय वाले कहते हैं। तो आयु फिर क्योंकर वढ़ा लेते हैं, यह निश्चय न हुआ।

हे समाधिवालो! भला समाधि मे तुम अपनी आयु बढ़ा लेते हो, तो हमको तो वताओ कि रास्ता चलने में अथवा सोने में अथवा स्त्री के भोग आदि में, और भागने में जो विशेष श्वास घटता है तो क्यों? ७२० श्वास एक मुहूर्त के कहे हैं, सो इस नासिकाकी रीतिसे

गिनाए हैं, अथवा किसी और जगह से शरीर में गिनाए हैं? तो सब लोग ऐसा ही कहते हैं कि नासिका के गिनाए हैं।

तव हम इस स्थानपर पाठकगण को एक अनुभव कराते हैं, उस अनुभवको बुद्धिपूर्वक विचार करके अपने चित्त मे अनुभव करना। और अनुभव करके जो वर्त्तमान कालके योगी वने फिरते हैं, उनको पूँछने से उनके भेद खुल जावेंगे, जाल सब दूर जावेंगे, शेख़ी करने से हट जावेंगे।

वह अनुभव इस रीति से है कि जिस समय मनुष्य साधारण स्वभाव से बैठा है, उस समय श्वास जल्दी वाहिर से भीतर को जाता है, और शीघ्र ही वाहिर को चला आता है। और जव ज़ोर का काम पड़े, अथवा स्त्री-भोग अथवा भागना आदि क्रियाओं के करने से श्वास देरी मे वाहर से भीतर जाता है, और भीतर से वाहिर आता है, इस अनुभव को जिसकी इच्छा हो, वह करके देखे, तो जो काम देरी से होगा वह काम अधिक रहेगा। इस रीति से जो विषयादि करने वाले, अथवा भागने वाले, अथवा सोने वाले हैं, इन की आयु अधिक होनी चाहिये?

अव इस जगह गुरु-सेवा के विना छापे की पुस्तकें पढ़कर वुद्धि-विचक्षणता वाले और न्याय-व्याकरणादि पढ़नेवाले ऐसा कहें कि उन भागना और विषयादि क्रियाओ में श्वास तो यही है, परन्तु अंगुलों की गणना से श्वासादिक की हवा दूर जाती है, इसलिये आयुकर्म टूटता है। इस रीतिसे नासिका के ही श्वास जानो। इस जगह हमारा यह कथन है कि जव अंगुलो के ऊपर संख्या मान कर नासिका के श्वास गिनाए, तो आकाश तत्त्व के विना जितने तत्त्व हैं वे सव आयुके घटाने वाले हो जायेंगे, क्योंकि नासिका के भीतर आकाश तत्त्व चलता है, वाक़ी शेष चार तत्त्व, आठ, वारह, सोलह, अंगुल तक चलते हैं, और कम होने से तत्त्वों की ख़वर नही पड़ती, तो फिर तत्त्वोंका कथन, शिवजी से लेकर सब योगियों का वृथा हो जायगा।

इस लिये गुरुकी चरण-सेवा कर के धारो तो तुम को मालूम पड़े, कि समाधि वालों को ही यथावत् तत्त्व मालूम पड़ते हैं, न कि नाक में हाथ लगाने से, या सूं—सां करने से। इस लिये जो तुम्हारा प्रश्न था कि समाधिवाले आयु वढ़ा लेते हैं, सो न वना।

चौथी वात यह है कि जो हरिदास की पुस्तकों में लिखा है कि "हरिदास ने अङ्गरेजों पर क्रोध कर के पीछे राजा रणजीतसिंह के कहने से समाधि लगाई, फिर समाधि से निकल कर कुछ उनके हाथ न आया, तव क्रोध कर झाड़ी में चले गए, साथवालों को सङ्ग ले गए, कुछ दिन झाड़ी में रहकर शरीर को छोड़ कर पर-भव की निद्रा में सो गए। कुछ दिनों के वाद हरिदासजी के शिष्योंसे उनके परमधाम होने का समाचार राजा रणजीतसिंहने सुना, तव वहुत खेद चित्तमें किया और शिष्यों को दम दिलासा दिया।" अव पाठकों को विचार करना चाहिये कि हरिदासजी समाधि लगाकर छः महीने तक ज़मीन में गड़े रहते थे, तो फिर क्यों न उन्होंने काल को जीत कर अपने शरीर की आयु वढ़ाई? नाहक में क्यों देह गंवाई? उनकी समाधि की पुस्तकमें १०० सौ वर्ष से कम आयु की ही अनुमान से गणना है भाई, समाधि वालों को शरीर से रहना असंभव हो समाई, जागृत समाधि कहनेकी वेला आई, इस रीति से जड समाधि का किञ्चित् भेद दिया लिखाई।

चेतन समाधिका वर्णन।

इस चेतन समाधि के दो भेद ऊपर लिखे हैं, उनमे प्रथम पिपीलिका भेद का वर्णन करते हैं। पिपीलिका अर्थात् चींटी जैसे सहारे से चढ़ती है, विना सहारे के आकाश में नहीं चल सकती, और विहङ्गम नाम पक्षी का है, सो पंखवाला जानवर विना आश्रय के आकाश में उड़ता है। यह इन दोनों शब्दों का अर्थ हुआ। इनका तात्पर्य्यार्थ यह है कि अन्य दर्शन वाले आलम्वन के द्वारा जो समाधि करते हैं वह पिपीलिका समाधि के अन्तर्गत होती है। दर्शनों के भी कई

भेद हैं, जिनका थोड़ा सा उल्लेख करना यहां आवश्यक मालूम होता है,—

वेदान्ती लोग अद्वैत को ही सिद्ध अर्थात् एक पदार्थ मानते हैं। सांख्य मत प्रकृति और पुरुष और पुरुषोंमें भी नानापन, इस रीति से दो पदार्थ मानता है। और लोग वन्धन अर्थात् माया से छूट जाना उसीका नाम मोक्ष मानते हैं, परन्तु इन दोनों में इतना विशेष है, कि सांख्य मतवाला तो प्रकृति से पृथक् हो जाना, उसी को मोक्ष कहता है। और वेदान्ती माया से छूट कर ब्रह्म में एक हो जाना, उसी को मोक्ष कहता है। सो वेदान्त में दो भेद हैं, १ पूर्व मीमांसा २ उत्तर मीमांसा। पूर्व मीमांसा तो केवल कर्म को ही अङ्गीकार करता है। और उत्तर मीमांसा में भी चार सम्प्रदाय हैं। नैयायिक सोलह पदार्थ मानता है, और २१ गुण के ध्वंसको ही मोक्ष मानता है। जैसे जड़ समाधिमें जड़ समान होता है, वैसा जड़ हो जाना हीइसके मतमें मोक्ष है। वैशेषिक छः पदार्थ मानता है, और सब नैयायिक की तरह जानो। इन नैयायिक और वैशेषिक वालो के वड़े वड़े ग्रन्थ हैं, सो पदार्थ-निर्णयमें हैं, हमने तो नाम मात्र कहा है।

वौद्धमत वाला चार पदार्थ मानता है, सो उसके कई भेद हैं जैसे क्षणिकवादी, शून्यवादी आदि। और सब दुःखोसे छूट जाना ही इनके मत मे मोक्ष है।

जैनी लोग मुख्य तो दो ही पदार्थ मानते हैं, १ जीव, २ अजीव। और ८ कर्मोंका नाश करके सिद्ध-शिला के ऊपर जाना उसको मोक्ष मानते हैं। सो ऊपर लिखे सर्व मतोंके अनेक भेद हो रहे हैं। इन्होंमें कोई तो सृष्टि का कर्त्ता मानता है, कोई नहीं मानता है। ऐसे ही कोई किसी पदार्थ को मानता है और कोई किसी पदार्थ को नही मानता है। सो पदार्थ मानने, न मानने के ऊपर अनेक ग्रन्थ संस्कृत आदि भाषाओं में रचे हुए हैं। इन शास्त्रों के प्रमाण दे देकर अपने-अपने पदार्थ सिद्ध करते हैं, परन्तु ऊपर लिखे पदार्थों में तो कुछ दख़ल

है नहीं। जिन्होंने केवल नामको मान कर और शास्त्रों की प्रक्रिया सुन कर, फिर अपनी बुद्धि-अनुसार कल्पना करके, साखी, दोहा, छन्द, कछनी करके, ग्रन्थ बनाए, चेटक-मेटक आदि अनेक प्रकार की प्रक्रिया से अपने नामके पन्थ चलाए ; उन पन्थियों के नाम ये हैं:—

१ स्वामी नारायण, २ दरियादासी, ३ खेडापाखा, ४ रामसनेही, ५ दादूपन्थी, ६ निरञ्जनी, ७ नानक पन्थी, ८ कबीर पन्थी, ९ राधा-स्वामी।

जिस अनुक्रम से नाम लिखे हैं, तदनुसार उनका कुछ मन्तव्य भी बतलाते हैं ;—

१ स्वामी नारायण पन्थका परिचय।

इस पन्थ वालेका साधु वा गृहस्थी मुझको कोई भी न मिला, इसलिये सुनी हुई बात कुछ लिखता हूँ। एक ब्राह्मण था। उसने किसी देवता की सिद्धि करके लोगोंको ऐसा चेटक दिखाया, कि जो जिसकी उपासना थी, उसी देवका दर्शन उसको अपने पास में करा दिया, उस दर्शन से फिर अपना चेला बना लिया, इस रीति से अपना पन्थ चला दिया। और आप गृहस्थी रह, लाखों करोड़ोंका धन जमा किया और करते चले जाते हैं। और जो कोई उनके विरक्त साधु होते हैं, सो दिन भर उस महन्तका काम करते हैं और रोटी जो उसके सती-सेवक हैं, उनके वहाँ खा आते हैं। ऐसा सुना है। यह पन्थ गुजरात देश में है। सो गुजरात देश मे मेरा गमन न हुआ, इस लिये मैं यथावत् नहीं लिख सकता।

२ दरियादासी पन्थ।

दरियावजी नाम का एक आदमी नागोर के पास एक गाँव में रहता था, अपना धन्धा भी करता था, और राम राम कहता था। फिर एक सरावगी की स्त्री अपने पति के मर जाने से अपने बेटा बेटी छोड़ जानकर अपने पीहर चली गई। उसके पीहर के घरके पास

कभी कभी और जगह भी जाते थे, तथा गृहस्थको शिष्य बनाते थे, उसको अपनी कण्ठी बान्धकर प्रसाद देते थे ।

और, साधुओंके समुदाय में ऐसा प्रबन्ध कर रक्खा था, कि बारह महीनों में रात्रिको कुछ अन्न-जल मुखमें न डालना तथा नीली वस्तुको भी स्पर्श न करना । खरबूजा, ककड़ी, आम, नारङ्गी, अमरूद आदि अनेक फल यदि रन्धे हुए हों तब तो खाना, अन्यथा न खाना, एक तूंबी वा कठारी, और एक मिट्टीका प्याला भोजन करनेके लिये रखना, और नंगे पैर फिरना, पगमें तापड़ी आदि भी न रखना, और राम राम करना तथा धातुका पात्र भी हाथ से स्पर्श न करना, वस्त्र थोड़ा रखना, इत्यादि बातों का नियम पालते थे। इनमें कितने ही साधु परमहंस अर्थात् नग्न भी रहते थे और मोटी माला का रखना और राम राम कहना और झोली मांग कर लाना, और उसमें जो अन्न आजावे उसको खाते थे । इस मत के कितने ही साधु गृहस्थियों के मकान से मांगकर लाए हुए अन्न को मिट्टी के प्याले में रख कर खाते थे । तथा रामचरणजी से रचित वाणी का पाठ करते थे, और वही गृहस्थियों को प्रातः समय सुनाते थे, तथा राम राम अपने आप भी करते, और भक्तों से भी कराते थे । परन्तु थोड़े दिनों से उनके कई मतावलम्बी साधु न्याय-व्याकरणादि भी पढ़ने लगे हैं। और चातुर्मास [चौमासा] में भक्तमाल, तुलसीकृत रामायणादि भी बाँचते हैं तथा पहिले से आचार में अब कुछ शिथिल भी हो गए हैं। वे पहिले रेल की सवारी भी नहीं करते थे, इस समय महन्तके अतिरिक्त कोई कोई दूर की यात्रा करने वाले साधु रेल में भी बैठते हैं। इनके यहाँ मुख्य रटना राम-नाम की है।

५. दादू पन्थियोंका वर्णन ।

इस मतका संस्थापक दादू नामक एक धुना था। इसने भी राम नाम कहने से सिद्धि पाकर दादू नाम से अपना पन्थ चलाया । इस पन्थमें

कितने ही साधु तो राजा की नौकरी करते हैं, और वहींकी आजीविका खाते हैं, तथा लड़ाई में लड़ने को जाते हैं। अन्य कितने ही साधु विरक्त भी हैं, तथा मांग कर भोजन करते हैं इनका महन्त नारायन ग्राम में रहता है। सत्यराम तथा दादूराम भी कहते हैं, दादूजी की बनाई हुई वाणीको पढ़ते हैं; अब कुछ दिन से न्याय, व्याकरण, वेदान्तादि शास्त्रों को भी पढ़ते हैं। इनके मध्य में कोई कोई अतिज्ञाता पण्डित भी हैं।

परन्तु इनमें दादू साहब की वाणी का पाठ तथा दादू राम करने की रीति पहिले तो अधिक थी, वह कुछ दिन तो उसी प्रकार से चली, फिर शास्त्रादि पढ़ने से दादूजी की वाणी शनैः शनैः कम हो गयी।

६ निरञ्जनियोंके पन्थका वर्णन।

इस मत के प्रवर्तक हरिदासजी हुए। उन्हों ने डीडवाने में राम के नामका जाप किया और विरक्त-भाव से सिद्धि पाकर निरञ्जनी साधुओं का मत चलाया। इनके भीतर भी दो भेद हैं, १ रामजीवनजीका २ सेवादासजी का। सो रामजीवन के अनुयायी तो मूर्त्तिको मानते हैं, दूसरे नहीं मानते। प्रथम तो दोनों ही नहीं मानते थे। इनमें भी राम राम कहना, और हरिदासजी तथा सेवादासजी की रचित वाणी का पाठ करना, अपने सेवकों के कण्ठी वान्धना, तथा पानी छान कर पीना, जो कि पहिले से अब कम हो गया है, इत्यादि बातें प्रचलित हैं।

७ नानक पन्थियों का वर्णन।

इस मत के प्रवर्त्तक पञ्जाब देशवासी नानक नामवाले खत्री जाति के थे। उनसे नानक पन्थ चला, और नानक की लिखी वाणीको ग्रन्थसाहब कहते हैं। यह नानक बहुत चमत्कारी हुए, और इन्हों ने मनुष्योंको परचा भी दिखाया, मक्के को भी गए, इनकी वाणी गुरुमुखी अक्षरों में है।

इन नानक जी के जो आत्मज [बेटे] थे उनसे तो उदासी चले। वे तो एक कोपीन बांधना, विभूति शरीर पर लगाना, धूनी, तापना, जो किसीने दे दिया तो ले लिया, और नग्न रहना, काला कम्बला आदि दिखाना, इत्यादि नियम पालते थे।

कुछ दिनोंके अनन्तर इन उदासियोंमें कितनेही लोग गांजा, चरस, तमाखू आदि पीने लगे, कितने ही नहीं भी पीते हैं। और वैरागियों की तरह उदासी साधु गृहस्थियों से जवर्दस्ती नहीं करते, इन उदासियों में परमहंस वृती अर्थात् जटा सिर में न रखना, धुनी आदिका न तापना, गृहस्थी के यहाँ भोजन कर आना; और न्याय-व्याकरणादि पढ़कर वेदान्त शास्त्र का अभ्यास अधिक करना, ये नियम हैं। इन लोगों में पण्डित भी अच्छे अच्छे होते हैं।

सुथरेशाही अर्थात् डण्डे बजाने वाले इन नानक जी के ही घरके हैं। सुथरेशाहियो ने भी बहुत जगह चमत्कार दिखाए; उस चमत्कार से ही इनकी वन्दी अभी तक चली आती है। और नानक जी के पन्थ में दस बारह भेद होंगे, परन्तु ग्रन्थ साहिब के मानने वाले सब ही हैं, और उसी का पाठ करते हैं। अलख निरञ्जन यह इनका मुख्य कर्त्तव्य है, तथा इनके सती-सेवक वा साधु बड़े छोटेको 'बाबा मथ्था टेकू' ऐसा कहते हैं, तब साधु उसको "वाह गुरु" कहते हैं।

इन नानकजीकी तीन गद्दी तो विरक्त भाव की थी अर्थात् गृहस्थी नही थी, क्योंकि पुत्र को त्यागकर शिष्य को गद्दी दी थी। और जो इनकी गद्दी पर हुए, वे सब अपनी कथनी नानक जी की कथनी में सम्मिलित करते गए। परन्तु इनकी चौथी गद्दी से गृहस्थी गद्दीधर हुए, सो दशमी गद्दीमें गोविन्दसिंह हुए, वे भी चमत्कारी थे, और निर्मले साधु उनहींसे निकले तथा सिक्ख तब ही से हैं। ये लोग पाँच वस्तु रखते हैं, कड़ा, कच्छ, केश, करवाल, और कंघा।

गोविन्दसिंहके अनन्तर गद्दीधर कोई न हुआ। ये केवल ग्रन्थ साहिब को ही गुरु के स्थान पर मानते हैं। ये निर्मले साधु न्याय-व्याकरणादि

शास्त्रों में अच्छे अच्छे निपुण होते हैं। और वेदान्तका ही उपदेश देते हैं।

उदासी परमहंस निर्मले आदि साधु कितने ही धातु आदि को पास में नहीं रखते हैं, तथा योगाभ्यासादि से अनेक प्रकार विरक्तभाव से ही रहते हैं।

८ कबीर पन्थियोंका वर्णन।

इस पन्थ के नेता कबीर जी जुलाहे [तन्तुवाय] थे, परन्तु इनका कोई पूर्व जन्मका संस्कार ऐसा था, कि बाल्यावस्था से ही भक्तिभाव और साधु सन्तोंकी संगत करते थे। फिर ये रामानुज स्वामी के पास शिष्य होनेको गए। परन्तु रामानुज स्वामी ने उसको यवन अर्थात् [मुसलमान] जानकर शिष्य न किया। एक समय रामानुज स्वामी चार घड़ी के तड़के गङ्गास्नानको जाते थे, उस समय कबीर जी पृथ्वी में लोट गये। और रामानुज स्वामीके ठोकर लगी, तब उस समय कबीर जी रोने लगे।

उस समय रामानुज स्वामी बोले, कि बच्चा राम राम कहो, इतना सुन कर कबीर जी चले आए, और प्रातः ही रामानन्दी तिलक लगा कर उनके समुदाय में जा बैठे।

उस वक़्त रामानुज के जो शिष्यादि थे, वे कहने लगे कि अरे तू हमारे समुदाय में क्यों आ बैठा? तब कबीर जी बोले कि मैं भी रामानुज स्वामीका शिष्य हूँ। तब शिष्य कहने लगे कि तू कब शिष्य हुआ है, तुझको तो निकाल दिया था। इस पर कबीर जीने उत्तर दिया, कि मुझको शिष्य बनाया है, तुम उनसे मालूम करो और मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूँ। वे रामानुज स्वामी के समीप गये, तब रामानुज जी बोले कि मैं तुम लोगोंका मुख भी नहीं देखता हूँ, तब शिष्य किस प्रकार बनाऊँगा? तब कबीर जी बोले कि महाराज! आप गङ्गास्नान को जाते थे, उस समय आपके पाँव की मेरेको ठोकर लगी, मैं चिल्लाया, जब आपने

मेरे को राम नाम सुनाया, शिष्य बनाया, अब क्यों नटते हो ? इतना कहकर शिष्य बन गया, रामानुज स्वामी भी चुप हो गए, और कुछ उत्तर न दिया। एक पदमें कबीरजीने लिखा भी है:—

"समज गहो मेरी बैया गुरु जी, समज गहो मेरी बैया"।

इस रामानुज संप्रदाय में जो ५२ द्वारे प्रसिद्ध हैं, उनमें एक कबीर द्वारा भी प्रसिद्ध है, ऐसा मैंने सुना है। कबीरपन्थी लोग तो ऐसा कहते हैं कि कबीर साहिब तो रामानुज स्वामीको चेताने गये थे, क्योंकि रामानुजजी मूर्त्ति-पूजादि भी करते थे, और कबीर साहबको हंसों का उद्धार करने के लिये परमेश्वर ने भेजे थे, क्योंकि १६ पुरुष पहले आये और संसार में फंस गए, हंसों का उद्धार करने वास्ते पधारे थे वे किसके शिष्य होते ; ऐसा कबीरपन्थी कहते हैं।

कबीरजीके बीजक, गोरक्षसंवाद आदि साखियोंमें कई ग्रन्थ भी हैं।

कबीर साहिब ने सुलतान, नवाब, आदि अनेक लोगोंको चमत्कार भी दिखाए हैं।

इन पन्थियों में सब से पहिले कबीर पन्थ निकला है, और सब शेष पन्थ कबीरजीके पीछे चले हैं, और अपनी अपनी भाषा [वाणी में] सबने कबीरजी की भाषा भी लिखी है, तथा अपनी अपनी बुद्धिके अनुसार भी लिखी है। स्वरोदय, चक्रोंका वर्णन, निर्गुण सगुणपद, गूढ़पद, गूढ़साखी, उलटी वाणी, ध्यान, समाधि सर्वमत के काटादि पदोंमें बनाकर वे कह गये हैं।

अपने अतिरिक्त दूसरेको सद्गुरु न मिला, इसलिये ऊपर लिखित पन्थ वालोंने अपनेको सिद्ध और दूसरोंको असिद्ध वर्णन किया है।

ऊपर लिखे पन्थों में रामनामकी मुख्यता ठहराई, और इसी नामकी रटना लगाई, परन्तु कबीरजी ने राम नाम को भी उड़ाया, चार राम बताया, लोगोंको अपने जाल में फँसाया, काया के बीर बन कबीरपन्थ चलाया, गुरु से किञ्चित् भेद पाया, पात्र बिना थोड़ी ही वस्तुमें इतराया, गुरु का नाम न बनाया, अपने को ही सिद्ध बनाया-

जैसा उन्होंने गुरु के साथ किया, वैसा ही उनके शिष्य गरीब दास ने भी मदन पन्थादि अनेक भेद लोगोंको लिखाया। परन्तु इनका मुख्य शिष्य धर्म्मदास का ही नाम ले कवीरजी ने ग्रन्थ वनाए हैं। कितने ही कवीर पन्थी तो गृहस्थी में कण्ठी वान्धते हैं; कितने नहीं वान्धते हैं। यदि गृहस्थी साधुके पास आवे तो कितने ही लोग "बँन्दगी साहेव" ऐसा कहते हैं, तव कवीर पन्थी साधु 'साहिव' ऐसा कहते हैं।

कितने ही कवीरपन्थी आँख की पुतलीको देखकर फिर नीचे को माथा नवाँकर बँन्दगी साहिव ऐसा कहते हैं। वे मुख्य करके आँख की पुतली में जिस मनुष्य का आकार दीखता है उसी को कहते हैं कि जो कुछ है सो यही है,इसीलिये आँखकी पुतली मिलाते हैं। परन्तु यहाँ हमारा यह कथन है, कि जो अन्धा है, उसको तो आँख की पुतली में कोई आकार नहीं दीखता। तो फिर उसको साहिवका वोध क्योंकर होगा? इस रीति से कवीर साहिबके अनेक भेद हैं। कितने ही मनुष्य तो दीपक की ज्योतिको जलाकर अपने सेवक को बैठाकर कहते हैं, कि तू दीपक की लो (अर्चि) में ध्यान लगा, जव तुझ को उस का एक ध्यान हो जाय, तव पीछे फिर कर देखना, तुझको देख क्या दीखता है, इस रीतिसे भी वताते हैं। और कोई केवल देखना ही वताते हैं। मदन पन्थी जो इन की शाखा हैं, वे लोग ऐसा कहते हैं, कि कवीर साहिवका भेद किसी को न मिला, क्योंकि जो पुरुष है उसकी खबर वेद को भी नहीं है, सन्तजन जानते हैं, तथा कवीर साहिव का उपदेश निरक्षर है; उस पुरुप का भेद पाना वहुत कठिन है। केवल आकाश में श्रुति लगाना कहते हैं। और इसी को विहंगम मार्ग कहते हैं।

इस जगह हमारा कथन है, कि श्रुति को आकाश मे लगाना, वह तुम्हारे कथनानुसार विहंगम मार्ग न होगा। क्योंकि श्रुति आकाश में लगाना, यह वात असम्भव है। क्योंकि आकाश कोई वस्तु नहीं है; आकाश नाम शून्य (खाली) का है, और जड है, उस जड़ के ही सङ्गसे यह चेतन जन्म-मरण करता है। इसलिये असल वातको मदना साहिव

ने न जाना, क्योंकि तत्त्व विना गुरु के नहीं मिलता है, इस के लिये एक साखी भी लिखते हैं।

साखी—

इशारा सार गुरुने वताया, मदन साहिव खोज भी न पाया।
सदा आकाश गहा विन ज्ञाना, ज्ञान हीन पुरुष को माना॥

जब वे लोग ऐसा कहते हैं कि नहीं महाशय! वहां शब्द सुनाई पड़ता है, तभी तो हम कहते हैं कि हे भोले भाई! जब शब्द सुनाई देता है, तब तो निरक्षर न रहा, तथा विहंगमी न रहा· क्योंकि तेरी श्रुतिरूपी कीड़ीके वास्त शब्दरूपी सहारा मिल गया, तुम्हारा जाल भी कट गया। सच्चा गुरु खोजकर लाओ, जिस से तत्त्व ज्ञान पाओ। जैन विना नहीं होगा गुज़ारा, कवीरजीने पाया इस घर से किञ्चित् उसी को ले किया अपनी वुद्धि का विस्तारा। इसी से आवाज़का मानना ठीक नही है, क्यो कि यह अनहद् के अर्थ में हम आगे कहेंगे, यहाँ किञ्चित् दिखाते हैं।

, साखी—

आश्रित हुआ आकाशको माना, मुतलिक ज्ञान कवीरन जाना।
काल अक्षर जो सर्व समाया, नीप अक्षर कर उसे वताया।
झूंठ कहा यह रहा अमाना, काल जाल हरगिज नही जाना॥

इस रीति से मदनपन्थियों का निरक्षर कहकर लोगो का वहकाना वृथा है। क्योंकि कवीरजी का नाम लेकर मदनपन्थी कहते हैं, कि कवीर साहिव का निरक्षर उपदेश है, यह वात अनजानोंके सामने चलती है, क्योंकि कवीर साहिवने अन्तसमय धर्मदास शिष्य को उपदेश दिया है। और 'ओश्म्, 'सोऽहं' इत्यादि शब्दो को काट कर जुदा ही शब्द धर्मदास को बताया हैं, जिसको "धर्मदास गोष्ठी" से उद्धृत कर इस जगह लिखाते हैं, मदन साहिव का भ्रम भगाते हैं, निरक्षर को उठाते हैं, कवीरजी का शब्द सुनाते हैं, पाठक गण को वोध कराते हैं:

साखी—

"धर्मदास पूछे चितलाई, अहो सन्त कहो नाम बताई।
अहो धर्मदास मूलनाम कह्यो ना जाई, तुम से नाम राखो ना जाई।
अहो साहिब मेरे हंस का बहुत संदेहा, भापो नाम तब जुरे सनेहा।
अहो धर्मदास भापों नाम लखो जोप उ
घर २ नाम तुम जीवन वगराउ॥
बाबा तीन नाम भाखों मैं पाऊ, जासे लोक तुम्हारे आऊं।
अहो साहिब मेरे हंस को करो बचाउ, और हंस तुम्हारे बल आउ।
अहो धर्मदास प्रथम नाम इकोतरलउ, भापो बोल में शब्द सुनाउ।
बाबा भापो बोल सकल ससारा, अबोल वस्तु का कहा विचारा।
अबोल वस्तु मोहे देउ बताई, मोरे हंसलउ मुक्ताई।
अहो धर्मदास बोल वस्त संसार में भाई,
अबोल वस्त यहां नहीं आई।
बोल भाप जब नाहती तू तजे करे कर नेह।
तो नाम नहीं भापों खसमज तब तुम हते विदेह।
अहो धर्मदास चतुर तुम ज्ञानी, आदि अन्त की बात तुम जानी।
बाबा नाम तुम भापो मोरी अग्नि बुझाई, मूल नाम मोहि देउ बताई।
अहो धर्मदास कहूँ सुनो चितलाई, पांच नाम मैं देहुं बनाई।
धर्मदास पांच पड़ो जाई, सुने नाम तब जीव जुड़ाई।
तब ही पुरुष जो भापे लीला, पांचों सो बहर कही दीना।
आगे पुरुष को सुमिरन कीना, पाछे नाम भाष जो दीना।
सात हाथ धरती खुदाई, तब धर्मदास को नाम सुनाई।
अहो धर्मदास जा दिन पुरुष हते विदेही, पाहंग नाम तब हुतें सनेही।
एती बास पौहोप में रहिया, पोहङ्ग नाम विदेही कहिया।
पोहङ्ग पोहङ्ग किया विचारा, तब प्रसन्न २ किया उचारा।
पोहङ्ग पोहङ्ग वर सकल विस्तारा, थके कोई कीना।
बब प्रसन्न बास पही लीना, तब प्रसन्न बास गही पाई।

तवनी नवनी हते त संपुट वचाई, जुग असंख असी रह जाई।
वफनाम जव आगम वोला, निकस पोहंग गये पताला।
तहां न भज लाग हमारा, अहो धर्मदास पांच नाम ते।
पोहङ्ग नाम निसारा, सोहङ्ग नाम है सव ही मझारा।
पोहङ्ग नाम है इकसारा, जाके सुमिरे होय हंस उवारा।
सोहङ्ग नाम तुम देहो सुनाई, पोहङ्ग नाम हंसा है आई।
पोहङ्ग नाम संसार नहीं आवे, सोहंग नाम सवही मिल गावे।
अहो धर्मदास सोहङ्ग नाम वीरी लिख दीना।
पोहङ्ग नाम का सुमिरन कीना।

सोहङ्ग सुमरन पोहङ्ग को पाई, पोहङ्ग सोहङ्ग गए सहाई।
कहे कवीर धर्मदाससों, सोहङ्ग केर वन्धान।
पोहङ्ग नाम हंसा पावे, हंसा होय निरवान।
पोहङ्ग नाम में शब्द सुनावा, वीरा पंछी हंसा हो आवा।
हम तुमसे पोहङ्ग नाम नीन्यारा, सोहङ्ग करही सकल पसारा।
याते आगे धावे कोई, गम हमारी पावे नही सोई।
कहे कवीर भाषा भण्डारा, जेही ते सोहङ्ग भया पसारा।

साखी—

पोहङ्ग नाम विदेही है, गहो सुरति चितलाय।
कहे कवीर धर्मदाससों, हंसा नीष्ट नहीं जाय।
गयो प्रतीत रह्यो तुम भीना, पूहर नाम हम तुम को दीना।
पोहङ्ग नाम विदेह है वाहिर, ना जाई सुनाम कहो सुनाई।
एही मूल से और ना कोई, धर्मदास थाका मैं कह के सोई।
ताहे नाम सुनाय हो, जो तुम ऐसा होय।
तुम ही ऐसा ना मिले, तो शब्द राखो गोय॥
इतना कह धनी लोक सिधावा, धर्मदास जव नाम गहि पावा।
मैं अव नहि आऊं संसारा, धर्मदास तुम हंसन का करहु उधारा।

इतनो कही धनी, लोक सिधावा।
कहे कवीर धर्मदाससो,नाम गहि पावा ॥"

इस रीति का उपदेश कबीरजी का है तब फिर मदनपन्थियों का निरक्षर उपदेश क्यों कर बनेगा? क्योंकि शब्द जो है, वह निरक्षर कभी नहीं हो सकता। हाँ, जैसा कबीरजीने शास्त्रीय प्रक्रिया छोड़कर मनः-कल्पित विना प्रमाण के पोहङ्ग शब्द बनाया, शिष्यों को सुनाया, किसी को उजगर (प्रत्यक्ष) करना न बताया, अपना शिष्य हो उसीके वास्ते इस का उपदेश लगाया।

इस रीति से कबीर पन्थियों में जो कई भेद हैं, वे भेदवाले अपनी २ कल्पनायें कबीरजी की तरह चलावें, तो उनकी इच्छा। और जो कबीर-जीने पांच नामसे अतिरिक्त इस नामको ठहराया है, वह तो मनःकल्पित है ही, किन्तु उन पाँच नामोंमें भी चार नाम तो शास्त्रकी रीतिसे हैं, परन्तु 'कोहं' शब्द जो है सो भी कबीरजीने अपना मनःकल्पित, पांच नाम पूरे करनेके लिये, बना लिया। सो चार नाम तो शास्त्रकी रीतिसे सिद्ध कर पाठकगणको दिखाते हैं, पीछेसे किञ्चित् 'कोहं' का भी अर्थ बनाते हैं, परन्तु उसमें शास्त्रका प्रमाण नहीं लाते हैं, शब्दार्थसे किञ्चित् संगति मिलाते हैं, जिनका हम अर्थ करेंगे, उन शब्दोंके अर्थानु-सार पोहंगका अर्थ नहीं पाते हैं। तब फिर इसका अभ्यास करनेसे लोग क्यों कर तिर जाते हैं ?

इस 'पोहंग' शब्दसे ही हमको मालूम हुआ कि इनके ग्रन्थोंमें और साखी आदिमें कई जगह देखनेमें आया, कि 'पो' का भेद न पाया, इस 'पो' शब्दका अर्थ मेरी समझमें भी न आया, फिर मेरे को 'कबीरजी धर्मदासकी अन्तगोष्ठी' का लेख यमुनालाल कोठारीके पाससे हाथ आया, उस ग्रन्थमें कबीरजीने धर्मदासको अन्त समय 'पोहंग' शब्द सुनाया, कबीरजी परलोक सिधाया, हमने 'पोहंग, शब्दसे 'पो' का मत-लब पाया, यह ग्रन्थ यमुनालाल कोठारीके आग्रहसे बनाया, हमारे दिल में किसीका खंडन-मंडन करना न भाया, किन्तु शास्त्रकी प्रक्रियासे

कहना दिलमें छाया, न हमने कोई अपना पन्थ बनाया, गुरुचरनकी कृपा हुई उनके अनुग्रहसे सज्जन पुरुषोंको सुनाया, पूर्व पुण्य उदयसे चिन्तामणि हाथ आया, गुरुका दिया अभी तक न गंवाया, कर्महीन अधम अभागेपनसे उसका यथावत् आनन्द मुझको न आया, उन गुरुने मेरेको सर्वज्ञ वीतराग के स्याद्वाद धर्मपर दृढ़ कराया, दुःखगर्भित मोहगर्भित वैराग्य वालोंने जैनधर्ममें बखेड़ा मचाया, इस कारणसे मेरे आनन्दमें विघ्न आया, चिद्दानन्द नाम पाकर अपनी हँसी कराया, यथा नाम तथा गुण विन निर्लज्ज होकर टुकड़ा मांग खाया ।

शब्दोंके अर्थ तथा उनके नाम ।

१ ओं, २ सोऽहं, ३, राम, 'राम' को कोई 'रं' भी कहते हैं, ४ हंस, ५ कोहंग ।

ओंकार शब्दको सर्वमतावलम्बी शास्त्रानुसार ईश्वरका रूप मान कर इसकी उपासना करते हैं । वेद, पुराण, स्मृति, उपनिषदादि वैष्णव लोगोंके ग्रन्थोंमें ओंकारको ब्रह्मरूप परमात्मा मानकर उपासना करना कहा है, और इसकी महिमा ऊपर लिखित ग्रन्थोंमें है । यदि मैं लिखूं, तो लिखते २ आयु व्यतीत हो जाय, परन्तु इसकी महिमाका अन्त न हो । यदि सरस्वती, बृहस्पति, शेष भी लिखें तो भी सपूर्ण न हो। तथा जैन मतावलम्बी इस ओंकारको पञ्च परमेष्ठी मानकर उपासना करते हैं । और बौद्धादि जितने मत हैं, वे सब इस ओंकारको अपना इष्टदेव मानकर उपासना करते हैं । बलिक ओंकार विना अन्य कोई मन्त्रादिक भी नहीं बोलते हैं । इस रीति से ओंकार शब्दको जगत् गाता है ।

'सोहं' का अर्थ ।

सोऽहं शब्द जो है, इसकी अध्यात्मी लोग रटना करते हैं । 'सः' जो परमात्मा, 'ऽहं' वही मैं हूं । इस कथनसे परमात्माका अभेदरूप ध्यान करके परमात्मा होता है, क्योंकि हकार करके भीतरको घुसा, और सकार करके समा गया । इस रीतिसे इस 'सोऽहं' शब्दकी महिमा अध्यात्मी लोग गाते हैं, शास्त्रोंमें इसको बताते हैं, इसके ध्यानसे

परमात्मपद पाते हैं, हकारको सकार में लय करनेसे समाधि मे समाते हैं।

'राम' शब्दका अर्थ।

यह शब्द क्रीडार्थक 'रमु' धातुसे सिद्ध होता है। इसका अर्थ यह है कि 'रमते इति' 'रामः' आत्मामें रमण करता है, उसीकानाम राम हैं। इसलिये जो अपनी आत्मामें रमेगा, वह पापोंसे छूटकर परमात्मा हो जायगा। इस रमणरूपी रामसे ही वाल्मीकि आदि अनेक मुनिजन आत्मामें रमण कर परमपदको प्राप्त हुए। अनेकोंने राम २ गाया, उसी स्वरूपमें रटना लगाया, और सबको छटकाया, अपने स्वरूप में लय लाया, वोही मोक्षपद पाया, जैसा इस राम शब्दका अर्थ था, वैसा हमने पाठकगणको दिखाया। इस राम शब्दके अन्तर्गत 'रम्' शब्द भी है, परन्तु इसकी प्रसिद्धि कम है, प्रत्येक मनुष्य नहीं जानता।

'हंस' शब्दका अर्थ।

गोरक्षपद्धतिके प्रथम शतकके ४३ वें श्लोकमें जीव इस मन्त्रका प्रतिदिन स्वतः ही दिनभरमें २१६०० जाप करता है। और ४४ वें ४५ वे श्लोक तक इसकी ऐसी महिमा लिखी है कि मोक्षके देनेवाला यह ही अजपा गायत्री है। वे तीनों श्लोक यहां पर उद्धृत कराता हूं :—

षट्शतानि त्वहोरात्रे, सहस्राण्येकविंशतिः।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं, जीवो जपति सर्वदा ॥४३॥
अजपा नाम गायत्री, योगिनां मोक्षदायिनी।
अस्याः संकल्पमत्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥४४॥
अनया सदृशी विद्या, अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ॥४५॥

इनका अर्थ तो सुस्पष्ट है, अथवा इसकी छपी हुई पुस्तकमें देखो। अन्तर्गत समेत इन पांचका वर्णन किञ्चित् दिखाया।

अब कबीर पन्थियोंके घरके 'कोऽहं' शब्दका भी भावार्थ कहते हैं। 'को' कहतां कौन हूं 'हं' कहनां मैं; ऐसा अर्थ इसका होता है।

इन पांचों या छओं के बाद यह 'पोहंग' शब्द कबीरजीने कहाँसे पाया, इसका अर्थ किसी शास्त्रमें न आया, इसी लिये इसके ऊपर हमने इतना लेख लिखाया, पाठकगणको समझाया, 'पोहंग' शब्दमें कुछ अर्थ न पाया, विना अर्थ इसको उनके शिष्योंने अपने चित्तमें क्योंकर जमाया?

६ राधास्वामी-पन्थका वर्णन ।

इस मतके प्रवर्तक राधालाल नामके खत्री आगरेमें रहते थे, यह उर्दू पढ़े हुए थे। किसी महात्माकी गुप्त संगति होनेसे उन्होंने शब्द, श्रुतिके ऊपर रटना लगाई। और एक कायस्थ सालिगराम था, वह डाकखानेके महकमेमें काम करता था। उसको परचा दिखाया, और अपना शिष्य बनाया, ज्यों २ उसने परचा पाया, त्यों २ लोगोंको राधालालके पास लाया, उन राधालालने अपना नाम राधास्वामी प्रसिद्ध कराया, इसही नामका पन्थ चलाया। इस सालिगराम पोस्ट-मास्टरने उनकी टहल अच्छी तरहसे की, शेष में जब राधास्वामी शान्त हुए, तब उनकी गद्दी पर दूसरे पाटमें सालिगराम हुए, सो मौजूद हैं और दश-बीस साधु भी हो गये हैं, आगरेमें उनका मकान है, और बागमें रहते हैं, बाहिर रसोई आदि बनती है, सायंकालको महन्त बाहिर निकलकर गद्दीपर बैठते हैं, उनके सेवकगण आते हैं, तथा उनका पूजन करते हैं, पुष्पमाला पहिराते हैं, वे महन्त अर्थात् हजूर अपना प्रसाद लोगोंको देते हैं। मैंने ऐसा भी सुना है, कि पहले आप खाकर बाकीका उच्छिष्ट अपने भक्तोंको बाँटते हैं। जो वह उच्छिष्ट खाता है उसीको अपना सेवक बनाते हैं। ऐसा मेरे सुननेमें आया है, सो मैंने पाठकगणको लिख दिखाया, इसमें मेरा कुछ आग्रह नहीं कि वे लोग ऐसा ही करते हैं।

राधास्वामीके उर्दू भाषामें कई ग्रन्थकी भी बने हुए हैं। उसमें साखो, पद, जिस प्रकार ऊपर लिखे पन्थियोंने बनाए हैं, वैसे उन्होंने भी बनाये हैं, उनका कहना है कि सर्वसे ऊपर आकाशमें राधास्वामी हैं, उनके पास पहुंचना कठिन है। उनका कथन ऐसा है कि जो हमारा उपदेश लेगा,

सो ही उस जगह पहुंचेगा, इस लिये हम राधास्वामीकी आज्ञासे लोगोंका उद्धार करनेको आये हैं। तथा कवीरजी आदिकी साक्षी भी देते हैं। राधास्वामीका अर्थ इस प्रकार करते हैं, कि राधा जो श्रुत' शब्द सो स्वामी, उसीका नाम 'राधास्वामी' है। जो हमारे उपदेशसे श्रुत और शब्दमें परिश्रम करेगा वही हमारे लोकको जायगा। और भी कितनी प्रकारकी प्रतिज्ञा कराकर सेवकोंको उपदेश देते हैं। जो उनके उपदेशक हैं, वे उस वातको नहीं वताते हैं। और रविवारके दिन जो २ उस पन्थमें हैं वे सव एक स्थानपर एकत्रित होते हैं, राधास्वामी की वाणी वांचकर प्रसादादि वांटते हैं, ध्यानादि भी करते हैं, अपने ग्रन्थ प्रत्येकको नहीं देते हैं। उनका कथन है कि जो मनुष्य परिश्रम करेगा, वह थोड़े ही दिनोंमें आकाशमें चढ़ने लगेगा, फिर उसको सव हाल आपही मालूम हो जायगा। अजमेरमें दो तीन ग्रन्थ मेरे देखनेमें भी आए, उन ग्रन्थोंके देखनेसे मालूम होता है कि योगाभ्यासकी वातें हैं। परन्तु जो उन्होंने आकाशमें जानेकी वातें, और आकाशके परचे लिखे हैं, उनके पढ़नेसे जिन्होंने गुरुकुञ्जी पाई, योगाभ्यासमे तवियत लगाई, शरीरकी शुद्धि कराई, इस शरीरमें जो कुछ क्रिया दिखाई, सो राधास्वामीके लेखसे न मिलेगा भाई।

अव किञ्चित् शरीरका भेद वताते हैं, उसीके अन्तर्गत ये सव हो जाते हैं, क्योंकि देखो इस शरीरमे ७ कमल हैं, और दो 'कंद' हैं। चक्रों का वर्णन तो हम प्रथम कर चुके हैं, तथा एक कन्दका भी वर्णन पहले कर दिया है। दूसरा कन्द नाभिके समीप है, उसके दो पश्चिम-मुख द्वार हैं, सो एक द्वार जिसका पश्चिमको मुख है, उसीके अनुसार एक द्वार कण्ठचक्रके पास पश्चिम मुखका है, इस द्वारसे ऊपरको जाना और इसीसे चढ़कर आकाशमें पहुंचते हैं। परन्तु जो आकाशका वर्णन राधास्वामीने किया है, वह वर्णन, जो इस वातके जाननेवाले हैं उनको असम्भव मालूम होगा।

इस रीतिसे पन्थियोंके भेद दिखाए, इन्होंने अपने २ नामसे पन्थ

चलाए, मद्य मांससे लोगोंको बचाए, कुछ भक्ति मार्गमें भी लगाए, परन्तु शास्त्रीय प्रक्रिया यथावत् न पाए, इसी लिये पन्थी कहलाए, हमने भी पाठकगणको दिखाए।

इस रीतिसे पिपीलिका और विहङ्ग भेद बताए, परन्तु इसका शब्दार्थ यह है, कि जो किसीके आलम्बन अर्थात् दूसरेके सहारेसे वृत्तियोंका थामना उसका नाम पिपीलिका मार्ग है, और जो निरालम्ब होकर आत्मामें स्थिर होना, वह विहङ्ग मार्ग है।

अब मनुष्य जो अनहद २ कहा करते हैं, उसका भी विचार किञ्चित् पाठकगणको दिखाता हूं, अनहद शब्दका अर्थ भी लगाता हूं। 'अनहद' इस शब्दमें 'नञ्समास' है, इसलिये इसका अर्थ ऐसा है कि, नही है। हद (सीमा) जिसकी उसको अनहद कहते हैं। सो यह शब्द जिसके पीछे लगेगा वही वस्तु हद करके रहित हो जायगी, अर्थात् उसका आदि और अन्त न होगा। जब नादके साथमें लगाया जायगा, तब 'अनहद नाद' ऐसा कहेंगे, इसलिये उसको चाहे शब्द कहो या नाद कहो। सो यह नाद-शब्द अजीव अर्थात् आकाशका है। 'शब्दगुणकमाकाशम्' ऐसा न्याय-शास्त्रमें कहा है और स्याद्वादी जिन धर्ममें इस शब्दको पौद्गलिक कहा है। इस शब्द के दो भेद हैं—१ ध्वनिरूप, २ वर्णरूप यह वर्णरूप तो संस्कृतभाषादि अक्षरों में होता है। और ध्वनिरूप, भेरी, बाँसुरी, सारङ्गी सितार, पखावज, आदि बाजों से अथवा हतेली, चुटकी आदि बजाने से होता है। आत्मा में लय होना, तथा उस जगह ध्वनि का श्रवण करना असम्भव है। इसलिये ध्वनि का कथन जिज्ञासुओं के लिये रोचक वचन उपचार से है, क्योंकि आत्मलय होने में ध्वनिका कुछ काम नहीं।

इस जगह ऐसी शङ्का उत्पन्न होती है, कि आदिनाथ से लेकर सब योगिओंने जिस को योगाभ्यास में सुना और अनहदनाद बताया, अभी तक लोगोंने साखीपद में गाया, तुमने क्यों इस को उठाया?

इस शङ्का का समाधान यह है कि हमने इस अनहदनाद को उठाया नहीं, किन्तु शब्दार्थ दिखाया है, क्योंकि इस अनहद शब्द को सुज्ञान-योगियोंने

सुनकर गाया, गुरु गम से इस का भी भेद पाया, अनहद्नाद झूठा न गाया, लोगोंने इस का असल मर्म न पाया, जिन्होंने पाया उन्होंने छिपाया, क्योंकि देखो जिस समय में युञ्जानयोगी योजना-अर्थात् आत्मा में बाह्यवृत्तियों का त्याग कर एकाग्र होने की इच्छा करता है, उस समय आकाश में जो सर्व प्रकार के शब्द हो रहे हैं, वे पहिले तो मिले हुए गुंजार रूप से प्रतीत होते हैं। सो इस का अनुभव बताते हैं कि एकान्त में बैठ कर कानों में अंगुली देकर बुद्धिपूर्वक विचार करे तो गुञ्जार शब्द सुनाई देता है। उस गुञ्जार रूप प्रतीतिमें मन लगाता चला जाता है, ज्यों २ एकाग्रता होती है, वैसे २ ही जुदे २ शब्द की प्रतीति होती चली जाती है। अन्त में वह आनन्द-सहित आत्मा में लय हो जाता है, क्योंकि इस चार गति के जीवों में हर्ष और शोक बना हुआ है, सो शोक से तो रोना, पीटना, और हर्ष होने से गाना, बजाना, ये दोनों सदा होते हैं, कोई समय खाली नहीं। इसलिये इस को अनहद्नाद बताया, गुरु की कृपासे यह भेद पाया यह अनुभव कर बताया, पाठक-गण को दर्शाया।

युक्त योगी का स्वरूप।

दूसरा युक्त योगी वह है, जो कि बाह्य वृत्तिसे निवृत्त हो कर आत्मवृत्तिमें रमण करे; इन्द्रियोंके होने पर भी अतीन्द्रिय ज्ञानसे भूत, भविष्यत् और वर्तमान का, चौदह राज अर्थात् चौदह भवन, जिसको अर्बीमें चौदह तबक कहते हैं, इनका भाव जाने, न्यूनाधिक किञ्चित् भी न बखाने, उस का नाम युक्त योगी है।

यहां पर युक्तयोगी और युञ्जानयोगी का तात्पर्य ऐसा है, कि युक्तयोगी तो जब तक शरीर का आयु कर्म हैं, तब तक जो हम युक्तयोगी की विधि लिख आये हैं, वह उसी के अनुसार शरीर छोड़ने के अन्त तक एक रस बना रहेगा। न्यूनाधिक कुछ भी न होगा। और युञ्जानयोगी जिस समय में योजना करे, उस समयमें जिस वस्तु की योजना की हो, उसी वस्तु का सर्वज्ञ हो जाय, क्योंकि जिस समय पिण्डस्थ ध्यान की

योजना करे, तो पिण्डरूप चौदहराज का आकार इस शरीर में भावना से करता है। इस चौदह राज की भावना को जैनमत में लोकनाल कहते हैं और वैष्णव मत में विराट् स्वरूप कहते हैं। इस पिंडस्थ ध्यानवाले को अनेक शक्तियां उत्पन्न हो जाती हैं। परन्तु उन शक्तियों के असंख्यात भेद हैं। जैसी २ जिस को शक्ति होगी, उसी के अनुसार सिद्धि दिखावेगा।

अब हम इस स्थान पर यह दिखाते हैं,जो कि हम पहिले 'मृतक-मिलाप' के प्रसङ्ग में कह आए थे, कि भूतादि प्रत्यक्ष इसलिये नहीं होते, कि बताने वाला उन का यथावत् स्वरूप नहीं जानता, इस के वास्ते हमने समाधि का नाम लिया था उस को यहां दिखाते हैं।

जो पिण्डस्थ ध्यान वाला अपनी शक्ति के अनुसार जितने पिण्ड की वस्तु उस को यथावत् दीखेगी, उसी वस्तु के क्रिया-गुण से परिचित हो कर उस को अपने मतलब में ले आवेगा। तात्पर्य इस का यह है, कि जो सुज्ञानयोगी योजना कर के पिण्डस्थध्यान में जितना पिण्ड अर्थात् भवन-पति, व्यन्तर, ज्योतिषी, और वैमानिक इन चार निकाय के देवताओं में जितनी उस की शक्ति होगी, उसके अनुसार देवताओं का स्वरूप जानकर उस को मन्त्रमें गर्भित कर जिसको बतावेगा, उसीको सिद्ध हो जायगा। दो दिन, चार दिन का काम नहीं, हज़ार दो हजार माला फेरने का भी काम नहीं, जैसे किसी मनुष्यको आवाज देकर बुलाते हैं, तब वह मनुष्य एक आवाज को सुने, दूसरी को न सुने, आखिर तीसरी आवाज़ में तो आई जाता है, वैसे हो मनुष्य की तरह जो भूतप्रेतादि देवता हैं, वे भी तीसरी वार मन्त्र पढ़ने से आ जाते हैं।

ऊपर लिखित व्यवस्था के न होने से इस समय में उक्त गति हो रही है। इसका कारण यही है कि ऊपर लिखे के अनुसार लोगोंकी व्यवस्था तो नहीं है, केवल पुस्तकों को देख कर बताते हैं, गुरू बन जाते हैं, लोगों को ठग कर खाते हैं, जिज्ञासुओंका विश्वास उठाते हैं। सिद्ध हो गया तब तो सिद्ध बने ही हुए हैं, नहीं तो बहाना बतलाते हैं सो दिखाते है। वैष्णव मतवाले कहते हैं कि शिवजीने मन्त्र कील दिये,

इस से सिद्ध नहीं होते। और जैनी लोग कहते हैं कि फलाने मन्त्र की फलानी गाथा भण्डार करी हुई है, इसलिये यह सिद्ध न हुआ। अब दूसरा मन्त्र बता देंगे। परन्तु भोले मनुष्य कीलने और भण्डारने का मतलब नहीं जानते हैं। इसलिये अपनी बुद्धि के अनुसार पाठक गण को वह रहस्य दिखाता हूँ ;—

जिस समय जिस आचार्यने देखा कि इस जिज्ञासु को उपद्रव है, वह उपद्रव उस देवता के संयोग से मिट जायगा, उस समय उस देवता के नाम को ऊपर लिखी रीति से जान कर मन्त्र में लगाया, मन्त्र जिज्ञासु को बताया, गुरुने हुक्म फरमाया, तीन बार पढ़ने से जिज्ञासु को प्रत्यक्ष हो आया, उसी समय उस का काम बजाया। देखिये, जिस समय वराहमिहिर मर कर नीच योनि का देवता होकर श्रावको को उपद्रव करने लगा, उस समय श्रावकों के उपकार के लिये श्रीभद्रबाहु स्वामीने श्रीपार्श्वनाथ स्वामी की मन्त्र गर्भित 'उवसग्गहरं' की स्तुति बनाई, फिर श्रावकों को सिखाई, श्रावकोंने गुणा (जप किया) और धरणेन्द्र तथा पद्मावती आई; उन्होंने उन्हें अपना दुःख कहा, जिसको उन देवोंने उसी समय दूर किया, उपद्रव मिटने के बाद भी गृहस्थियों ने हर समय उनको बुलाया, और घरका काम भलाया (सौंपा), अनेक काम कराया, जब उनका चित्त घबराया, तब गुरु महाराज से आकर प्रार्थना करने लगे, कि स्वामि नाथ ! जो उपद्रव करनेवाला था, उस को तो हम ने दण्ड देकर समझा दिया, इस लिये उपद्रव तो अब कुछ नहीं है, परन्तु श्रावक लोग हम को चैन नही लेने देते, हर समय बुलाते हैं, घर का काम कराते हैं, हम घड़ी भर भी चैन नहीं पाते हैं। इस लिये आप कृपा कर इस फन्द से छुड़ाओ, जो किसीका ऐसा ही काम होगा तो हम वहाँ बैठे ही कर देंगे। यह सुनकर गुरु महाराज कहने लगे, कि तुम अपने स्थान को जाओ, इस नाम से फिर मत आओ, नामकी स्थापना मिटाई, धरणेन्द्र पद्मावती अपने घर को गये सिधाई, इस रीतिसे गाथाका भण्डारा हो गया।

कदाचित् कोई अपनी ज़िद करके गाथा का भण्डार न माने तो गाथा

प्रत्येक स्थान पर मिल जाती है, फिर उसके पढ़ने से धरणेन्द्र और पद्मावती क्यों नहीं आते हैं? इसी विषय में हम दूसरा भी दृष्टान्त लिखाते हैं:—

जैसे किसी मनुष्य के देश, नगर ग्राम में उस के माता, पिता या नगर के लोग नाम लेकर बोलते थे, परन्तु जब वह साधु हो जाता है, तब गुरु पहिला नाम उठा कर दूसरा नाम देते हैं, तब वह प्रथम नाम से कदापि नहीं बोलता है। इसी रीति के अनुसार नामका भण्डार मानो, गाथा का भण्डार न मानो, ऐसे ही महादेव्र की कीलन जानो, पोपों की बातों में विश्वास मत आनो, यह ठगों से बचने का हमारा मूलमन्त्र पहचानो, जिस से कभी सकट न हो भानो। इसी रीति से समाधि के भेद कहे गये।

अब धारणा, ध्यान, समाधि, किस को कहते हैं, तथा शास्त्रकार उसका भावार्थ क्या बताते हैं, सो दिखाते हैं। पहिले इनका शब्दार्थ बताते हैं।

ध्येय वस्तु को समझ कर उसको ज्ञेय, हेय, उपादेय रूप से धारे, अथवा हेय को छोड़ कर उपादेय को धारे, उसका नाम धारणा है। ध्येय वस्तु को ठहराना—उस में मन को लगाना, उसका नाम ध्यान है। ध्यान से अधिक बाह्य वृत्तियोंको त्याग कर आत्म स्वरूपमें लग जाना, उसका नाम समाधि है।

अब "गोरक्षपद्धति" को रीति से धारणादि पहले दिखाते हैं। वहाँ धारणा ६ श्लोकोंमें कही है। इस जगह हम वहाँके थोडे आवश्यक श्लोक लिख कर दिखावेंगे। ग्रन्थ बढ़ जानेके भयसे अधिक नही लिख सकते।

"आसनेन समायुक्तः, प्राणायामेन संयुतः।
प्रत्याहारेण सम्पन्नो, धारणाञ्च समभ्यसेत्॥ ५२॥
हृदये पञ्च भूतानां, धारणा च पृथक् पृथक्।
मनसो निश्चलत्वेन, धारणा साऽभिधीयते॥ ५३॥

"कर्मणा मनसा वाचा, धारणाः पञ्च दुर्लभाः।
विज्ञाय सततं योगी, सर्वदुःखैः प्रमुच्यते ॥ ६० ॥"

अर्थ—आसन का और प्राणायाम का साधन स्थिर करके इन्द्रिय वृत्ति को रोकने की सामर्थ्य होने के बाद धारणा का अभ्यास करे। हृदयमें मन और प्राण वायुको निश्चल करके पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और आकाश, इन पञ्च-भूतोंको पृथक् २ धारण करना; उसका नाम धारणा है।

इसके आगे जो श्लोक हैं, उन सब मे पांचों तत्वोंका वीज सहित और देवता-समेत चक्रों मे ध्यान करना कहा है, अथवा हृदय में ध्यान करना कहा है, वह उस पुस्तक से देखो। जो कर्म अर्थात् अनुष्ठान से, मन के चिन्तवन से, वचन अर्थात् शास्त्र-संज्ञा के प्रमाण मानने से निरूपण कर पांचों धारणाओं को जान कर अभ्यास करता है ; वह सर्व दुःखों से मुक्त होता है, यह धारणा हुई।

ध्यान का वर्णन।

ध्यान के विषय में उक्त ग्रन्थ मे वीस श्लोक हैं। यहां भी हम आगे पीछे के श्लोक लिख कर मतलब दिखा देते हैं।

"स्मृत्येव धर्म चिन्तायां, धातुरेकः प्रपद्यते।
यच्चित्ते निर्मला चिन्ता, तद्धि ध्यानं प्रचक्षते ।६१।
अश्वमेधसहस्राणि, वाजपेयशतानि च।
एकस्य ध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥६२॥

अर्थः—'स्मृ' धातु चिन्ता समान्य का वाचक है। सो चित्त में योग-शास्त्रोक्त प्रकार से हृदय को निर्मल करके आत्म-तत्त्वका स्मरण करना ध्यान कहाता है। आगे के श्लोकों में कुल चक्रों का ध्यान कहा हैं सो उस ग्रन्थसे देखो। अन्तिम श्लोक का अर्थ यह है कि सहस्रों अश्व-मेध, सैंकड़ों वाजपेय यज्ञों का फल भी केवल एक ध्यानावस्था के फल का सोलहवाँ अंश (हिस्से) के समान नहीं है; अर्थात् यज्ञादि साधनाओं में भी श्रेष्ठ ध्यान-योग है।

समाधिका वर्णन।

यह समाधि उक्त ग्रन्थ में १५ श्लोक में कही है। सो जो २ श्लोक मुख्य दिखाने योग्य हैं, उन को लिख कर दिखाते हैं :—

"उपाधिश्च तथा तत्त्वं, द्वयमेतदुदाहृतम्।
उपाधिः प्रोच्यते वर्णस्तत्त्वमात्माभिधीयते ॥ ८१ ॥"

अर्थ — आत्मा के प्रकाश होने वाले को उपाधि तथा आत्मचैतन्य को तत्त्व कहते हैं। उपाधि और तत्त्व ये दोनों विचार्य हैं। उपाधि प्रणव-रूप वर्ण "ओं" है। तत्त्व आत्मा कहता हैं।

"उपाधेरन्यथा ज्ञानं तत्त्व संस्थितिरन्यथा।
समस्तो पाधि विध्वंसी, सदाभ्यासेन जायते ॥८२॥"

अर्थ—उपाधि से यथार्थ वैषयिक अन्य ही है अर्थात् वह विपरीत बोधक है। जैसे स्फटिक तो स्वच्छ श्वेतमात्र है, परन्तु उस में लाल पीला, नीला आदि रङ्ग, उपाधि के सम्बन्ध से उसी रङ्ग के समान होता है, वैसे ही शरीर से भिन्न निर्विकार शुद्ध आत्मा, विषय वासनाओं के संसर्ग से "अहं सुखी" "अहं दुःखी" इत्यादि अभिमान करता है। जब अपनी निर्मल बुद्धि से उपाधि पृथक् माने तब आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है। जैसे रक्तादि रङ्ग के संसर्ग से स्फटिक भी वैसा ही मालूम होता है, परन्तु बुद्धि से जाने कि स्फटिक तो शुक्ल ही है, किन्तु रक्तादि रङ्ग रूप उपाधि-विकार से मिथ्या रङ्ग देखा जाता है· वैसे ही इन्द्रिय-धर्मों से व्याप्त भी जीवात्मा यथार्थ आनन्द से अद्वैता-नन्द स्वरूप है। सुख दुःख का इसमें सम्बन्ध नहीं है। जब ऐसा ज्ञान योगाभ्यास से होता है तब योगी उपाधि-जाल का विनाश करने में समर्थ होता है।

"शब्दादीनाञ्च तन्मात्रं, यावत्कर्णादिषु स्थितम्।
तावदेवं स्मृतं ध्यानं, समाधिः स्यादतः परम् ॥८३ ॥"

अर्थ—ध्यान एवं समाधि का अवस्था-भेद कहते हैं कि ध्यानाव-स्था में स्थिर रहते योगी के कर्णादि इन्द्रियों में शब्दादि विषयोंका

सूक्ष्म भाग जब तक प्राप्त होता है, तब तक ही ध्यानावस्था कहाती है। जब आत्मा में पञ्चेद्रिय-वृत्ति लीन हो जाय, तब आत्मा में अर्थ-मात्रके भान वाली अवस्था समाधि कहलाती है।

"यत्सर्वद्वन्द्वयोरैक्यं, जीवात्मपरमात्मनोः।
समस्तनष्टसंकल्पः, समाधिः सोऽभिधीयते ॥८५॥
अम्बुसैन्धवयोरैक्यं, यथा भवति योगतः।
तथात्म-मनसोरैक्यं, समाधिः सोऽ भिधीयते॥८६॥
यदा संक्षीयते प्राणो, मानसञ्च प्रलीयते।
यदा समरसत्वञ्च, समाधिः सोऽभिधीयते ॥८७॥
न गन्धं न रसं रूपं, नच स्पर्शं न निःस्वनम्।
नात्मानं न परं वेत्ति, योगी युक्तः समाधिना।८८॥"

अर्थात्—भूख-प्यास, शीत-उष्ण, सुख-दुःखादि द्वन्द्व कहाते हैं। इन से पीडा तथा द्वेष न होनेका नाम ऐक्य है। इस अवस्था को पाकर जीवात्मा-परमात्मा को कारण मात्र रूप से एक जानना, समस्त मानसी तरङ्गों से रहित होना, समाधि कहलाती है।

जीवात्मा तथा परमात्मा के, तथा आत्मा और मनके—एक न होने से सिद्धि नहीं होती। इसलिये दृष्टान्त सहित दिखाते हैं, कि जैसे जल में सैंधा नमक (लवण) देने से दोनों का ऐक्य दीखता है, वैसे मन बाह्य विषयों से विमुख हो और अंतर्मुख आत्माकार-वृत्ति होकर आत्मा और मनका ऐक्य होता है, ऐसे जीवात्मा परमात्मा के एकपन को समाधि कहते हैं।

मन और प्राण को एकत्र करके स्थिर रूप से आत्माकी भावना करनेवाले योगी का जब प्राण वायु आत्मा में ही लीन हो जाता है, तब अन्तःकरण भी लीन होता है, जल और सैन्धव की तरह जीवात्मा तथा परमात्मा की एकता होती है, इसको ही समाधि कहते हैं।

योगी की समाधि में रहने की अवस्था कहते हैं। जो योगी समाधि में एकत्व को प्राप्त हो जाता है, उसकी सब इन्द्रियाँ मन में लीनता को

प्राप्त हो गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, इन पांचों विषयों को नहीं जानतीं। कोई वस्तुको अपनी वा पराई कुछ नहीं जानता, जीवात्मा तथा परमात्मा को पृथक् नही मानता, एक ही समझता हैं, इस प्रकार ध्यान में लीन होने से और किसी प्रकार का भान नहीं होता।

इस रीति से समाधि कही, यह वर्णन गोरक्षपद्धति का है। इस में जो भाषा लिखी गई है, वह वेंकटेश्वर छापाखाने की पुस्तक छपी हुई है, उसके अनुसार हमने लिखाया है, अपनी तरफ से श्लोकों का अर्थ नहीं बनाया है, यह पाठकोंको ध्यान रहे।

अब हम इन तीन अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि में जो न्यूनाधिकता है, सो पाठकों को दिखाते हैं। जो धारणा में ध्येयका स्वरूप कहा है, उस ध्येयरूप धारणा का करेगा, तो आत्म-स्वरूप कदापि न मिलगा, क्योंकि उस धारणा में पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, और चक्रादि को ध्येयरूप मानकर धारणा करना, यह आत्म-स्वरूप न हुआ। किन्तु प्रकृति रूप अर्थात् माया पुद्गलरूप धारणा हुई, जिससे आत्म स्वरूप मिलना असभव है। हाँ, इस ध्येरूप धारणा से ध्यान करे तो सिद्धियोंका कारण-भून युंजान योग अर्थात् पिण्डस्थ ध्यान होगा, न कि आत्म-स्वरूप का ध्यान। आत्म-स्वरूप की इच्छा वालोंके वास्ते जो ध्येय रूप धारणा है, उसे आगे कहेंगे। इस जगह, तो जिस ग्रन्थ के अनुसार कहते हैं, उसीका दिखाना ठीक है। जब धारणा ठीक न हुई, तब ध्यान किसका करे? इस रीतिके धारणा-रूप ध्यान से आत्म-समाधि कदापि न बनेगी। और समाधिमें मनकी तरङ्गों का न होना, और मनका आत्माकार-वृत्ति होकर आत्मामें एक हो जाना यह तो ठीक है, परन्तु अपनी या दूसरेकी कुछ भी दशा नहीं जानता, यह जो ८८ श्लोक में कहा है वह बात असंभव है, क्योंकि आत्म-समाधि वालेको त्रिकालका ज्ञान होता है, और अपनेको अपना स्वरूप का साक्षात्कार होता है, वैसे ही परवस्तु भी अव्यवहित होने पर भी प्रतीत होती है, इसी का नाम सर्वज्ञ है। "स्वद्रष्टा" ऐसा

योग-दर्शनमें पतञ्जलि ऋषि भी कहते हैं, इसलिये आत्मसमाधि में स्थित को सर्वज्ञ मानो, स्व-पर का अनजान मत पहिचानो। अस्तु।

अब श्रीपतंजलि ऋषि के योग-दर्शनके अनुसार धारणा, ध्यान और समाधि को दिखाता हूँ।

"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा (३१) पदा० (देशबन्धः) नाभि आदि स्थानों में स्थिर करना, (चित्तस्य) चित्त की (धारणा) धारणा कहलाती हैं। भाषा—चित्त के नाभि आदि स्थानों में स्थिर करने का नाम धारणा है।

व्या० द० का भा०—नाभिचक्रे हृदय-पुण्डरीके मूर्ध्नि ज्योतिषि नासिकाग्रे जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति बन्धो धारणा ॥१॥ भा० का, पदा० (नाभिचक्रे) नाभि स्थानमें (हृदयपुण्डरीके) हृदय कमल में (मूर्ध्नि) कपाल में (ज्योतिषि) भ्रू मध्यमें, (नासिकाग्रे) नासिका के अग्रभाग में (जिह्वाग्रे) जिह्वा के अग्रभागमें (इत्येवमादिषु देशेषु) इत्यादि स्थानोंमें (बाह्ये वा विषये) अथवा बाह्य विषयों में (चित्तस्य) चित्तका (वृत्तिमात्रेण बन्धः) वृत्तियोंके द्वारा स्थिर होना (इति बन्धो धारणा) यह स्थिर होना धारणा कहलाती है।

भा० का भा० नाभि आदि अन्तर्देशोंमें या बाह्य देशों में वृत्ति के द्वारा जो चित्तको स्थिर किया जाता है, उसको धारणा कहते हैं।

सूत्र वि०—बाह्य विषय का अभिप्राय यह है, कि इन्द्रियों के जो रूपादि स्थूल अर्थात् तन्मात्रा हैं, उन में चित्त को लगाना भी धारणा शब्द का वाच्य है। आजकल जो हठयोग वाले षट्चक्र-भेदन का अभ्यास किया करते हैं, वे भी इसी सूत्र के अभ्यास से करते हैं। और थियोसाफिष्ट इसी सूत्र से बाह्य विषय अर्थात् किसी बिन्दु-विशेष या वस्तु-विशेष में चित्त के लगाने का अभ्यास किया करते हैं। परन्तु यह सब क्रिया योगियों को हानि पहुंचाती है।

ध्यानका वर्णन ।

सूत्र—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥२॥

अर्थ—(तत्र) नाभि आदि स्थानों में (प्रत्ययैकतानता) ज्ञान की स्थिरता, जो अन्य उपायों से प्राप्त न होती है (ध्यानम्) ध्यान कहाता है।

सूत्र की भाषाटीका—नाभि आदि देशों में जो ध्येयका ज्ञान होता है उसको ध्यान कहते हैं।

व्यास की भा०—(तस्मिन्देशे)उन नाभि आदि स्थानों में ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता) ध्येय के अवलम्बन के ज्ञान में लय हो जाना (असदृशः प्रवाहः) अनुपम ज्ञान का प्रवाह(प्रत्ययान्तरेण परामृष्टः) और ज्ञान से जो सम्बन्ध रखता हो (ध्यानम्) उसे ध्यान कहते हैं ॥२॥

भा० का भा०--नाभि आदि स्थानों में ध्येयके ज्ञान में चित्त का लय हो जाना, और उसमें दूसरे ज्ञानका अभाव हो, उस को ध्यान कहते हैं ।

समाधिका वर्णन ।

सूत्र—तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥३॥

अर्थ—(तदेव) वही ध्यान (अर्थमात्रनिर्भासम्) अर्थ मात्र रह जाय, (स्वरूपशून्यमिव) स्वरूप-शून्य सा प्रतीत हो, (समाधिः) उसको समाधि कहते हैं ॥३॥

भा० का प०--(इदमत्र बोध्यम्) ऐसा यहां जानना चाहिये, (ध्यातृध्येयध्यानकलनावद् ध्यानम्) ध्यान करनेवाला और जिसका ध्यान किया जाय तथा ध्यान, इन तीनोंका प्रभेद जिसमें प्रतीत हो, वह ध्यान कहलाता है। (तद्रहितं समाधिः) उस भेदसे रहित को समाधि कहते हैं। (इति ध्यानसमाध्योर्विभागः) यही ध्यान और समाधि में भेद है। (अस्य च समाधिरूपस्याङ्गस्याङ्गियोगसंप्रज्ञातयोगादयं भेदः) इस समाधि रूप योगाङ्ग का अङ्गसम्प्रज्ञातयोग से यही

भेद है,(यदत्र चिन्तारूपतया निःशेषतो ध्येयरूपं न भासते) जिस समाधि में चिन्ता विनष्ट हो जाने के कारणध्येयका स्वरूप प्रकाशित नहीं होता। (सम्प्रज्ञाते) सम्प्रज्ञात में, (साक्षात्कारोदये समाध्यविषया अपि विषया भासन्ते) साक्षात्कार के उदय होने से समाधि के अगम्य विषय भी प्रतीत होते हैं, (तथा च साक्षात्कारयुक्त एकाग्रकाले संप्रज्ञातयोगः) साक्षात्कार से युक्त एकाग्र अवस्था में सम्प्रज्ञात योग होता है, (अन्यदा तु) और समय में तो (समाधिमात्रमिति विभागः) समाधि-योग होता है ; यही विभाग हैं।

(समाधिध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासम्) समाधि ध्यान ही ध्येयाकार में प्रतीत होने लगता है। (प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमेव यदा भवति) ज्ञान स्वरूप से शून्य के समान हो जाता है। (ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते) ध्याता में जब ध्येयके स्वभावका आवेश हो जाता है तब समाधि होती है ।।३।।

प्रथम पाद का तृतीय सूत्र लिखकर दिखाते हैं:—

सूत्र—"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" ।।३।।

अर्थ—(तदा तस्मिन्काले, काले देति दा प्रत्ययः, तच्छब्दो हि पूर्वपरामर्शकः) उस समय, (द्रष्टुः,पश्यतीति द्रष्टा तस्य, दृशेस्तृच् इति दृशेः तृच् प्रत्ययः) देखनेवाले की अर्थात् निर्विकल्प समाधिस्थ जीवकी, (स्वरूपेस्वस्य रूपं स्वरूपं तस्मिन्) आत्म चिन्तनमें, (अवस्थानम्, वस्थानं वा अवतिष्ठति विचार्यते अनेनास्मिन्वेत्यस्थानम्, द्वितीयपक्षे भागुरिऋषेर्मतेनाकारलोपः, पूर्वं तु "एङः पदान्तादति" इति सूत्रेणाकारस्य पूर्वरूपत्वम्) विचार किया जाय जिससे, उसको अवस्थान कहते हैं।

भाष्यका भावार्थ—जब सम्प्रज्ञात योगमें चित्तकी स्थिति हो जाती है, तब जीव केवल अपने स्वरूपका विचार और दर्शन करता है। जैसे कैवल्य-मोक्षमें ज्ञान शक्ति रहती है, ऐसे ही निर्विकल्प समाधिमें भी ज्ञान शक्ति रहती है। उस शक्ति का साफल्य तब ही होता है, जब किसी ज्ञेय पदार्थ से सम्बन्ध हो। तब उस निर्विकल्प समाधिमें

ज्ञेय क्या है? इसका उत्तर यही है कि उस सम्प्रज्ञात योग में केवल अपना स्वरूप ही ज्ञेय है। क्योंकि जबतक द्रष्टा बाह्य स्वरूपों को देखता है तब तक वह अपने स्वरूपको नहीं जान सकता।

सूत्र—"वृत्तिसारूप्यमितरत्र" ॥४॥

भावार्थ---निरुद्धावस्थाके अतिरिक्त और दशाओंमें चित्तवृत्तिके रूपको धारण कर लेता है"।

इस रीतिसे पातञ्जल योगसूत्रका लेख दिखाया, परन्तु धारणामें ध्येय वस्तुका यथावत् स्वरूप न आया। जब धारणा यथावत् न हुई तो ध्यान भी यथावत् न होगा। और समाधिका स्वरूप तो ठीक है, परन्तु धारणा और ध्यानके ठीक न होने से समाधिमें भी भ्रम होता है। परन्तु प्रथम पाद के तृतीय सूत्रानुसार अपने स्वरूपको देखना यह समाधिका यथावत् लक्षण बनता है। विशेष पातञ्जल योग-दर्शनमें देखो, इस जगह तो प्रक्रिया मात्र दिखाई है। पृथक् २ प्रक्रिया होनेसे अनेक तरह के भ्रम उत्पन्न होते हैं। जबतक रहस्य बताने वाला यथावत् गुरू न मिले, तबतक यथावत् रहस्य प्राप्त होना कठिन है। और विना यथावत् गुरूके कर्ताका अभिप्राय नहीं मिलता। उस अभिप्रायके विना मिले जिज्ञासु की शंका दूर नहीं होती। जबतक शंका दूर न होगी, तबतक विश्वास न होगा, तथा विना विश्वासके यथावत् प्रवृत्ति नहीं होती, और बिना यथावत् प्रवृत्ति के उसका फल नहीं। इसलिये हमारा सज्जन पुरुषोंसे कथन है कि विवादको छोड़कर बुद्धि-पूर्वक विचारकर पदार्थ में अपेक्षा-सहित वस्तु का ग्रहण करना, और एकान्तको न खींचना, तब ही कार्यकी सिद्धि होगी। एकान्त का खींचना है सो ही, अज्ञान अर्थात् मिथ्यात्व है; इसलिये स्याद्वादको अङ्गीकार करना चाहिये।

वर्तमान समयमें तो स्याद्वाद मतवाले भी एकान्त खींचते हैं, क्योंकि हुण्डावसर्पिणी काल, पञ्चम आरा और असंयतकी पूजा इत्यादि कारणोंसे दुःखगर्भित, मोहगर्भित वैराग्यवाले गुरुपरम्पराके विना न्याय-

व्याकरणादि पढ़कर जाति कुलके जैनियोंमें झगड़ा कर एकान्त पक्षको थापने लगे। जब आपसमें ही स्याद्वादी नाम धराकर एकान्त खींचने लगे, और दूसरोंको एकान्त कहकर विरोध दिखावें उसमें तो कहना ही क्या? परन्तु १५ भेद सिद्धोंके होनेसे अनुमान होता है कि वीतराग सर्वज्ञदेवका किसीसे विरोध न था, और उन्होंने जैसा अपने ज्ञान में देखा वैसा ही कहा, इसलिये वे वीतराग हैं। और सबकी अपेक्षाको वे अपने ज्ञानमें जानते हैं। इसलिये सब पर समता-भाव लाना, किसीसे विरोध न करना—न कराना, उसके वचनको सुन उसकी अपेक्षासे उसको समझाना, मूढ़ताको निकालकर शुद्धमार्ग पर लाना, यही सर्वज्ञोंका है फरमाना, उसकी अपेक्षा को छोड़ कर झगड़ा न मचाना, स्याद्वादमत के अनुसार अपने दिल को ठहराना, स्याद्वादमत को जान उसकी तरफ भी न हो जाना, क्योंकि सर्वज्ञोंका विवाद इसी लिये नहीं है, वे सर्व की अपेक्षा जानते हैं। और जब कोई सर्वज्ञ मत वाले के पास में आता है, उस आनेवाले को उस की अपेक्षा के सहित समझा देते हैं। जो अपेक्षाको नहीं समझाने वाले हैं, उन्हीं से झगड़ा होता है। सो सर्व मतावम्बी एक २ अपेक्षा को लेकर एकान्त पकड़ बैठे, इसीलिये झगड़ा हो गया। किन्तु मुझे तो सर्वज्ञ-मतानुसार इस स्याद्वाद सर्वज्ञ मत से बाहिर कोई नहीं दीखता है।

श्री आनन्दघनजी महाराज ने २१ वें श्रीनमीनाथ जी के स्तवन में षड्दर्शनों का अङ्ग-उपांग मिलाकर श्री नमीनाथ जी का शरीर बनाया है। मैं इस जगह किंचित् एकता करके दिखाता हूँ, कि जैन मत में मुख्यता दो पदार्थों की है,१ जीव २ अजीव। इन दो पदार्थों के अनेक भेद करके जिज्ञासुओं को समझाया है। इन दो पदार्थों से अतिरिक्त पदार्थ को मानने वाला कोई नहीं है। कोई तो एक जीव ही को मानता है, कोई दोनों को मानता है। इस से बाहिर कोई दृष्टिगोचर नहीं होता।

वेदान्ती अद्वैत अर्थात् एक ब्रह्म को मानता है, तो देखो श्री ठाणांग जी के पहिले ठाने में "एगे आया" ऐसा पाठ है, तो देखो

एक कहने से अद्वैत सिद्ध हो गया। दूसरा सर्वज्ञोंने ऐसा भी फरमाया है, कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य ये चार गुण और असंख्यात प्रदेश जीव के हैं वे भव्य, अभव्य, सिद्ध और संसारी सबके बराबर हैं। वे चार गुण और असंख्यात प्रदेश किसी के न्यूनाधिक नहीं। इस रीतिसे कहना और आपस में अंतर न होना, इस अपेक्षा से अङ्गीकार करे तो अद्वैतवादीसे कुछ विरोध नहीं। सामान्य अपेक्षा से उसने भी सर्वज्ञ विरुद्ध कथन नहीं किया। इस "एगे आया" शब्द को लेकर अद्वैत को सिद्ध कर दिया।

नैयायिक जो कर्ता मानता है, सो एक अंशमें उसका कर्तापन भी सिद्ध होता है, क्योंकि यह जीव अपने स्वभाव का कर्ता है। यदि यहां कोई ऐसी शंका करे, कि नैयायिक तो सृष्टि का कर्ता मानता है, तो हम कहते हैं, कि जीव अनादि काल से सृष्टिका कर्ता बना हुआ है। इसलिये कुछ दोष नहीं प्रतीत होता। कदाचित् कोई यह कहे, कि वह तो ईश्वरको सृष्टि का कर्ता मानता है। तो हम कहते हैं, कि वह सृष्टि का निमित्तकारण मानता है, परन्तु उपादान कारण तो और पदार्थ को ही मानता है। यदि कोई ऐसा कहे, कि जैन में तो निमित्त-कारण कोई ईश्वर है नहीं। इसका समाधान ऐसा है कि "स्याद्वाद अनुभव रत्नाकर" हमारा रचा हुआ है, उसमें जो नैयायिक मत दिखाया है, वहां जीव और ईश्वरकी एकता कर दिखाई है, सो देखो।

इस जगह ऐसी शंका होती है, कि कर्तापनका विरोध मिटा, परन्तु निमित्तकारण ईश्वरका समाधान न हुआ। इसका उत्तर ऐसा है कि इस सृष्टिके रचने में तथा जन्म-मरण करनेमें जीव निमित्त कारण है, क्योंकि निश्चय अर्थात् नियम-पूर्वक जीव अपने गुणका कर्ता है, और जन्म, मरण आदि का कर्ता नहीं, क्योंकि जन्म-मरणादि सुख-दुःख पौद्गलिक हैं, सो निश्चय नय करके उपादान पुद्गल कर्ता है, और जीव निमित्त है। यदि उसको उपादान कारण मान लेंगे, तब तो

जीवका अभव्यादि स्वभाव न रहेगा। जब अभव्यादि स्वभाव जीव में न रहा तो अजीव हो जायगा। इस रीतिसे निमित्त भी बन गया।

अब यहां यह सन्देह होता है, कि नैयायिक तो नाना ईश्वर नहीं मानता है। तो हम कहते हैं, कि नैयायिकने आत्मा एक मानी है, इस को जहां द्रव्य की गणना की है, वहाँ पर देखो। हमने तो विरोध मिटा कर झगड़ा मिटा दिया। अब इस जगह यह सन्देह होता है, कि नैयायिक मोक्षमें आत्माको जड़वत् मानता है, तब विरोध कहां मिटा? उत्तर—नैयायिक जो जड़वत् मानता है, उसका कारण यह है, कि मोक्ष में हिलना, चलना, इशारा करना, शब्द-उच्चारणादि कुछ नहीं है, इस लिये उस की समझके अनुसार कहता है, क्योंकि किसीने यह दोहा ठीकही कहा है;

"जितनी जाकी बुद्ध है, उतनी कहे बनाय।
बुरा न ताका मानिये, लेन कहांसे जाय? ॥"

सांख्यवादी कहता है कि "पुरुषः पलाशवत्"— पुरुष ढाक के पत्तेकी तरह है, अर्थात् जैसे ढाकके पत्तेके ऊपर पानी पड़ता है, परन्तु भीतर प्रविष्ट नहीं होता, इसी ही प्रकार पुरुष अर्थात् आत्मा में प्रकृतिका लेप नहीं है। वेदान्ती भी ब्रह्मको कूटस्थ, सच्चिदानन्द रूप मानते हैं, माया की उपाधिमें सर्व प्रपञ्च हो रहा है। तब देखो सर्वज्ञ वीतरागने भी अपने ज्ञानमें देखा कि जीव के असंख्यात प्रदेशोंका कर्मों की वर्गणाने आच्छादन किया है, जैसे सूर्यको बादल आच्छादित कर लेता है, वैसे ही जीवको कर्मोंने आच्छादित कर रक्खा है। परन्तु जीव और कर्मका मेल नहीं, इस आशयको लेकर सांख्य कहता है कि पुरुष (आत्मा) निर्लेप है।

प्रश्न—आपने यह बतलाया कि जिस प्रकार मेघ सूर्यको आच्छादित कर देता हैं, इसी प्रकार कर्म जीवको आच्छादित कर देते हैं। परन्तु शास्त्रोंमें जीवकी कर्मों के साथ क्षीर-नीर (जैसे दूध और जल मिलनेसे एक रूप दीखते हैं) की तरह एकता कही है।

उत्तर—भो देवानुप्रिय! तुमने शास्त्रका नाम सुन लिया है, परन्तु शास्त्रकारोंके रहस्यको नहीं जानते हो। यदि गुरुगमसे शास्त्र-श्रवण किया होता, तो इस प्रकारका कुतर्क तुम्हारे चित्तमें नहीं उत्पन्न होता। दुःख-गर्भित वेषधारियों को विसराओ, अध्यात्मी गुरुको पाओ, तो फिर ऐसे विकल्प न उठाओ, स्याद्वाद जैन धर्म का रहस्य हृदय में जमाओ। जैसे वादल सूर्य का आच्छादन करता है, वैसे ही कर्म जीवका आच्छादन कर देते हैं, ऐसा श्री पन्नवणा सूत्रमें कहा है, हमने कुछ मनःकल्पित नहीं कहा। और तुमने जो क्षीर-नीर का नाम लिया, उसक्षीर-नीर-न्यायको भी आचार्य कहते हैं। उन आचार्यों का अभिप्राय ऐसा है कि जीव और कर्म का संयोग-सम्बन्ध होने से तदाकार होकर, वे क्षीर-नीर-न्यायसे रहते हैं, क्योंकि दूध और जल सयोग-सम्बन्ध से तदाकार स्थूलवुद्धि वालों को दीखते हैं, परन्तु आपस में पृथक् २ हैं, क्योंकि संयोग-सम्बन्ध वाली वस्तु समवाय सम्बन्ध के अनुसार कदापि नहीं हो सकती। क्योंकि देखो, दूध और जल मिलाकर चूले पर गरम करो तो जब तक जल है, तबतक दूध न जलेगा, केवल जल ही जलेगा, यह अनुभव बुद्धिमानों को प्रत्यक्ष हो रहा है। यदि दोनों एक ही होते तो दोनों को ही जलना चाहिये था। इसलिये उन आचार्यों का क्षीर-नीर-न्याय, जीव-कर्म के सम्बन्ध में कहना तो लोलीभाव से है। जो कुछ मेरी बुद्धि में आया वह मैंने पाठक गण को लिख कर दिखा दिया। इस मेरे कथन में जो वीतराग की आज्ञा से विरुद्ध हो तो मैं मिथ्या दुक्कड़ (दुष्कृत) देता हूं।

मीमांसा में कर्मों की मुख्यता मानी गई है, सो किसी अपेक्षा से उसका भी कथन ठीक है, क्योंकि जैन सिद्धान्तों में भी कर्म के वश पड़ा हुआ जीव नाना प्रकार के नाच नाचता है और कर्म का कर्म ही है। इसी आशय से मीमांसा कर्म की मुख्यता मानता है। बौद्धमत वाला पदार्थ को क्षणिक मानता है, सो बौद्ध भी इस न्या

द्वाद् सर्वज्ञ के आशय का अंश लेकर क्षणिकता का अङ्गीकार करता है, क्योंकि सर्वज्ञ वीतराग वर्द्धमान स्वामी ने सर्व पदार्थ को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य-युक्त कहा है; उत्पाद अर्थात् उत्पन्न होना, व्यय—अर्थात् विनाश होना और ध्रौव्य स्थिर कहाना है। सो इस उत्पाद-व्यय की अपेक्षा से बौद्ध ने क्षणिकता का अङ्गीकार किया है।

इस रीति से आस्तिकों का विरोध मिटाया, जैन सिद्धान्त से विरुद्ध न लिखाया, स्याद्वाद सिद्धान्त का रहस्य दिखाया, अपेक्षा से हमने सब को एक मिलाया, १५ भेद से सिद्ध होना सर्वज्ञ ने फरमाया; क्योंकि जैन मत में नय का समझना बहुत दुष्कर है। और अपेक्षा का समझना भी बहुत कठिन हैं। जबतक अपेक्षा और नय को न जानेगा, तबतक जैन-धर्म को भी न पावेगा, बिना जैन-धर्म राग-द्वेष न मिटावेगा, शान्ति बिना वेष को लजावेगा, दुःख से वैराग्य लेकर लोगों को लड़ावेगा, आपस में राग-द्वेष करावेगा, लोगोंका माल खाकर अपने को पूजावेगा, इसी लिये वह अपना अनन्त संसार बढ़ावेगा।

अब श्री वीतराग सर्वज्ञ देव ने जिस रीति से ध्येय का स्वरूप कहा है, उसके अनुसार ध्येय का स्वरूप बतलाते हैं। उस ध्येय का ज्ञान-सहित विचार करके जो हेय अर्थात् छोड़ने के योग्य हैं उसको छोड़े, और जो उपादेय अर्थात् ग्रहण करने के योग्य हो उसको ग्रहण करे। उस ग्रहण किये हुए को धारणा में लावे, उस धारणा के ध्यान के बाद समाधि होगी। इसलिये अब हमको पदार्थों का कहना आवश्यक हुआ, क्योंकि जबतक पदार्थ का वर्णन न करेंगे, तबतक आत्म-रूप ध्येय का बोध कदापि न होगा, क्योंकि पदार्थ के ज्ञान में प्रतिपक्षी का जानना आवश्यक है; कहा भी है "पदार्थज्ञाने प्रतिपक्षी नियामकः"। इसलिये जब आत्मरूप ध्येय की धारणा करनी है, तो अनात्मा जो हेय पदार्थ हैं उसका आत्मपन दिखाकर त्याग न करावे, और आत्मा को ही ध्येयरूप धारणा से ध्यान करावे तो वह कदापि न होगा। क्योंकि आत्मा से अनात्मा का अनादि

संयोग है। इसलिये जब आत्मा और अनात्मा दोनों का स्वरूप दिखा कर अनात्मा में ग्लानि उत्पन्न करा दे,और आत्मा में रुचि करावे तब उस आत्मारूप ध्येय की धारणा यथावत् सिद्ध हो, क्योंकि बिना ग्लानि के दूसरी जगह रुचि नहीं होती। इसलिये यहाँ एक दृष्टान्त ग्लानि और रुचि पर दिखाते हैं।

एक नगर में एक बहुत मातबर धनाढ्य साहूकार रहता था। उसका नाम लक्ष्मीसागर था। उसको एक पुत्र था। वह बालक अति सुन्दर तथा चतुर था, और व्यापार, बातचीत, उठना बैठना आदि सब बातों में लायक और बुद्धिमान् था। परन्तु उसमें एक दोष यह था कि वह वेश्या-गमन करता था। इस व्यसन के होने से उसने लाखों रुपये खर्च कर दिये। यह दोष उसके पिता को विदित हो गया, तब उसने इसके दूर करने के लिये अनेक प्रयत्न परोक्ष में किये जिससे कि यह दोष दूर हो जाय, और उसको मालुम पड़े। परन्तु उस लड़के का व्यसन न छुटा, तब सेठ ने विचारा, कि इसके वास्ते कोई ऐसा उपाय करूं, जिससे इसको वेश्या के यहाँ जाने से ग्लानि हो, तथा अपनी स्त्री में रुचि करे, तब इसका यह व्यसन छूटेगा। इसलिये अब मुझको उचित है कि इसको प्रत्यक्ष भेजूं,क्योंकि चोरी से जाने से बहुत खर्चा पड़ता है। यह विचार कर एक रोज़ अपने पुत्र से कहने लगा कि हे प्रिय पुत्र! जिस समय चार घड़ी दिन बाकी रहे उस समय तुम सैर करने को चले जाया करो, और पहर ड़ेढ़ पहर रात के व्यतीत हो जाने पर लौट आया करो,तुमको जितने रुपयों की आवश्यकता हो, उतने रोकडिये से ले जाया करो। यदि इस आयु में ही मोज-शोख न करोगे तो फिर कब करोगे? क्योंकि धन का उपार्जन सुख भोगने के लिये ही किया जाता है। इसलिये तुम अपने दिल में किसी प्रकार की फिक्र न करो। ऐसा अपने पिता के मुख से सुनकर अपने चित्त में वह बालक बहुत प्रसन्न हुआ, क्योंकि पिता का भय भी जाता रहा। परन्तु सेठ अपने चित्त में उस लड़के के हृदय में ग्लानि उत्पन्न कराने

के लिये उपाय सोचने लगा। तथा उस लड़के को विश्वास दिलाने के लिये प्रतिदिन सायंकाल को चार घड़ी दिन रहने से ही वह सेठ अपने पुत्रसे कह देता था कि तेरे भ्रमणका समय हो गया, और यह काम तो पीछे से भी होता रहेगा। इस रीति से जब दो चार महीने हो गए तब तो वह साहूकार का पुत्र वेश्या के यहां अधिक जाने लगा, और नाच-रंग कराने लगा, और रुपया खूब उड़ाने लगा यार-दोस्तों को भी बुलाने लगा, क्योंकि पहिले तो पिता का भय था, और अब तो पिता ने आप ही जाने की आज्ञा दे दी थी। ऐसा करते करते चन्द दिन व्यतीत हो जाने के बाद एक दिन उसके पिताने विचार किया, कि आज इस समय न जाने दूं, और प्रातः समय इसको भेजूं, तो शायद इसको ग्लानि हो जाय। ऐसा विचार कर उस साहूकार ने उस दिन दूकान पर विशेष काम फैलाया, और अपने पुत्र को फरमाया, कि हे पुत्र! आज कुछ विशेष काम दूकान पर है। यदि आज यह दूकान का काम न होगा, तो विशेष हानि होगी, इसलिये आज तुम इस समय न जा, बल्कि इसके बदले प्रातःकाल सैर कर आना। यह सुनकर साहूकार का लड़का अपने दिल में विचारने लगा, कि यथार्थ में काम आज अधिक है। जो मैं चला जाऊँगा तो लाखों रुपयों की हानी होगी। यह विचार कर उस दिन न गया, काम-काज को समाप्त करके अपने घर जाकर सो गया। फिर उस साहूकार ने प्रातःसमय, जबके पीले बादल हुए, अपने पुत्र को जगाया और कहने लगा, कि तू कल सायंकाल को सैर करने नहीं गया था, सो इस समय सैर कर आ। उस समय वह साहूकार का पुत्र उठा, और पिता के कहने से सैर करने को चल दिया। तब उस साहूकार ने घर में आकर अपनी स्त्री से कहा कि तू अपनी पुत्र-वधू से कह दे कि जिस समय तेरा पति वेश्या के घर से आवे, उस समय तू उसका विशेष हाव-भाव से सत्कार करना, जिससे उसका वेश्या-गमन छूट जाय। इतना सुनकर वह स्त्री अपनी पुत्र-वधू को

समझा आई। इधर साहूकार का पुत्र जिस वेश्या के पास जाता था, उसके पास पहुँचा और जिसका रूप सायंकाल को देखकर मोहित होता था, सो प्रातःकाल उसको सोती हुई देखकर मोहित होना तो दूर रहा, प्रत्युत ग्लानि होने लगी; क्योंकि सायंकाल को तो उसका स्वरूप अच्छा मालूम होता था, और प्रातःकाल को उस वेश्या के केश तो विखरे हुए थे, और आंखों में गीढ़े आ रही थीं, तथा मुख काजल से काला हो रहा था, रात्रि को पान खाने से होठों पर काली पपड़ी जमी हुई थी, मेले कुचैले कपड़े पहिने हुई डाकिन की तरह सो रही थी, अपने रूप को खो रही थी, उस समय देखने वालों को दुखदाई हो रही थी।

इस रीति का हाल उस वेश्या का देखकर साहूकार के पुत्र के चित्त में ग्लानि उत्पन्न हुई, और कहने लगा कि हाय हाय ! इन चूड़ेलों के पीछे मैंने लाखों रुपये निष्फल व्यय किये, इन डाकनियों ने सायंकाल को कपट कर मेरे को मोहित किया, तथा मुझको अपनी आवरू से भी खोया, अब मैंने इनका चुडैलपन का हाल पा लिया, इसलिये मेरा दिल भी इनसे भर गया। अब कदापि इनके पास में न आना, अपने धन को भी बचाना, मनुष्यों में अपयश भी न उठाना, वड़ों के नाम को न लजाना, अपने मान को बनाना ही उचित हैं। ऐसा विचार कर अपने घर को चला आया। उसको आता देखकर उसकी स्त्री मुसकराने लगी। और दोनों की चार नजर होते ही उस साहूकार के पुत्र को अपनी स्त्री के ऊपर ऐसा अनुराग हुआ कि उन वेश्याओं को भूल गया और उनके जाने का पश्चात्ताप करने लगा कि मैंने ऐसी रूपवती, सुशीला और आज्ञाकारिणी अपनी पत्नी को छोड़कर उन डाकिनियोंकी संगति में पड़कर अपना अपयश किया। यह सोच-कर उसने अपने चित्त में प्रतिज्ञा की; कि आज से मैं वेश्या के यहां न ज़ाकर घर ही पर चित्त लगाऊंगा। इस प्रतिज्ञा को करके अपने वाणिज्य-व्यापार मे प्रवृत्त हुआ।

जब सायंकाल हुआ तो उस लक्ष्मीसागर सेठ ने कहा, कि हे पुत्र! अब इस काम को छोड़ो, क्योंकि पर्यटन का समय हो गया, इसलिये पर्यटन करने के वास्ते जाओ। उस समय वह लड़का चुप होगया। फिर कुछ काल के बाद साहूकार ने कहा, कि हे पुत्र! तुम निःसंदेह जाओ, क्योंकि यह तुम्हारी आयु आनन्द उठाने की है, तथा घर में धन भी बहुत है, इसलिये तुम किसी बात की चिन्ता न करो।

यह सुनकर साहूकार का पुत्र कहने लगा कि हे पिताजी! अब मैं वेश्याओं के यहां न जाऊँगा, क्योंकि मुझको वहां जाने से ग्लानि उत्पन्न होती है, इसलिये मेरा चित्त वहां जाने को नहीं करता है। इसलिये आप मुझको शरमिन्दा न करें, मुझको वहां जाने से लज्जा आती है, तथा उनके यहां जाना मुझको दुःख देता है। यह वृत्तान्त अपने पुत्र के मुख से उस साहूकार ने सुन कर चित्त में विचार किया कि मेरा उपाय तो सफल होगया, क्योंकि इसका चित्त उनसे हट गया। फिर वह लड़का वेश्या के स्थान पर कभी नहीं गया, और वेश्या-गमन के व्यसन को छोड़कर अपने घर मे संतोष किया।

इस दृष्टान्त का दार्ष्टान्तिक अर्थ पाठक-गण को समझाते हैं, कि जैसे उस साहूकार ने वेश्या-गमन छुड़ाने के अनेक यत्न किये, परन्तु ग्लानि के अतिरिक्त कोई उपाय सफल न हुआ। इसी रीति से जब तक आत्मा का स्वरूप जान कर अनात्मा में ग्लानि न बैठेगी, तबतक आसन, प्रणायाम, मुद्रा, कुम्भक, चक्रादि कितने ही उपाय करो, कदापि अनात्मा न छूटेगी। इसलिए जब अनात्मा-रूप ध्येय में ग्लानि होकर हेय होगा, उस समय रुचि-रूप आत्मा को उपादेय अर्थात् ग्रहण करेगा। इसलिये पदार्थ का कहना आवश्यक मालुम होता है, सो पदार्थ दिखाते हैं।

पदार्थ-निरूपण।

श्री वीतराग सर्वज्ञ देव ने दो पदार्थ बताये हैं:—जीव और

अजीव। इन दो पदार्थों के छः द्रव्य होते हैं, जिसमें एक तो जीव द्रव्य है, और पांच अजीव द्रव्य हैं, जिसमें भी चार तो मुख्य हैं, और एक उपचार से हैं। सो इनके नाम गिनाते हैं १ आकाशास्तिकाय, २ धर्मास्तिकाय, ३ अधर्मास्तिकाय ४ पुद्गलास्तिकाय, ये चार तो मुख्य हैं और पांचवां काल द्रव्य उपचार से है।

इन छः द्रव्यों के गुण और पर्याय गिनाते हैं। प्रथम जीव द्रव्य के चार गुण और चार पर्याय ये हैं। गुण—१ अनन्त ज्ञान, २ अनन्त दर्शन ३ अनन्त चारित्र, ४ अनन्त वीर्य। पर्याय—१ अव्याबाध, २ अनवगाह, ३ अमूर्तिक, ४ अगुरुलघु।

आकाशास्तिकाय के गुण-पर्यायों का वर्णन।

गुण—१ अरूपी, २ अचेतन, ३ अक्रिय, ४ अवगाहना-दान। पर्याय—१ स्कन्ध, २ देश, ३ प्रदेश, ४ अगुरुलघु।

धर्मास्तिकाय के गुण-पर्याय।

गुण—१ अरूपी, २ अचेतन, ३ अक्रिय, ४ गति-सहायता। पर्याय—१ स्कन्ध २ देश, ३ प्रदेश, ४ अगुरुलघु।

अधर्मास्तिकाय के गुण-पर्याय।

गुण—१ अरूपी, २ अचेतन, ३ अक्रिय, ४ स्थितिसहायता। पर्याय—१ स्कन्ध, २ देश, ३ प्रदेश, ४ अगुरुलघु।

पुद्गलास्तिकाय के गुणादि-वर्णन।

गुण—१ रूपी,२ अचेतन, ३ सक्रिय,४ पूरण-गलन-विनशन-सड़न। पर्याय—१ वर्ण, २ गन्ध, ३ रस, ४ स्पर्श अगुरुलघु सहित।

कालद्रव्य के गुण-पर्याय।

गुण—१ अरूपी, २ अचेतन, ३ अक्रिय, ४ नया-पुराना-वर्तना लक्षण। पर्याय—१ अतीत, २ अनागत, ३ वर्तमान, ४ अगुरुलघु।

ये छः द्रव्यों के गुण पर्याय कहे। ऊपर लिखी रीति से छओं

द्रव्यों को जाने और इसमें से पांच अजीव को छोड़ कर एक जीव द्रव्य को ग्रहण करे। इसका विशेष विस्तार तथा खण्डन-मण्डन सिद्धान्तोंमें बहुत लिखा है। तथा 'द्रव्य अनुभव रत्नाकर' ग्रन्थ हमारा रचा हुआ है, उसमें आदि से लेकर अन्त तक सर्व द्रव्यों का ही प्रतिपादन किया है, सो वहां देखो। यहां पर ग्रन्थ विस्तृत हो जाने के भय से विस्तार से नहीं लिखा। इस जगह तो केवल हमको जीव अर्थात् आत्मा का वर्णन करके जिज्ञासु के उपकार के लिये आत्मा को सिद्ध कर ध्येयरूप धारणा से ध्यान और समाधि करानी है। इसलिये जीव द्रव्य को ५७ प्रकार से सिद्ध करते हैं।

५७ प्रकारों के नाम।

१ निश्चय, २ व्यवहार, ३ द्रव्य, ४ भाव, ५ सामान्य, ६ विशेष, नाम-निक्षेप, ८ स्थापना-निक्षेप, ९ द्रव्य-निक्षेप, १० भाव-निक्षेप, ११ प्रत्यक्ष प्रमाण, १२ अनुमान-प्रमाण, १३ उपमान-प्रमाण, १४ आगम-प्रमाण, १५ द्रव्य, १६ क्षेत्र, १७ काल, १८ भाव, १९ अनादि-अनन्त, २० अनादि-सान्त, २१ सादि-सान्त, २२ सादि-अनन्त, २३ नित्य पक्ष, २४ अनित्य पक्ष २५ एक पक्ष, २६ अनेक पक्ष, २७ सत्पक्ष २८ असत्पक्ष, २९ वक्तव्य-पक्ष, ३० अवक्तव्य-पक्ष, ३१ भेद-स्वभाव, ३२ अभेद-स्वभाव, ३३ भव्य-स्वभाव, ३४ अभव्य-स्वभाव, ३५ नित्य-स्वभाव, ३६ अनित्य-स्वभाव ३७ परम-स्वभाव ३८ कर्ता, ३९ कर्म, ४० करण, ४१ सम्प्रदान, ४२ अपादान, ४३ सम्बन्ध, ४४ अधिकरण, ४५ नैगम नय, ४६ संग्रह नय, ४७ व्यवहार नय, ४८ शब्द नय, ४९ समभिरूढ़ नय, ५० एवंभूत नय, ५१ स्यादस्ति, ५२ स्यान्नास्ति, ५३ स्यादस्ति-नास्ति, ५४ स्यादवक्तव्य, ५५ स्यादस्ति-अवक्तव्य ५६ स्यान्नास्ति-अवक्तव्य, ५७ स्यादस्ति-नास्ति-युगपदवक्तव्य। ये ५७ नाम कहे। अब इनका विस्तार से वर्णन करते हैं।

१। निश्चय से जीव का स्वरूप—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र, अनन्त वीर्य, अव्याबाध, अलख, अजर, अमर, अविकारी,

निरञ्जन, अविनाशी, अचल, अकल, चिदानन्द-स्वरूप, अनन्त-गुण जिसमें हैं, उसको निश्चय से जीव कहते हैं।

२। व्यवहार से जीव का स्वरूप—सूक्ष्म, २ बादर, ३ त्रस, ४ स्थावर है। उस स्थावर में पृथ्वीकाय, अप्‌काय, वायुकाय, तेजकाय, वनस्पतिकाय है। त्रस में भी बेइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, हैं। इस जीव के शास्त्रो में १४ भेद हैं और ५६३ भेद भी हैं। और भी अनेक रीति से शास्त्रों में इसके भेद कहे हैं। सो वहां से देखो। इस रीति से व्यवहार द्वारा जीव का स्वरूप कहा है।

३। जिस समय जिस गति का आयुकर्म वा प्राण का बंध करे उस समय वह द्रव्य-जीव होता है।

४। भाव-जीव उसको कहते हैं कि जिस गति का आयु वन्धन किया था, उस गति में आकर जो प्राण वा इन्द्रियों को प्रकट भोगने लगा हो, उसको भाव जीव कहते हैं।

५। सामान्य करके तो चेतना जीवका लक्षण है। उस चेतनाके दो भेद हैं, १अव्यक्त चेतना, २ व्यक्त चेतना। अव्यक्त चेतना पृथ्वी आदि पाँच स्थावरों में है। व्यक्त चेतना वेइन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय त्रस में है।

६। जिस में छः लक्षण हों वह ही विशेष जीव है, यदुक्तं श्री उत्तराध्ययन सूत्रे :—

"नाणं च दंसणं चेव, चरितं च तवो तहा।
वीर्यं चोवयोगं च, एयं जीवस्स लक्खणं॥"

यदि यहाँ कोई ऐसी शंका करे कि स्थावर वनस्पति आदि में छः लक्षण क्यों कर बनेंगे और इन छः लक्षणों के न होने से उनका जीव मानना किस प्रकार सिद्ध होगा? इसका उत्तर यह है कि भो देवानुप्रिय! पक्षपात को छोड़ कर ज्ञान-दृष्टि से बुद्धिपूर्वक विचार कर हमारी युक्ति को देखोगे, तो वनस्पति आदि पांच स्थावरों में ये छओं लक्षण प्रतीत होंगे। सो आत्मार्थियों के वास्ते हम कुछ युक्ति दिखाते हैं, छओं लक्षण बताते हैं, तुम्हारा सन्देह भगाते हैं, विवाद को मिटा-

ते हैं, क्योंकि देखो जो वनस्पति हैं उनको भी सुख-दुःख का भान है। वह दुःख होने से मुरझाई हुई मालूम होती है, और सुख होने से प्रफुल्लित मालूम होती है। सो दुःख-सुख के जानने वाला ज्ञान होता है, इस रीति से ज्ञान सिद्ध हुआ। वह ज्ञान दो प्रकार का है, १ व्यक्त, २ अव्यक्त। इसमें अव्यक्त ज्ञान हैं। ऐसे ही दर्शन के दो भेद हैं १ चक्षुदर्शन, २ अचक्षुर्दर्शन। दर्शन नाम देखने का है, तो इस में अचक्षुर्दर्शन सिद्ध हो गया। तीसरा चारित्र नाम त्याग का है। इसके भी दो भेद हैं १ जान कर त्याग करना, २ अनमिले का त्याग। सो देखो वनस्पति को जलादि न मिलने से उसका भी अव्यक्त अर्थात् अनमिले का त्याग हुआ, तो किञ्चित् अकाम निर्जरा का हेतु चारित्र भी ठहरा। चौथा तप नाम शीत-उष्ण सहता हुआ सन्तोष पावे उसका है। तो देखो शीतोष्ण का सहन करना वनस्पति में भी है, इसलिये तप भी सिद्ध हो गया। पांचवाँ वीर्य नाम पराक्रम का है, सो यदि इस में पराक्रम न होता, तो उसका फूलना, बढ़ना नहीं बनता, इसलिये वीर्य भी निश्चित हो गया। उपयोग नाम उसका है कि जो अपनी इच्छा से अवकाश पाता हुआ जाय, जिस तरफ़ अवकाश न मिले उधर से फिर कर दूसरी तरफ को चला जाय; इस रीति से उपयोग भी सिद्ध हो गया। इस प्रकार सामान्य-विशेष द्वारा जीव-स्वरूप का वर्णन किया।

७। नाम-जीव के दो भेद हैं, १ अकृत्रिम—अनादि, २ कृत्रिम। नामकर्म के उदय से जो नाम होता है सो अकृत्रिम, तथा अनादि जो जीव और आत्मा है, और कृत्रिम, राम, लक्ष्मण, कृष्ण, देवदत्त आदि। अथवा नाम-कर्म के उदय से जिस योनि को प्राप्त हो वैसा ही बोला जाय वह कृत्रिम कहलाता है।

८। जिस योनि में जीव जावे, उस योनि का जैसा आकार हो उस आकार को प्राप्त होवे, अथवा जैसा जीवने औदारिक शरीर वा वैक्रिय शरीर कर्म के उदय से पाया था, वैसा किसी चित्रकार का बनाया हुआ चित्र ही स्थापना-जीव है।

९। जिसको अपनी आत्मा का उपयोग नहीं, वह द्रव्य-जीव है, सो एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त जान लेना।

१०। जिसको अपनी आत्मा का उपयोग है सो भाव स्वरूप है।

११। इस प्रत्यक्ष-प्रमाण द्वारा जीव चेतना-लक्षण है। सो प्रत्यक्ष से जीवों में देखने में आता है। परन्तु यहाँ नास्तिक अर्थात् चार्वाक के मत को दिखाते हैं। चार्वाक मतवाला जीव को नहीं मानता है। और यह कहता है कि जीव कुछ नहीं है, चार भूत—पृथ्वी, जल, तेज, वायु; इनके मिलने से एक विलक्षण शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जैसे पानी आकाश से वर्षता है, और उस में बुद्बुद पैदा हो जाते हैं, ऐसे ही चार भूतों के मिलने से एक विलक्षण शक्ति पैदा हो जाती है, उसको मूढ लोग जीव मानते हैं। और भी देखो कि बबूल और गुड़ में नशा नहीं मालूम होता। परन्तु इन दोनों के मिलने से और यन्त्रों द्वारा खींचने से मदरूप एक विलक्षण शक्ति पैदा हो जाती है। वैसे ही चार भूतों के मिलने से विलक्षण शक्ति पैदा हो जाती है, परन्तु जीव कुछ पदार्थ नहीं है, इत्यादि अनेक कोटि उसकी चलती है। सो उसका खंडन-मंडन श्रीनन्दीजी, अथवा श्री सुगड़ांगजी, या स्याद्वादरत्नाकर आदि अनेक ग्रन्थो में लिखा है। सो यहाँ ग्रन्थ के विस्तृत हो जाने के भय से अधिक नहीं लिखते। परन्तु किञ्चित् खंडन इस जगह दिखाते हैं;—

इस विषय में युक्ति यह है कि इसको यह पूंछना चाहिये, कि तू जीव का निषेध करता है, सो देखे हुए का अथवा विना देखे हुए का निषेध करता है? जो तू कहे कि विना देखे हुए का निषेध करता हूं, तो यह कथन तेरा ही बाधक है, क्योंकि न देखी हुई वस्तु का निषेध नहीं बन सकता। जो तू कहे कि देखे हुए का निषेध करता हूँ, तो यह कहना भी उसका उन्मत्त के समान है; जैसे कोई पुरुष कहे, कि "मम मुखे जिह्वा नास्ति" मेरे मुख में जीभ नहीं है। यदि तेरे मुख में जीभ नहीं है तो बोलता किससे है? तेरे बोलने से ही जिह्वा प्रतीत

होती है। इस रीति से देखे हुए भी जीव का निषेध नहीं बन सकता। इस वास्ते तेरे कथन से जीव सिद्ध हो चुका, तू देखी हुई वस्तु का निषेध करता है, इसीलिये तुझको नास्तिक कहते हैं। यह प्रत्यक्ष प्रमाण से जीव का स्वरूप बतला दिया।

इस जगह हमने ५७ बोलों में से प्रत्यक्ष प्रमाण तक ही लिख दिया। इन ५७ बोलों का विशेष विस्तार हमारे रचे हुए 'स्याद्वाद-अनुभव-रत्नाकर' में हैं। इसलिये यहाँ पर न लिखा। क्योंकि जो बात एक ग्रन्थ में लिखी जा चुकी है, उसी बात को दूसरे ग्रन्थ में लिखना उचित नहीं। इस रीति से पदार्थों को जानकर अपने कल्याण को करे। परन्तु ध्येय रूप धारणा से दो प्रकार का ध्यान होता है। सो एक धारणा तो संसार रूप कर्म-बन्धन अर्थात् जन्म-मरण का हेतु है, और दूसरी मोक्ष का कारण है।

इस स्थान पर प्रथम संसार-हेतु ध्यान को दिखाते हैं। इस के दो भेद हैं, १ दुर्गति को लेजाने वाला, २ शुभ गति को लेजानेवाला। धारणा में जो ध्येय रूप है, उसका स्वरूप कहते हैं;—१ आर्तरूप ध्येय, २ रौद्ररूप ध्येय। इस एक २ ध्येय के चार २ भेद हैं।

आर्तरूप ध्येय के चार भेद।

१ इष्ट-वियोग, २ अनिष्ट-संयोग, ३ रोग-ग्रसित, ४ अग्र-सोच (भविष्य-चिन्तन)।

इष्ट वस्तु का वियोग अर्थात् दूर होना, जैसे वल्लभ (प्रिय) पुत्र, स्त्री, माता, पिता, भगिनी, आदि अथवा धनादि का वियोग अर्थात् नष्ट हो जाना, उससे जो चिन्ता, पश्चात्ताप, तथा अनेक तरह से व्याकुल होना, अर्थात् आर्त्त होना, यह इष्ट-वियोग है। जिस वस्तु का संयोग होने से आर्त अर्थात् चिन्ता उत्पन्न हो, उसको अनिष्ट-संयोग कहते हैं। जैसे कि कलह-कारिणी स्त्री, कुपात्र पुत्र, दुःख-दाई पड़ौसी, घर में सर्पादि दुष्ट जीव का रहना, इत्यादि अनेक संयोगों के नष्ट न होने का नाम अनिष्ट-संयोग है। रोगादि शरीर में उत्पन्न होने से, और रोग के न

जाने से, उसका उपाय करने की अष्ट प्रहर चिन्ता, उसको रोग-ग्रसित ध्येय कहते हैं। आगामी काल का जो आर्त-अर्थात् चिन्ता उसको अग्र-सोच ध्येय कहते हैं। जैसे कि अग्रिम वर्ष में ऐसा २ होगा, क्योंकि इस वर्ष में ऐसा हुआ था, तथा पिछले वर्ष में ऐसा हुआ था इस कारण से इस वर्षमें ऐसा हुआ, ऐसा ही आगे को होगा, उसका नाम अग्रसोच ध्येय है।

रौद्र ध्येय के चार भेद् ।

१ हिंसानुवन्धी, २ मृषानुवन्धी, ३ चौरानुवन्धी, ४ परिग्रहरक्षानुबन्धी। इन चारों ध्येयों का विस्तार से वर्णन करते हैं;—

हिंसानुबन्धि रौद्र ध्येय का स्वरूप ।

आप हिंसा करनी उर्थात् जीव को मारना, अथवा कोई दूसरा मनुष्य जीवों को मारता हो उसको देखकर प्रसन्न होना, अथवा दूसरों से कहकर हिंसा करवाना। अथवा युद्धादि को सुनकर, उसका अनुमोदन करना। इस प्रकार जीव-मारने में जिसका परिणाम है वह हिंसाजुवन्धि रौद्र ध्येय है। इसमें जिसका चित्त मग्न है, वह मनुष्य वद्‌ला देता है, और दुर्गति मे जाता है। सो इस विषय में दो दृष्टान्त दिखाते हैं,—

जैनमतमें खन्द्‌कजीने पिछले भवमें काचरीका एक छिलका समस्त (साबूत) उतारा। फिर वह काचरीका जीव मरकर राजा हुआ, और खन्द्‌कजीकी चोटीसे लेकर पैरके अंगूठे तक की खाल उतरवाई।

ऐसे ही वैष्णवमत में भक्तमाल में सजन कसाई की कथा है, कि सजन कसाई के पास एक सरकारी सिपाही आया, और बोला कि, सेर भर मांस दे। उस समय सजन कसाई ने विचारा, कि वकरे को मारू तो सवेरे को सब मांस खराब हो जायगा। इसलिये अभी इसके पोते (अण्डकोश) काट लूं, उसमे से सेर भर माँस निकल आवेगा। फिर सुबह को बकरा मार डालूंगा, यह विचार कर छुरी लेकर चला, तब बकरा हंसने लगा। जब कसाई ने कहा कि भाई! तू हंसता क्यों है? तब बकरा बोला कि तू अपना काम कर, तुझे इससे क्या मतलब

है? उस समय वह सजन कसाई बहुत पीछे पड़ गया, तब बकरा कहने लगा कि आज तक भाई! मेरा तेरा शिर काटने का झगड़ा था। मेरा तू शिर काटता था, और मैं तेरा शिर काटता था; आज तूने दूसरा झगड़ा उठाया है, इसलिये मुझको हंसी आई।

यह सुन कर सजन कसाई ने छुरी रख दी और बकरे को न मारा, तथा अपने चित्तमें प्रतिज्ञा कर ली, कि आज से किसी जीव को कभी न मारूंगा। उस सिपाही से उसने उसी समय निषेध कर दिया, कि मेरे यहाँ मांस नहीं है, दूसरी जगह से ले जाओ। इसलिये आत्मार्थी को किसी जीव को न मारना चाहिए।

मृषानुबन्धि रौद्र ध्येय का स्वरूप।

झूठ बोलकर मनमे खुशी हो, और झूठ बोलकर मनमें विचार करे कि देखो हमने किस चालाकी से झूठ बोला है कि किसी को मालूम भी न हुआ। उसका नाम मृषानुबन्धी रौद्र ध्येय है।

चौरानुबन्धि रौद्र ध्येय का स्वरूप।

चोरी अथवा ठगाई करे, और चित्त में विचारे कि हम कितने हुशियार हैं, कि किसी को विदित भी न हुआ और माल ठग लाये, तथा खूब आनन्द उठाया, किसीके हाथ न आया। ऐसे परिणाम को चौरानुबन्धी रौद्र ध्येय कहते हैं।

परिग्रहानुबन्धि रौद्र ध्येय का स्वरूप।

धन-धान्यादि बहुत रखने में अथवा अष्ट प्रहर परिग्रह जमा करने के परिणाम को परिग्रहानुबधी रौद्र ध्येय कहते हैं।

आर्तध्येय की धारणा करने वाला तिर्यञ्च-गति में जाता है। इस आर्त ध्येय का ध्यान पाँचवे छठे गुणस्थान तक रहता है।

रौद्रध्येय नरक गति को ले जाने वाला है। और इस ध्येय का ध्यान पाँचवे गुण-स्थान तक, और हिंसानुबन्धि रौद्र ध्येय किसी एक जीव की अपेक्षा से छठे गुणस्थान तक है।

इन ऊपर लिखे ध्येयों का ध्यान करने वाला अशुभ गति का वन्ध वान्धता है।

अब शुभगति ले जाने वाले ध्येयों को दिखाते हैं। इसके चार भेद हैं—१ आज्ञा-विचय, २ अपाय-विचय, ३ विपाक-विचय, ४ संस्थान-विचय।

१ आज्ञा-विचय ध्येय का वर्णन।

जो श्री वीतराग देवने आज्ञा की है, उसको श्रद्धा-पूर्वक सत्य समझें, क्योंकि जैसे वीतराग देवने छः द्रव्यों का स्वरूप, नय, निक्षेप, नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष, सिद्ध-स्वरूप, निगोद-स्वरूप, निश्चय-व्यवहार, स्याद्वाद रूप से कहा है, वैसे श्रद्धा-पूर्वक यथार्थ उपयोग में धारे। और उसीके अनुसार दूसरे के सामने कहे। इस रीति से प्रथम ध्येय जानना।

२ अपाय-विचय।

इस जीव में जो अशुद्धपन है, वह कर्म के सयोग से है, क्योंकि सांसारिक व्यवस्था में अनेक प्रकार के दूषण हैं। अज्ञान, राग, द्वेष, कषाय, आश्रव आदि मुझ में नहीं, मैं इनसे पृथक् हूँ। मेरी आत्मा में अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य है। शुद्ध, बुद्ध, अविनाशी, अज, अनादि, अनन्त, अक्षय, अक्षर, अनक्षर, अचल, अकल, अमल, अगम, अनामी, अरूपी, अकर्मा, अवन्धक, अभोगी, अयोगी, अरोगी, अभेदी, अवेदी, अच्छेदी, अखेदी, अकषायी, अलेशी, अशरीरी, अव्याबाध, अनवगाही, अगुरु-लघु-परिणामी, अतीन्द्रिय, अप्राणी, अयोनि, असंसारी, अमर, अपर, अपरम्पार, अव्यापी, अनाश्रव, अकम्प, अविरुद्ध, अनाश्रित, अलख, अशोकी, असंगी, अनारक, शुद्ध, चिदानन्द, लोकालोक-ज्ञायक, ऐसा मेरा जीव अर्थात् आत्मा है। इस ध्येयका नाम है अपाय-विचय।

३ विपाक-विचय।

यह मेरा जीव कर्मों के वश होकर सुख-दुःख पाता है, क्योंकि

ज्ञानावरणीय कर्म ने ज्ञान-गुण को दवा रक्खा है, और दर्शनावरणीय कर्म ने दर्शन गुण को। इस रीतिसे आठों कर्मों ने आठों गुणो को दवा रक्खे हैं। इस लिये मैं कर्मोंके वशमें होकर संसार में परिभ्रमण करता हूं, क्योंकि जो सुख-दुख हैं, सो सब कर्मोंके करने से ही हैं। इसलिये सुख होय तो खुश न होना चाहिये, और दुख होने पर शोक भी न करना चाहिये। कर्म्मों की प्रकृति, स्थिति, रस, प्रदेशों का बन्ध, अथवा उदय, उदीरणा, सत्ता आदि का जो विचार है, वह विपाक-विचय ध्येय कहलाता है।

४ संस्थान-विचय।

संस्थान चौदह राजलोक हैं, जिनको वैष्णव सम्प्रदाय वाले चौदह भुवन् कहते हैं और मुसलमान लोग चौदह तबक कहते हैं। इस चौदह राजलोकका विचार कि नरक उस जगह पर है, तथा मनुष्य लोक उस स्थान पर हैं, देवता अमुक स्थान पर हैं ; अथवा, सात राज-लोक नीचे, सात राज-लोक ऊपर और बीच में मनुष्यलोक है। अथवा कर्मों के वश करके सिद्ध-क्षेत्र के विना सव जगह मैंने जन्म-मरण किये हैं। ऐसा जो विचार उसका नाम संस्थान-विचय ध्येय है।

इन चारों ध्येयों की धारणा करके जो ध्यान करे तो उसको शुभगति अर्थात् देवलोकादि मिले। यह चौथे गुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थान तक होता है।

मोक्ष के हेतुभूत ध्येय का कथन।

इस ध्येय के भी चार भेद हैं, सो इन चारो में से पहिला और दूसरा ध्येय तो युक्त-योगिपन को प्राप्त कराने वाला है। और पिछले दो ध्येय रूप धारणा से ध्यान कर युक्त-योगी, शरीर छोड़ने के समय लीन अर्थात् सादि-अनन्त समाधि को प्राप्त हो जाता है। चारों भेदों के नाम ये हैं :—

१ पृथक्त्व-वितर्क सप्रविचार, २ एकत्व-वितर्क अप्रविचार, ३ सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाती, ४ उच्छिन्न-क्रियानुवृत्ति। इन ध्येयों में निरावलम्ब

अर्थात् किसी का सहारा नहीं, केवल अपनी आत्मा में जो गुण-पर्याय हैं, उन्हीं का विचार और रमण है, न कि दूसरों का।

प्रथम भेद का वर्णन।

पृथक्त्व जुदाई अर्थात् अजीव को छोड़कर केवल आत्मरूप में, अथवा विभाव को छोड़कर स्वभाव को अङ्गीकार करने के विषय में, विचार करें। 'स्वः' अर्थात् अपनी आत्मा के अन्य कोई नहीं है। दूसरा विचार, जिसमें ऐसा स्वरूप अर्थात् आत्म-द्रव्य, पर्याय और गुण इन तीनों का समावेश अर्थात् संक्रमण करे, गुणमें पर्याय का संक्रमण करे, पर्याय में गुणका संक्रमण करे या गुण का द्रव्य में करे। इस रीति से निज धर्ममें वह रमण करे कि जिसमें धर्मान्तरके भेदोंसे पृथक्त्व—भिन्न, वितर्क—श्रुतज्ञानका का उपयोग—हो। सप्रविचार, विकल्प सहित उपयोगका नाम है। क्योंकि एक का चिन्तन करनेके बाद, दूसरे का चिन्तन करना, उसीका नाम विचार है। इसलिये निर्मल विकल्प सहित अपनी आत्मा की सत्ता में जो गुण हैं उन्हींका स्मरण, भाषण, मनन करे। इसका नाम पृथक्त्व-वितर्क सप्रविचार ध्येय है।

द्वितीय भेद का निदर्शन।

अपनी आत्मा के जो गुण-पर्याय हैं उनकी एकता करे। जैसा कि जीवके गुण-पर्याय और जीव एक है, मेरी आत्मा और सिद्ध स्वरूप एक है, मैं ज्ञान स्वरूप एक हूं, मेरा स्वरूप ज्ञान है, मेरी वीर्यरूपी शक्तिसे ज्ञान-दर्शन अलग नहीं, मैं एक स्वरूप हूं। ये सब मेरे गुण-पर्याय पृथक् नहीं, मेरा इनका समवाय-सम्बन्ध है, मैं पिण्डरूप एक हूं, अपने ध्येयको मैंने धारण किया है। श्रुतज्ञानको वितर्क कहते हैं। अप्रविचार—विकल्प करके रहित, दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप रत्न-त्रितयका एक समयमें कारण-कार्यपनसे चिंतन करना, उसीका नाम एकत्व-वितर्क-अप्रविचार ध्येय है।

अब यहां इन दोनों विचारोंमें ज्ञेय, हेय, उपादेय, अपवाद, और

उत्सर्ग दिखाते हैं। सुज्ञान-योगीके अपवाद, और युक्त-योगी के उत्सर्गका विचार इस तरहसे है कि सविकल्प और निर्विकल्प यह दोनों ध्येय तो ज्ञेय हैं, सविकल्प हेय है और निर्विकल्प उपादेय है। सविकल्प-विचार अपवाद मार्ग है, और निर्विकल्प उत्सर्ग मार्ग है।

सविकल्प-निर्विकल्प का दृष्टान्त।

जैसे कोई पुरुष गौ का सविकल्प ध्येय विचार करे कि गौ के चार पांव हैं, और एक २ पांवमें दो दो खुरी हैं, सींग, पूंछ, गल-कम्बल, (गलेका लटकता हुआ चमड़ा) है। इसी रीतिसे गौ के अवयवों का जो विचार है सो सविकल्प है। और गौ के अवयवों को न विचार करके केवल गौ है ऐसा जो विचार है उसका नाम निर्विकल्प है। वैसे ही आत्मा के अवयवो का विचारना सविकल्प है, और एकत्व का जो विचार है, सो निर्विकल्प है। इसका विशेष विवरण ता, "शुद्धदेव अनुभव विचार" नामक ग्रन्थमें जहाँ ५७ बोलवाले देव के स्वरूपों मे एक एक बोल में ज्ञेय, हेय, उपादेय, उत्सर्ग, अपवाद, यह पाँच पाँच बोल उतार कर दिखाये हैं, भिन्न भिन्न रूप से समझाये हैं, अनुभव कर बताये हैं, स्याद्वाद शैली यथावत् लाये हैं, वहां से देखो। इस रीति से किञ्चित् ध्येय का स्वरूप दिखाया। इस ध्येय की धारणा करे। और उस धारणाका ध्यान अर्थात् तन्मयता करे। सो पहले ध्येय का ध्यान तो आठवें गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है। और दूसरे ध्येय की धारणा का ध्यान बारहवे गुणस्थान में होता है। और उस ध्यान में लय होनेसे सादि-अनन्त समाधि को प्राप्त कर तेरहवें गुण-ठाने में युक्त-योगी होकर विचरता है। इस रीति से किञ्चित् ध्यान-समाधि का वर्णन किया।

प्रश्न :—आपने मोक्ष हेतु के चार भेद बताए। जिनमें दो का वर्णन किया और दो का न किया, इसका कारण क्या?

उत्तर :—भो देवानुप्रिय! दो भेद न कहने का कारण यह है कि पहले दो ध्येयों की धारणा होने से ध्यान और समाधि का प्रयोजन

न रहा, क्योंकि हमारा उद्देश्य ध्यान समाधि तक था,सो कह दिया।

प्रश्न :—आपने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार फरमाया, सो तो ठीक है, परन्तु पाठकगण को दो भेदों की आकांक्षा बनी रहेगी। इसलिये प्रसङ्ग से दोनों भेदों के स्वरूप का भी वर्णन करना चाहिये। आगे आप की इच्छा।

उत्तर :—भो देवानुप्रिय ! प्रसङ्गवश तेरे कथनानुसार कहता हूं कि शास्त्रानुसार युक्तयोगी शरीर छोड़ने के समय इन दोनों भेदों की ध्येय रूप धारणा के ध्यान से सादि-अनन्त भांगे से सिद्ध-क्षेत्र में पहुँचता है। और बीच में जो दो भेदों को करता है, वे ये हैं ;—

तीसरे अप्रतिपाती भेद का वर्णन।

सूक्ष्म मन, वचन, काय रूप जो योगी की वृत्ति आत्मा में थी, उसको भी रोक कर "शैलेशीकरण" करके अयोगी होकर "अप्रतिपाती" जिसका पतन न हो ऐसा जो निर्मल वीर्य, अचलता रूप परिणाम, उसको सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाती कहते हैं। इस जगह कर्मों की प्रकृतियाँ सत्ता में ८५ थीं उनमें से ७२ निकालने से तेरह बाकी रहती हैं।

चतुर्थ भेद का वर्णन।

जब योगी योग-निरोध करने के पीछे जो तेरह प्रकृतियाँ थी, उनको भी दूर करके अकर्मा हो गया, तब सब क्रियाओं से रहित हुआ, इस लिये उसको उच्छिन्न-क्रिया-निवृत्ति कहते हैं। उस समय योगी धारणा की ध्यान-लय रूप समाधि से शेष-दल-बिखरण रूप क्रिया-उच्छेद और शरीर की अवगाहना में से तीसरा भाग घटाकर शरीर छोड़कर चौदह राजलोक के ऊपर लोक के अन्त में स्थित सिद्धि-क्षेत्र में विराजमान होता है।

अब इस जगह यह शङ्का होती है कि चौदहवें गुणस्थानमें अक्रिय हो गया तो फिर सात राज ऊँचा कैसे जाता है? अक्रिय होकर क्रिया कैसे करता है?

समाधान :—सिद्ध तो अक्रिय है, परन्तु जल-तुम्बिका-न्याय अथवा दण्ड-चक्र-भ्रमण-रूप न्याय से पूर्वक्रिया के बल से वह ऊंचा जाता है। सो दोनों दृष्टान्त दिखाते हैं:—जैसे तूंबी, मट्टी, कपडा का लेप अथवा कोई भारी चीज नीचे या ऊपर होने से पानी में डूब जाती है। परन्तु जब वह लेपादि दूर हो, अथवा जो भारी चीज का ऊपर-नीचे संयोग था, सो दूर हो तो फिर तुम्बी पानी में नीचे नहीं रहती, ऊपर को चली आती है। वैसे ही जीवके कर्म-रूपी लेप का वजन प्रदेशों के ऊपर होने से वह संसार-रूपी जल में डूबा रहता है। जिस समय वह कर्मरूपी लेप अर्थात् भारीपन दूर होने से हलका होता है तब ऊपर को आपसे चला जाता है। यहाँ जैसे तूंची जलके नीचे से ऊपर आती और क्रिया नहीं करती, वैसे ही जीव भी कुछ क्रिया न कर सिद्धक्षेत्र में विराजमान होता है।

अब दूसरा दृष्टान्त सुनो कि जैसे कुम्भकार दण्ड से चक्र को घुमाता है और घुमाकर दण्ड को निकाल लेता है, परन्तु चक्र फिरता ही रहता है, वैसे ही कर्म रूपी दण्ड से जीव रूपी चाक फिरता था, जब कर्म-रूपी दण्ड अलग होने पर भी चक्र की तरह फिरकर सिद्धक्षेत्र में शान्त हो जाता है।

अब इस जगह कोई यह प्रश्न करे कि जीवमें हलका होनेसे या चक्र-न्याय से ऊपर जाने की गति है,तो वह सिद्धक्षेत्र में ही क्यों ठहरता है, आगे क्यो नहीं जाता है ?

भो देवानुप्रिय! हलका होनेसे जीव में ऊँचे जाने का गुण नहीं है, क्योंकि जैसे तूंवी जलके ऊपर रहकर फिर ऊंची नहीं जा सकती और चक्र भी थोड़ी सी देर चलकर ठहर जाता है, वैसे ही जीव को जानों, विवेक विना वुद्धि का विकल्प मत तानो, दृष्टान्त का एक अंश मानो, सब अंश लेकर झगड़ा मत ठानो, ऐसा करोगे तो तुम्हारी आत्मा को न लगेगो ठिकानो, गुरु-ज्ञान को पहिचानो, वचन को सुन विवेक-सहित वुद्धि से विचार अपने चित्त मे विश्वास आनो।

दूसरा समाधान सुनो कि चौदह राज के बाहर अलोक आकाश में धर्मास्तिकाय नहीं है, जिससे आगे को जासके। इसलिये चौदह राजलोक के अन्त मे रह जाता है, क्योंकि इन चौदह राज में धर्मास्तिकाय है, उस धर्मास्तिकाय के होने से ही चौदह राज में जीव पुद्गल फिरते हैं। धर्मास्तिकाय के साहाय्य [मदद] के बिना कोई फिर नहीं सकता। जैसे जल में चलने वाली मछली जल मे जिधर इच्छा करे उधर चली जाती है, उस मछली को जल की सहायता है, परन्तु जल उसको प्रेरणा नहीं करता है, केवल चलने में साहाय्य देता है और वह मछली जल के बिना स्थल में इच्छा-पूर्वक कदापि भ्रमण नहीं कर सकती, यद्यपि स्थल उस मछली को पकड़ भी नहीं रखता है। वैसे ही जीव और पुद्गल जानो, सर्वज्ञो की बात मानो, दिल में विकल्प कुछ मत आनो, हमने भी कियो समाधि को बखानो।

प्रश्न :—आपने योग्याभ्यास का वर्णन तो किया, परन्तु एक बात का निर्णय न हुआ। हम सुनते हैं कि, जो योगी हैं वे आठ बातों को अपने योग से एक समय में करते हैं, उसको अष्टावधान भी कहते हैं। वे सतरञ्ज का खेलना, कविता का करना, प्रश्न का उत्तर देना, पीठ पर लिखे का ख्याल करना, इत्यादि आठ काम कर सकते हैं।

उत्तर—भो देवानुप्रिय! इस तेरे प्रश्न को सुनकर मुझको आश्चर्य उत्पन्न हो गया, तुम्हारी लिखी आठ बातों का करना बुद्धि में न समाया, मेरे मन में असम्भव आया, क्योंकि सर्वज्ञ देव ने समय को बहुत सूक्ष्म कहा है, एक पलक के लगाने में ही असंख्य समय हो जाते हैं, फिर आठ बातें करना एक समय में किस प्रकार सिद्ध होगा? देखो पांच ह्रस्व अक्षर अर्थात् अ, इ, उ, ऋ, ऌ, इन के उच्चारण मे ही अनेक समय लगते हैं, क्योंकि अ, इ के आगे-पीछे होने में अन्तर पड जाता है, क्योंकि अकार का उच्चारण करने के पीछे 'इ' का उच्चारण होता है तो आठ बात एक समय में क्योंकर बनेंगी? बल्कि 'क' इस अक्षर में ही सूक्ष्म बुद्धि से विचार करें तो आदि और अन्त तक

उच्चारण में ही अनेक समय मालूम होता है, क्योंकि 'क' की आदि के पीछे अन्त भाग का उच्चारण होगा। बुद्धि-पूर्व्वक हमारे वचन को देखो, विवेक-सहित पेखो, तो अनुभव का हो लेखो। जो ऐसा कहते हैं कि हम आठ बातें एक समय में करते हैं, क्योंकि हमने योगाभ्यास से अष्टावधान सिद्ध कर रक्खा है। वे लोग योगशास्त्र से अनभिज्ञ, मायावी,भोले जीवों को बहकाने वाले, ठगकर माल खानेवाले, योगी बन कर पूजानेवाले महावञ्चक हैं। इस विषय मे व्याकरणादि में ऐसा कहा है, सो सारस्वतचन्द्रकीर्त्ति टीका का लेख दिखाते हैं ;—

"मात्रा कालविशेषः स्यात्, अक्षिस्पन्दप्रमाणः कालो मात्रा।"

और जैन मतमें तो समय बहुत सूक्ष्म कहा है। उसका तो अध्यात्मी, योगाभ्यासी, गुज्ञान अवस्था मे युक्त-योगी के वचन के अनुसार अनुभव करते हैं, अपने चित्त में यथावत् धरते हैं। उस समय का विचार तो एक ओर रहा, परन्तु व्याकरण की रीति से जो समय है, उस समयमे भी आठ बातें एक साथ कदापि न बनेंगी। क्योंकि एक ह्रस्व अक्षरका उच्चारण करने मे एक समय बीतता है और दीर्घ उच्चारणमें दो समय लगते है, तो जहाँ दस पाँच अक्षर उत्तर देनेमें लगे, वहाँ एक ही समय कैसे रहेगा, किन्तु अनेक समय हो जायेंगे, तो आठ बातो का एक समयमें करना यह क्योंकर सिद्ध होगा?

इसलिये हे पाठकगण! इन बातो के कहनेवालेको योगी मत जानो, इनके एक समयको अपनी बुद्धिमे आनो, इनको मायावि-जालियों में मानो, गुरु-ज्ञान को पहिचानो, विवेक-सहित अपनी बुद्धि को छानो, जिससे मिले अनुभव को ठिकानो ; क्योकि इन लोगोंने घर छोड़ा, शिर मुंडाया, लोगों का माल ठग खाया, योगी नाम धराया, अपने को पूजाया, पूरा भेद न पाया, सुनी कुछ और करी न गौर (ध्यान) लोगोंको कुछ और समझाया, गुरुगम से इन आठ बातों का पूरा पता न पाया, अपात्र जान कर गुरु ने न लिखाया। क्योंकि सुज्ञान योगी तो योजना करने में आठ बातों को स्थूल समय में एक साथ करता है,

उसका अनुभव अपने चित्त में धरता है, उनका अनुभव वचन द्वारा नहीं निकलता है, उन आठ वातों के अनुभव से आत्मा को भरता है, उस में चिदानन्द रूप आनन्द झरता है, कुमति के सङ्ग को परिहरता है, शुद्ध चेतना को वरता है, सुमती के सङ्ग हो जगत् को विसरता है, और युक्त योगी सदा आठ वातों में लीन रहता है, इसलिये आठ वातों के नाम पाठकगण को दिखाते हैं:—

१ ध्येय, २ ध्यान, ३ ध्याता, ४ वायु, ५ मन, ६ श्रुत, ७ ध्वनि (शब्द), ८ आत्मवृत्ति।

इन आठ वातों का जो एक करना उसी का नाम अष्टावधान है। इस अष्टावधानको युञ्जान-योगी साधकर समाधि में लीन हो जावे, कुछ देर के वाद युक्त-योगी पद पावे, जैन मत में तेरहवाँ गुण स्थान कहावे, वैष्णव मतवाले संन्यस्तमें इसको सप्तम भूमि वतलावे, योगियों में ब्रह्मवेत्ता कहलावे, कोई उसको विदेही भी वतलावे, ऐसा हो तो फिर जन्म-मरण न करावे, शरीर छोड़नेके वाद फिर संसार में न आवे, सर्वज्ञों के ज्ञान में इसी लिये १५ भेदे सिद्ध भावे, इस रीति से चिदानन्द समाधिके गुण गावे, निगुरा इन भेदोंको कभी न पावे, इधर-उधर कथनी कर कोरे गाल वजावे, इसीलिये सर्वज्ञ मतवाला गुरु की मुख्यता जतावे, गुरु की चरण-कृपा हो तो योग के सर्व भेद पावे, योग प्याला पान कर जगत् का तमाशा देख मन को रिझावे, शुद्ध चेतनामें लीन हो कभी झगड़ा न मचावे, एक शय्या-शयन कर लिपटकर आत्मानन्द पावे। इसी रीति से किञ्चित् योगका वर्णन किया, परन्तु प्रवृत्ति इस योगमें उन पुरुषोंकी होगी जिन्होंने सम्यक्त्व पाई है; न कि दुःख-गर्भित मोह-गर्भित वैराग्य वालों की।

प्रश्नः—आपने जो योगका वर्णन किया सो तो ठीक है, परन्तु शास्त्रों का प्रमाण दिखाया नहीं। यदि यह विषय शास्त्रों में भी होता, तो वर्तमान काल के भी आत्मार्थी, उत्कृष्ट क्रिया के करने वाले, शास्त्रों के वेत्ता लोग भी वर्णन करते, परन्तु वर्तमान में आप के अतिरिक्त कोई ऐसा

वर्णन नहीं करता है। इसलिये हम को सन्देह उत्पन्न होता है, सो कृपा कर सन्देह को दूर कराइये, अपनी प्रतिज्ञानुसार साक्षी भराइये।

उत्तरः—भो देवानुप्रिय! हमने अपनी मनःकल्पना नहीं की है, सर्वज्ञों के मत से लिखाया, फिर भी तुमको सन्देह क्यों आया? वीच में शास्त्रों का प्रमाण भी वताया, हमको मालूम हुआ कि तुमको कुगुरुओं ने भरमाया, तुमने अपना मिथ्यात्व न गंवाया, संगति विना योगाभ्यास मनमे न भाया, तुमने अपने अन्तरङ्गका भाव हमको जताया, उत्कृष्टों का क्रिया का आडम्बर सुनाया, तुम्हारे प्रश्न को सुनकर हमने लेखनी लिखने को उठवाया, उत्कृष्ट क्रिया वालोंका तुमने सर्व पाठक-गण को खुलासा कर दिखाया, हमने भी अपनी प्रतिज्ञा रूप वज्रको उठाया। देखो, वर्तमान काल में जो २ उत्कृष्ट वन कर जाति कुलके जैनियोंको अपने जालमें फंसाकर झगड़ा कराते हैं, जैन धर्मको उलटा लजाते हैं, जो २ उत्कृष्ट हैं उन्हींका वर्णन हम यहां लिखाते हैं, परन्तु सर्व पाठकगणसे हमारा निवेदन है, कि पक्षपात छोड़ कर बुद्धि-पूर्वक सत्-असत्का विचार करें। क्योंकि मैं किसीसे द्वेष नहीं करता हूं, जिसको अपने पूजानेकी इच्छा होती है वह गृहस्थियोंसे द्वेष-राग कर वाड़ा वान्धता है, सो मेरा आज तक किसी गृहस्थीसे दृष्टि न वन्धी, इच्छाके बिना दृष्टि-राग नहीं वन्धता। इसलिये मेरा किसीसे द्वेष नही, और मस्त हुआ भ्रमण करता हूं, इसलिये मेरा किसीसे राग नहीं। मैंने श्री वीतरागके धर्मको अंगीकार किया है सो जिसकी युक्ति तथा आचरण शास्त्रानुसार है, उसको ग्रहण करता हूं,क्योंकि पूज्यपाद श्रीहरिभद्रसूरिजी कहते हैं:—

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्य्यः परिग्रहः॥"

इस वचनको अङ्गीकार करके यथावत् कहता हूं, सो सुनो,—

आजकल कितने ही मनुष्य तो यतिपन छोड़कर उत्कृष्ट आचार्य, उपाध्याय बने हैं, और कितने हीं ढुंढक मतको छोड़कर संवेगी बने हैं,

परन्तु उन मनुष्योंको व्यवस्था को देखकर ज्ञानीके कथनके अनुसार अनेक प्रकारके सदेह उत्पन्न होते हैं। देखो, बूटेरायजी, आत्मारामजी प्रभृति वीस तीस मनुष्य ढूंढिया मतको छोड़कर संवेगी बन गये। सो बूटेरायजीका आचरण और, और लोगोंमें कहना और, और गुरु आदिको छोडना, उनकी बनाई हुई मुखपत्तिकी चर्चामें देखो। हमारे लिखनेकी कोई जरूरत नहीं, क्योंकि उनके लिखनेसे तो जैन-धर्म इस क्षेत्रमें न रहा।

आत्मारामजीके भी ग्रन्थ बनाए हुए हैं। उनसे ही पाठकगण उनकी श्रद्धाका विचार करें। क्योंकि उन्होने भी जो चिरकालसे मुखपत्ति कानमें डालकर व्याख्यान देना आचार्य्योंकी परम्परासे चला आता था, उस मुखपत्तिके आचरणको उठाया, सर्व सवेगी-जतियोसे झगड़ा मचाया, पीले कपड़े कर आप सवेगी नाम धराया, और कल्पसूत्रके ऊपर छमच्छरी (संवत्सरी) के दिन पन्ना हाथमे देने के समय रुपया वा घृत-बोली बोलना चलाया, और "करेमि भन्ते" पहिले कहना शास्त्रों में कहा उसको "इरियावही"के पीछे ठहराया, तीनके स्थान पर एक वार ही उच्चारण कराना सिखाया, इसके ऊपर मिथ्या साक्षी लगाकर "जैन-सिद्धान्त समाचारी" ग्रन्थ बनाया, उस ग्रन्थमें जैन आगमके विरुद्ध प्रमाण दे देकर भोले जीवोंको भ्रम जालमे डालकर जिनाज्ञा-विरुद्ध कृत्य कराया, भव्य जीवोंके उपकारके वास्ते पहले तीन वार 'करेमि भंते' और पीछे 'इरिया वहिया'के लिये शास्त्रानुसार प्रमाण देकर 'आत्मभ्रमोच्छेदभानु' ग्रन्थ हमने बनाया, और उन्होंने तिविहारके पच्चखानमें कच्चा पानी पीना भी वताया, इत्यादि अनेक बातें उत्कृष्ट कहलानेवाले आत्मार्थियोंकी देखने मे आई हैं, सो कितने ही लेख उनके स्याद्वाद-अनुभवादि ग्रन्थोमें स्पष्ट करके दिखाए हैं, सो वहांसे देखो। और कितने ही साधुओंसे इनके आपसमे झगडे हुए, तो फिर उनसे क्षमत-क्षामणा न हुई और क्रोधकी अग्नि वढ़ती चली गई।

शास्त्रोंमे कहा है कि विना योग वहे शास्त्रोंका वांचना नहीं कल्पता, जिस २ शास्त्रका योग वहे उन्हीको वाचे, दूसरेका नहीं, तो आत्माराम

जीने आवश्यक, दशवैकालिक, भगवतीजी का योग वहन किया, औरों का न किया, और सूत्र तो सब वांचे थे, तो कहो, ऐसे उत्कृष्ट क्रिया-पात्र आत्मार्थी होकर भगवत्-आज्ञा न उठाई ? अनन्तानुबन्धि चौकड़ी भी न गंवाई, संवेगी साधु बनकर जगतमें खूब पूजा कराई, गुरु-आचार्य बिन श्रावकोंकी दी आचार्य पद्वी भी पाई, इनकी शोभा हम कहां तक वरणे रे भाई ! और, इन्होंने जैनतत्त्वादर्शके नववें परिच्छेद्में श्री हेमाचार्यकृत योगशास्त्रमें से गुरुगम विना स्वरोदयादि का विचार और हृदय कमल पर नव-पद्की कल्पना करके ध्यान करे ऐसा लिखा है। परन्तु योगाभ्यासके गुरुके विना संस्कृत अर्थात् व्याकरण-न्यायादि पढ़नेसे वा पंडितोंकी सहायतासे योगशास्त्रका ज्ञान न होगा, क्योंकि इसकी कुञ्जी और रहस्य गुरुके पास है। बिना गुरुकी कृपासे पुस्तकोंका भार है। इसीलिये श्री आनन्दघनजी महाराज पंद्रहवें श्रीधर्मनाथके स्तोत्रकी तीसरी गाथामें कहते हैं, प्रवचन अञ्जन जो सद्गुरु करे,देखे परम निधान।' इस कथनसे सिद्ध हुआ,कि प्रवचन अर्थात् सिद्धान्तका रहस्य विना सद्गुरुके मिलना कठिन है। जो शास्त्र वांचनेसे ही रहस्य मिलता तो जैन-मतमें इतना वखेड़ा न होता। इसलिये मनुष्योंने यथावत् रहस्य न पाया, ग्रन्थोंको देखकर विद्वत्ताका पग फैलाया, उनके रागियोंने उनके ही विषय उत्कृष्टपन पाया, परन्तु गुरु विन योगाभ्यासका मर्म न आया।

अब जो यतिपन छोड कर उत्कृष्टे संवेगी बने हैं, उनके विषय मे सुनो। एक तो मोहन मुनि क्रिया उद्धार करके पीले कपड़े रङ्ग कर संवेगी बने हैं। वे विना योग वहे सूत्रोंको बांचते हैं, और हांजी-हांजी करके लोगों को रिझाते हैं,"गङ्गा गए तो गङ्गादास, और यमुना गये तो यमुनादास" "जहाँ देखे थाली परात, वहां गमावे सारी रात" वाली कहावत चरितार्थ करते हैं क्योंकि वे जब मारवाड़ में थे, तब खरतर बन कर खूब पूजाया, और गुजरात में गये तो तपा बन गये, क्योंकि गुजरात में तपगच्छ की प्रवृत्ति बहुत है।

राजेन्द्रसूरि तपगच्छ के यति रत्नविजय जी नाम के थे। वे श्री-पूज्यजी के पास रहते थे। एक दिन तपगच्छ के श्रीपूज्य धरणेन्द्र सूरि जी से झगड़ा होगया, तब उनको छोड़ कर श्रीपूज्य बन गये। राजेन्द्र-सूरि नाम भी धर लिया। और श्रीपूज्यों की तरह पालकी (शिविका) में बैठकर चंवर (चामर) छत्र डुलाने लगे, श्रावकों से सर्व जगह पूजाने लगे। उधर तपगच्छ के श्रीपूज्यको ख़बर पड़ी, तब यतियों को दौ-ड़ाया, उनसे झगड़ा मचाया। तब जावरे में आकर राजेन्द्रसूरि जी चंवर-छत्रादि मन्दिर में रख कर परिग्रह को छोड़ त्यागी बन गये, यति-यों का निषेध करने लगे। उत्कृष्ट क्रिया दिखाई, लोगों में दुकान जमाई। और ऐसे उत्कृष्ट बने कि बाह्य क्रिया में ढूंढियों को भी मात करने लगे। फिर उत्कृष्टपन का सान आया, अपने गुरु की रीति छोड़ कर तीन-थुई का पन्थ चलाया, जिन-मन्दिरादि-पूजन में अल्प-पाप बहु-निर्जरा ठहराया। इन दोनों बातों के ऊपर प्रथम रतलाम मे शास्त्रार्थ हुआ, लोगों के हज़ारों रुपये खर्च कराये, अन्यमतावलम्बी पण्डितों को माल खिलाये, उत्कृष्टपन पर निशान चढ़ाये।

अब विचार करो कि शास्त्रों में मिथ्यात्वी को धन देना, दिलाना, देते को भला समझना निषिद्ध है। जब राजेन्द्रसूरि जीने पञ्च महा-व्रतधारी उत्कृष्ट आत्मार्थी होकर अन्य मतावलम्बीको श्रावकों से सैंकड़ों रुपये दिलवाये, तो इन्हों ने यथावत् पञ्च महाव्रत क्योंकर पाए? क्योंकि पञ्च-महाव्रत-धारी साधु आरम्भ वाले गृहस्थों को न धन दें, और न दिलावें, न देते को भला समझें। कदाचित् साधु किसी गृहस्थी से दिलावेगा, तो अपना महाव्रत गमावेगा। यदि राजेन्द्रसूरिने पञ्च महाव्रत-धारी होकर पण्डितों को गृहस्थियों से दान दिलवाया, तो फिर कैसे पञ्च महाव्रत-धारी बन गए? क्योंकि जो धन उन्होंने गृहस्थी पण्डितों को दिलाया, उस धन से जो जो पण्डितों ने अपना संसारी काम किया, उस संसारिक कार्य से जो २ आरम्भादि क्रिया हुई, वे सब क्रियाएं राजेन्द्रसूरि को आईं।

फिर अहमदाबादमें आत्मारामजी से राजेन्द्रसूरिने मोरचा लगाया। उस स्थान पर भी तीनथुई-चारथुई का झगड़ा मचाया, हुआ न निर्धार निरर्थक मनुष्यों को लड़ाया, पुस्तक बना कर दोनों ओर से छापे से छपाया, चें चें मैं मैं से कुछ लाभ न उठाया, केवल राग-द्वेष बढ़ाया। वहाँ से चलकर कुछ दिन के बाद नीमच-जावद-निवाहेड़ा में ढूंढियों से मोरचा लगाया, झगड़ा कर श्रावकों से हज़ारों रुपया व्यय कराया, नवाब की कचहरी में झगड़ा पहुंचाया। उस कचहरी के मुसलमानों को सैकड़ों रुपया लुटवाया, उधर ढूंढकों ने भी अपने श्रावकों को चेताया, दोनों तरफ से पक्षबन्धी होने से सरकारी लोगों को आनन्द आया। इस रीति से उस स्थान पर भी राग-द्वेष बढ़ने के अतिरिक्त कुछ धर्म की वृद्धि न हुई; प्रत्युत इनके अतिरिक्त और वेषधारियों को भी रोटी मिलनी बन्द हो गई। फिर जावरे में भी नीवाड़े से अधिक झगड़ा उठा। और हजारों रुपये लोगों के खर्च होकर राग-द्वेष बन्धे, सिवाय लड़ने भिड़ने के धर्म का लेश न पाया, नवीन पुस्तकें बनाईं और छापे में छपवा कर, अपने रागी श्रावकों को देकर उलटा विरोध मचाया।

रतलाम में पहिले शान्तिविजयजी श्री आत्मारामजी के समुदाय में थे। परन्तु इनका आचरण ठीक न होने से श्री आत्मारामजीने अपने समुदाय से निकाल दिया। परन्तु इस जैन मत में ओसवाल पोरवा-लादि जाति-कुल के जैनी अभिमान से भरे हुए द्वेष-राग में फंसकर चाहें जिसको मान बैठें और धर्म के हानि-लाभ को न देखें। इस कारण से शान्तिविजयजी अलग विचरने लगे, और अपनी दुकान जमाने लगे, व्याकरणादि को पढ़कर ज्योतिष् को सीखकर लोगोंको, बिना चमत्कार, चमत्कार में फंसाने लगे, गुरु-गमके बिना स्वरोदय पुस्तक बांचकर स्वरोदय भी बताने लगे। उधर श्री आत्मारामजी को भी धमकाने लगे, विद्वत्ताके अभिमान में चढ़कर लोगोंको गाली गुता भी देने लगे, और कहने लगे कि, जैन मतका रहस्य मैं जानता हूँ।

जब श्री आत्मारामजी उनकी धमकी में न आए, उस समय 'चर्चा

चन्द्रोदय' पुस्तक बना कर उसमें श्री आत्मारामजी की और उनके समुदायवालों की ऐसी निन्दा लिखी है, कि जिसको हम नहीं लिख सकते, बल्कि 'चेतनराघव' इस नाम का नाटक बनाकर भी उसमें छपाया है, तथा उसमें एक अष्टक भी छपाया है, उस अष्टक में यह मतलब दिखाया है, कि शान्ति विना शान्ति न होगी, सो उस पुस्तक से देखो। यह पुस्तक "फरुखनगर विलोंच जिला गुरुगाम, पण्डित जीयालाल जैनी" के यंत्रालय में छपी है। वही शान्तिविजय जी रतलाम में ठहरे थे। इधर से उत्कृष्ट आत्मार्थी राजेन्द्रसूरिजी भी पहुंचे। उन दोनों मनुष्योंका विवाद हुआ और खूब झगड़ा चला, तथा खूब रागद्वेष बढ़ा, क्योंकि पूर्व की तरफ़ एक कहावत प्रसिद्ध है "धोवन से क्या तेलन घाट, वाके मोगरा वाके लाट"। अब दोनों विद्वान् चढ़े, अभिमान करने लगे। आपस की खेंचातानी में दोनों तरफ के गृहस्थों के चढ़ा दीनी पान, वीतराग के धर्म का कुछ न रखा ज्ञान। इस रीति से विरोध मचाया, कि राज्य में झगड़ा प्रविष्ट हुआ। और दोनों ओर के लोगों को राज्य के कारवारी दबाने लगे। अन्त में राज्य वालोंने ऐसी आज्ञा दी कि जो कोई मन्दिर-आम्नायका साधु तीन-थुई-चारथुई वाला विना सरकार की आज्ञा से आवे तो ठहरने न पावे, राज्यकी आज्ञा हो तो ठहरे। यह आज्ञा राज्य वालोंने गृहस्थियोंको सुनाई कि जो कोई तुम्हारा साधु आवे तो हमको सूचना दो। यदि आज्ञा के विना ठहराओगे तो अच्छा न होगा।

चौमासे (चतुर्मास) के बाद दोनों जन विहार कर गए। थोड़े दिनके अनन्तर राजेन्द्रसूरिजी इधर उधर घूम कर फिर रतलाम आए। उस समय दिन थोडा था। सो श्रावकोंने लाकर राज्यमें सूचना दिए विना ही उपाश्रय में ठहरा लिया। और प्रातःकाल को उनके श्रावक राज्य में गए, और कारवारी (अधिकारी) से कहा कि हमारे साधु जी आए हैं। उसने पूछा कब आये हैं? और कहाँ ठहरे हैं? तब श्रावक कहने लगे, कि कल सायंकाल को आए थे, और उपाश्रय में

रहे हैं। इतना सुनकर अधिकारीने सिपाही को हुक्म दिया, कि वहाँ जाकर उनको अभी नगर से बाहर कर दो और श्रावकों से कहा, कि तुमने अर्जी (प्रार्थनापत्र) क्यों नहीं दी? उधर सिपाहियोंने राजेन्द्रसूरि जी से कहा, कि सरकार की आज्ञा नहीं है, तुम इसी समय यहाँ से चले जाओ। राजेन्द्रसूरिजी सुनकर उसी समय नगर के बाहिर चले गये। बाहिर से उनके साधु नगर में आहार लेनेके वास्ते गए, और लाकर बाहर ही आहार किया। इधर श्रावक लोग अर्जी देकर नगर में आनेकी आज्ञा लाए, और राजेन्द्रसूरिजी से कहने लगे कि अब आप बस्ती में पधारो, परन्तु राजेन्द्रसूरिजी रतलाम में न गये। बाहिर विहार कर जावरे, मन्दसोर, नीमच, आदि में होकर मारवाड़ को चले गये। और नीमच, छावनी की परूपनाका हाल इसी ग्रन्थ में निक्षेपा के वर्णन में पहले लिखाया है; सो वहाँ से देखो।

इनकी रीति, इन उत्कृष्ट आत्मार्थी विद्वानोंका हाल, किञ्चित् पाठकगण को सुनाया। सो इस हाल को पाठकगण पक्षपात को छोडकर विवेक-सहित बुद्धि से विचार करें, कि जिन पुरुषों को ऊपर लिखी बातों पर प्रवृत्ति और आस्था है, उन पुरुषों के लिये इस योगाभ्यास मे प्रवृत्ति क्योंकर बने? उनकी तो चित्तवृत्ति ऊपर लिखी बातों ही मे ठने। किसीने यह ठीक ही कहा है :—

"जैसे को तैसा मिले, मिले नीच में नीच।
पानी में पानी मिले, मिले कीच में कीच॥"

जैन-लिङ्ग-विरुद्ध अर्थात् मुख बान्धने वाले ढूंढियों ने भी इ ओसवाल-पोरवालादि जाति कुलके जैनियों को अपने जाल में ऐसा फंसाया है, कि ढूंढियों के अतिरिक्त और किसी को आहार पानी भ न देना, और उन लोगोंमें वे ढूंढिये ऐसे उत्कृष्ट आत्मार्थी बनते हैं कि मान चौथे आरे की वानगी, परन्तु उन ढूंढिया लोगों को पूरा अक्षर-उच्चारण करना भी नहीं आता, बल्कि उनको पूरे सूत्रों की खबर नहीं कि, इसका क्या अर्थ होता है। जो ऐसे प्र

मनुष्य हैं, उन्हींको उनके जालमें फँसे हुए श्रावक लोग बहुत उत्कृष्ट मानते हैं। और जो कोई ढूँढ़िया व्याकरणादि को पढ़कर टीकादि बांचे उसको तो उनके ढाल, चौपाई, दोहा, गीतादि गानेवाले लोग, पासत्था (शिथिल) बताते हैं। क्योंकि वे टीका बांचने वाले ढूंढिया मूर्तिका निषेध नहीं करते, ओर लघुनीति (पेशाब) आदि से गुदा भी नहीं धोते हैं। इसलिये वे टीका वाँचनेवाले पासत्थे कहे जाते हैं। और जो उत्कृष्ट नाम से प्रसिद्ध हैं,वे विशेष करके प्रतिमा से द्वेष करते हैं। और श्रावकों को ऐसा सिखाते हैं, कि वे गृहस्थी लड़ाई के अतिरिक्त शान्ति की बात करे ही नहीं। इस रीति से ढूंढिया लोग इतने क्रोधी होते हैं कि यदि आपस में ही किसी बात की खींचातानी हो जाय तो फिर जन्म तक आपस में क्षमित-क्षामना नहीं करते तथा आपस में प्रेम नहीं करते। इस रीति से इन ढूंढिया में बाईस टोला प्रसिद्ध है। इस बाईस टोला में आपस में पृथक् पृथक् आम्नाय, और राग-द्वेष-ईर्ष्या चल रही है। बल्कि जो विशेष उत्कृष्ट माने जाते हैं, वे अपने दृष्टिरागियों को यह सिखा देते हैं कि जो तुम उनके पास जाओगे तो कालीधार डूब जावोगे, और उन लोगों को आहार-पानी का देना भी पाप का हेतु है। इस बात को सुनकर वे श्रावक लोग उसी रीति से प्रवृत्त होते हैं। परन्तु जाति-कुल की अथवा साथी-सम्बन्धी की लज्जा से अपने माने हुए टोले से विपरीत टोला बाला आवे तो रुचि के बिना ऊपर लिखी लज्जासे रोटी देवे, सो बात तो पृथक् रही।

जब बाईस टोले के ढूंढियों में अपने रागियों के बिना आहारादि देने में रुचि नहीं, तब संवेगियों को तो देने की बात ही क्या? बल्कि संवेगी साधुओं से ढूंढिया लोग और उनके श्रावक इतना द्वेष करते हैं, कि जिसके विषय में हम कुछ लिख नहीं सकते।

मेवाड़ और मालवें में इनका इतना जोर है कि संवेगी साधु का विचरना ही कठिन है। क्योंकि अब की साल का मेरा चतुर्मास

जीरण ग्राम में हुआ। वहाँ हुकुमचन्द के टोले के दो ढूंढिये भी थे और चार ढूंढनी अन्य टोला की थीं। सो मेरे साथ में इतना ऊधम मचाया कि मैं कुछ लिख नहीं सकता, परन्तु उस स्थान पर मेरा व्याख्यान सुनने से मन्दिर में आस्था बहुत लोगों को हो गई, बल्कि उस ग्राम में अच्छे ब्राह्मण, अग्रवाल, माहेश्वरी, खण्डेलवाल, आदि उस व्याख्यान में आते थे। इस कारण से उनका ज़ोर न चला। जब उन्होंने नीमच में जो उनके समुदाय के ढूंढियों थे उनके पास सूचना भेजी, तब उन ढुंढियों ने अपने श्रावकों को प्रेरणा कर झगड़ा कराने के वास्ते जीरण भेजा। उन श्राव-कों ने कुछ रुपया खर्च करके तहसील से आज्ञा ली और जीरण में आए। वहाँ आकर थानेदार को परवाना दिया। तब थानेदार ने हुक्म को पढ़ कर कहा कि आप लोग परवाना क्यों लाये हो? इस जगह कुछ झगड़ा तो नहीं है। उस समय वे श्रावक लोग कहने लगे कि संवेगी का व्याख्यान बन्द कर दो। तब थानेदार कहने लगा:— संवेगी जीका व्याख्यान हम बन्द नहीं कर सकते, क्योंकि धर्म का मामला है, दूसरा, संवेगी जी किसी को बुरा भला नहीं कहते हैं, बल्कि जो इस ग्राम में अच्छे २ मनुष्य हैं, वे सब उनके पास जाते हैं, और धर्म सुनते हैं, तुमको ऐसा किसने बहका दिया? यह सुनकर वे चुप हो गये। फिर इस बात का शोर सब ग्राम में मच गया, और जैनी वैष्णव सबको जोश आया। उस समय मैंने विचार किया, कि झगड़ा होने वाला मालूम होता है, तब जो जैनी वैष्णवों में अच्छे अच्छे लोग थे उनको बुलवाकर मैंने कहा, कि मेरी आप लोगों से यह प्रार्थना है कि जैसा ढूंढियों के गृहस्थी करते हैं वैसा आप लोगों को न करना चाहिये, क्योंकि वीतराग का धर्म द्वेषका मिटाना, और क्षमा का करना है, यही आत्मार्थियों का काम है। इस लिये मुझको क्षमा-प्रदान करें। हाँ, उन लोगों की यह ज़बर्दस्ती है, तो भी आप लोगोंने जैसी आगे से गम खाई है, वैसे ही खाना ठीक है। जो

आप लोग ऐसा न करोगे तो और वेषधारियोंकी तरह मेरी भी निन्दा होगी। इतना सुनकर वे लोग किसी से भी न बोले। और इसकी विशेष हकीकत के लिये मेरे बनाए हुए "कुमत उच्छेदन भास्कर" को भूमिका, जो नाथूराम वैरागी ने बनाई है, उसको देखो। "जैन लिङ्ग निर्णय" नामक ग्रन्थ जीरण ग्राम में ही बनाया है, मुख-पत्ति हाथ में रखना सिद्ध कराया है, आत्मार्थियों को समझाया है।

इसलिये ऊपर लिखे के अनुसार उत्कृष्ट वेषधारी क्योंकर इस योग को बतावे? बिना संवेदन के मेहनत क्योंकर उठावे? इस योगाभ्यास को वही अङ्गीकार करेगा कि जिसको अपनी आत्मा का कल्याण करना है। यदि इस योगाभ्यास में वेषधारियोंकी प्रवृत्ति होती, तो इस वीतराग सर्वज्ञ देवके मार्गमें चलनी की तरह व्यवस्था क्यों हो जाती?

जो तुमने शास्त्र का प्रमाण मांगा, उसको भी सुनो कि समवा-यांग जी में योग-धारण की विधि में ऐसा लिखा है, कि अमुक आसन, अमुक मुद्रा से अमुक तारे को रात्रि में देखे। जो पुरुष समावायाङ्ग जीका योग धारण करता है, उसके लिये काय-क्लेश तप में भी आस-नादि कहे हैं और शरीर की नाड़ी (नस) का भेद "तन्दुल वेयालिया" में कहा है। और कुंभक, पूरक, रेचकादि का अधिकारी "गुण स्थान क्रमारोह"में आठवें गुण-स्थान वालेको कहा है। श्री हरिभद्रसूरिजी की बनाई हुई योगवीसी—अथवा योगदृष्टि समुच्चय ग्रन्थोंमें योगका ही वर्णन है। श्री हेमाचार्य ने कुमारपाल राजा को योगशास्त्र का उपदेश दिया है। उसकी स्वोपज्ञ टीका में विशेष विस्तार है। श्री आनन्दघन जी महाराज भी स्तवनादि में योग-प्रक्रिया दिखा गये हैं। श्री यशोविजय जी उपाध्याय कृत "योगदृष्टि" में भी दृष्टियों का वर्णन किया है।

इस रीति से अनेक ग्रन्थों में योग की प्रक्रिया का वर्णन है और अनेक आचार्यों ने ऐसा विचारा है कि वह दिन मुझको कब मिलेगा, कि मेरी समाधि में मृगपति आकर मेरे मुख को चूमे। ऐसा अनेक

आत्मार्थियों ने मनोरथ किया, और इस ध्यान-समाधि को लगाया, मुक्ति पद को पाया, तीर्थंकर देवोंने फरमाया, इसीलिये हमने भी सज्जन पाठकगण को सुनाया, अब हमारा चित्त ग्रन्थ समाप्त करने को आया, अन्त मङ्गल के वास्ते चित्त हुलसाया, ग्रन्थ समाप्त होने से हमने सद्गुरु को शीश नमाया, उनकी चरण-कृपा से ऊपर का लेख लिखाया, चिदानन्द मगनरूप आनन्द पाया।

दोहा।

श्री वर्द्धमान शासनपति, पूरी मो मन आस।
ग्रन्थ कियो मन रङ्ग सों, अनुभव कियो प्रकाश ॥१॥
शासनपति के पाटधर, सुधर्म स्वामि गुणवान।
परम्परा तस जानजो, कोटिक गण परमान ॥२॥
उत्तम कुल श्री चन्द्र मे, शाखा वज्र सुजान।
भयो बिरुद खरतर सही, जिन आज्ञा धरि आन ॥३॥
या कुल में मैं ऊपजा, चिदानन्द मुझ नाम।
जिन आज्ञा शिर पर धरूँ, सदा रहूं निष्काम ॥४॥
बाणेन्द्रिय निधि इन्दु को, कविजन लीजो जान।
संवत् विक्रम को कहा, वाम गती पहिचान ॥५॥
माघ वदी शुभ अष्टमी, भृगु वासर है वार।
जावद नगर मझार में, कियो ग्रन्थ उपकार ॥६॥
पक्षपात जिसमें तजी, तजियो सभी सुजान।
मिले रहस्य या ग्रन्थको, यह शिक्षा लो मान ॥७॥
वढ़ो ग्रन्थ या जगत में, बड़ शाखा विस्तार।
शशी भानु जबतक रहे, तबतक ग्रन्थ प्रचार ॥८॥
कहन सुनन को कुछ नहीं, करो योग-अभ्यास।
भांड चेष्टा करत है, चिदानन्द जिन-दास ॥९॥
रुचि सहित पढ़े ग्रन्थ को, कटे सभी जञ्जाल।

आतम अनुभव सो मिले, होवे आप निहाल ॥१०॥

शुद्ध कथक श्रोता रुची, मिलियो यह संयोग ।

फिर पुरुषारथ जो करे, मिले आतमा भोग ॥११॥

इति श्रीमज्जैनाचार्य्य-श्रीचिदानन्दस्वामि-विरचितोऽध्यात्मा-
नुभवयोगप्रकाशग्रन्थः समाप्तः ॥
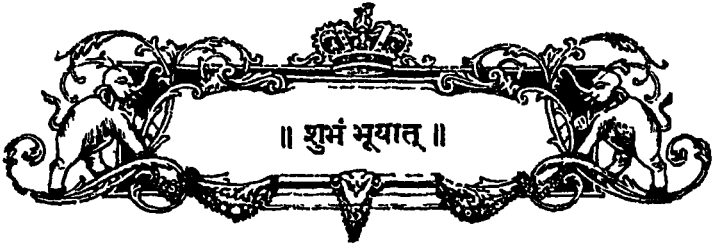
छपता है !　　छपता है !!　　छपता है !!!

प्राकृत भाषाका कोष ।

जिसकी वर्षों से जैन-समाज तथा प्राकृत-भाषा के प्रेमि-गण अति-उत्कंठासे प्रतीक्षा कर रहे थे, वही प्राकृत-भाषाका सुन्दर और महान् कोष, कई वर्षों के लगातार भारी परिश्रम और द्रव्य-व्यय से तय्यार होकर प्रेस में छप रहा है ।

इस ग्रन्थ में जैन आगमों के अतिरिक्त प्रसिद्ध नाटकों एवं प्राकृत भाषाके कई महाकाव्यों जैसे—द्व्याश्रय, गौडवध, सेतुबन्ध, सुरसुन्दरी-चरिअ, सुपासनाहचरिअ वगैरः से, तथा उपदेश-पद आदि प्राकृत-साहित्य के अनेक दुर्लभ और महान् ग्रन्थों से भी शब्द लिये गये हैं ।

इस कोष की रचना नवीन पद्धति के अनुसार की गई है। अकारादि क्रमसे प्राकृत शब्दों का संस्कृत और हिन्दी में अर्थ सुचारु रूप से लिखा गया है, एवं जो शब्द जहां से लिया गया है उस ग्रन्थ के नाम और स्थान का भी उल्लेख प्रत्येक शब्द में किया गया है ।

इस महान् ग्रन्थको पूर्ण छपाकर प्रसिद्ध करने में बहुत द्रव्य की आवश्यकता है । प्रार्थना करने पर कई उदार महानुभावों ने कुछ कुछ सहायता के वचन भी दिये हैं, लेकिन अभी तक जो सहायता मिली है उससे कार्य चल नहीं सकता । इससे समग्र जैन बन्धुओं तथा प्राकृत के प्रेमी-जनों से सानुरोध प्रार्थना की जाती है कि वे इस पवित्र एवं समयोचित कार्य के लिये हमें द्रव्य की सहायता करें, ताकि इसकी पूर्णतया छपने में और प्रसिद्ध होनेमें व्यर्थ विलम्ब न हो ।

जो महाशय सहायता करने को चाहें वे सहायता की रकम नीचे के पते पर भेज देनेकी कृपा करें। प्रकट होने तक जिन महाशयोंकी तर्फ से सहायता मिलेगी, उनकी सेवा में द्र रु० २५) में इस ग्रन्थ की एक कापी, ग्रन्थ छप जाने पर, तुरन्त भेजी जायगी।

और, जिन महाशयोंकी अभीसे सहायता करने की सामर्थ्य या इच्छा न हो, किन्तु छपने पर इस ग्रन्थको मगाने की इच्छा हो, उनको चाहिये कि वे अभी से ग्राहक-श्रेणी मे अपना नाम लिखाने के लिये हर एक कापीके लिये ऐडवासके तौर पर पाँच रुपये नीचेके पते पर भेज दें, जिससे उन लोगों को भी २५) में एक कापी दी जायगी। ग्रन्थ प्रसिद्ध होने के वाद ग्राहक होने वालों के लिये इस ग्रन्थ की कीमत ३५) पड़ेगी।

पता——

बाबू भैरवदानजी अमीचन्दजी गोलछा,

२०१, हरिसनरोड, कलकत्ता।

श्रीमद्-अभयदेवसूरि-ग्रन्थमाला।

तय्यार पुस्तकें।

पुस्तकों के नाम।

		मूल्य
१	नित्यस्मरण-पाठमाला (द्वितीयावृत्ति)	अमूल्य
	शुद्धदेव अनुभव विचार (हिन्दी)	”
	द्रव्यानुभव-रत्नाकर (”)	२॥)
	जिनदर्शन-पूजन-सामयिक विधि प्रकाश (”)	।≈)
	आगम-सार का हिन्दी अनुवाद (द्वितीयावृत्ति)	॥≈)
	राइय-देवसिय-प्रतिक्रमण सूत्र	।≈)
७	अध्यात्म-अनुभव-योग-प्रकाश	३॥)

छपेंगी।

सांवत्सरिक-प्रतिक्रमण सूत्र।

खरतर गच्छ पंच प्रतिक्रमण सूत्र अर्थ सहित।

प्राचीन-स्तोत्र-रत्नमाला (इसमें प्राचीन विख्यात आचार्यों के बताये हुए कई अद्भुत स्तोत्र रत्नों का समावेश है।

अन्य पुस्तकें।

१—स्याद्वादानुभव रत्नाकर। १॥)

२—पर्यूषणा-निर्णय। अमूल्य

मिलने का पता—

१—श्रीमद्-अभयदेवसूरि-ग्रन्थमाला,
बड़ा उपाश्रय, बीकानेर (राजपूताना)

२—बाबू भैरवदानजी अमीचन्दजी गुलेछा,
२०१, हरिसनरोड, कलकत्ता।